स्वामी विवेकानन्द का भारत

स्वामी विवेकानन्द का भारत

दो दशकों से साहित्य, कला एवं संस्कृति के प्रति समर्पित

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास

स्वामी विवेकानन्द का भारत

प्रधान संपादक
डॉ. रतन कुमार पाण्डेय

प्रबंध संपादक
नीरज कुमार

संपादक
विक्रम आनन्द
श्याम किशोर सहाय

संपादन सहयोग
परीक्षित नारायण 'सुरेश'
नरेन्द्र कुमार शर्मा
राजेश कुमार माँझी

आवरण
भूपेन्द्र सिंह चाहर
रामबाबू कुमार

सहयोग राशि रु. 251/-

प्रकाशक
राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास
206, द्वितीय तल, विराट भवन, कॉमर्शियल कॉम्प्लेक्स
डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली - 110009

मैं अब पूरे भारत की यात्रा कर चुका हूं। किन्तु हाय! बन्धुओं, अपने नेत्रों से जनसाधारण की दरिद्रता और घोर विपदा देखना सचमुच पीड़ादायी है। मैं अपने आंसुओं को रोक नहीं पाया।

-स्वामी विवेकानन्द

संपादकीय

स्वामी विवेकानन्द का पुण्य स्मरण ऐसे महामानव का स्मरण है, जिसने भारत की सांस्कृतिक विरासत से समूची दुनिया को परिचित कराया। वे भारत की अध्यात्म-विद्या और दर्शन को विश्वव्यापी स्तर पर पहुँचाना चाहते थे। उनके विदेश प्रवास के बाद भारत की ओर दुनिया ने अपना ध्यान केंद्रित किया। उनका चिंतन-मनन-दर्शन आज भी उतना प्रासंगिक है, जितना उनके काल में था। समकालीन परिदृश्य में उनके चिंतन दृष्टि की इस समाज को अत्यधिक जरूरत है। आज जो श्रीहीन-सा भारत नजर आता है, उसके पीछे सबसे बड़ा कारण यही है कि हम अपनों को भूल चुके हैं। हम स्वामी विवेकानन्द को भूल चुके हैं, हम स्वामी सहजानंद सरस्वती को भूल चुके हैं। एक वाक्य में कहें तो हम लोग अपने गौरवशाली अतीत को भूलते जा रहे हैं। ऐसे समय में जब स्वामी विवेकानन्द की स्मृति में भारतीय शिक्षा-संस्कृति महोत्सव का आयोजन किया जा रहा है, तब हमें उनका पुनीत स्मरण कर उनके रास्ते पर चलने का संकल्प लेना होगा, वरना जिस सांस्कृतिक-आध्यात्मिक भारत और मनुष्य की बात स्वामी जी किया करते थे, वह मनुष्य विलुप्त-सा प्राणी हो जाएगा। आज अपना भारत इंडिया बनता जा रहा है। गाँव से, गाय से, किसानी से खेत-खलिहान से, कास्तकारी से यानी अपनी जड़ों से मोहभंग होता जा रहा है। आज विश्व के राष्ट्रों में परस्पर भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्र बनाने की होड़ है, भौतिकता के ऐश्वर्य के उपभोग में अधिकाधिक मात्रा में डूबने की होड़ है। इस होड़ के साथ ही अब लोगों के मन में इस विचार का भी उदय होने लगा है कि अरे, हम कहाँ जा रहे हैं? न तो लोग सुख की नींद ले पाते हैं, न उन्हें किसी प्रकार का चैन है। बेचैनी से चौबीसों घण्टे इधर-उधर दौड़ते हैं। दवाई ले-लेकर उन्हें अपने दिमाग को ठिकाने रखना पड़ता है। यह सब करने के उपरांत भी उन्हें कोई मार्ग नहीं सूझ रहा है? इस प्रश्न के उत्तर में उस महापुरुष की गर्जना स्मरण हो आती है। जिसने यह बताया कि हमारे लिये एक महान् मार्ग है - योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग है। और आज इन मार्गों की अनुभूति दूसरे देशों में धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है, जबकि यह देश धर्म-कर्म, अध्यात्म-दर्शन का देश है। जहाँ गाय को हम माँ मान कर पूजते रहे हैं। जहाँ नदियाँ, पर्वत, पेड़ और समूचा पर्यावरण ही पूजनीय है। हम इन सबको नष्ट करके विकास की अंधी दौड़ में शरीक हो कर अंततः विनाश की ओर ही बढ़ रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द जी जब अमेरिका से वापस आए तो उन्होंने कहा था नया भारत निकल पड़ा है। मोची की दुकान से, भड़भूँजे की भाड़ से, हाट से, बाजार से, कारखाने से, निकल पड़ा झाड़ियों से, जंगलों, पहाड़ों, पर्वतों से। विवेकानन्द जी के इस कथन का आशय यही था कि भारत अपनी जड़ों से जुड़ कर नया बने, आधुनिक बने, मगर आज क्या हो रहा है? नया भारत अपनी जड़ों से बुरी तरह से कट चुका है। उसे पश्चिम ज्यादा आकर्षित करता है। विदेशी सामान उसे लुभाते हैं। अपने गांव-गवई की चीजें उसे बेकार लगती हैं। स्वदेशी उसके लिए उपहास का विषय है। विवेकानन्द जी के चिंतन को गांधी जी ने समझा था और उनके चिंतन में विवेकानन्द का भारत झाँकता था। लेकिन अब उस भारत की तलाश हम इस नये भारत में करने की विफल कोशिश कर रहे हैं।

ऐसे संक्रमण काल में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास के द्वारा स्वामी विवेकानन्द जी की स्मृति के सुअवसर पर 24, 25 एवं 26 जुलाई 2014 को तीन दिवसीय भारतीय शिक्षा-संस्कृति महोत्सव का आयोजन किया जा रहा है। इस दौरान न्यास स्वामी विवेकानन्द, स्वामी सहजानंद, गाय और गंगा आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श कर के लोक चेतना की दिशा में एक कदम बढ़ाने की कोशिश करेगा। भारत रत्न मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जैसे राष्ट्रभक्त के जीवन पर आधारित नाटक का मंचन किया जाएगा, जिसे देखकर हम समझ सकेंगे कि एक महान राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता इस भारत भूमि के महत्व को किस खुबसूरती के साथ रेखांकित करते हैं। न्यास विगत दो दशकों से सम्पूर्ण भारतवर्ष में रवीन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी सहजानंद जैसे महापुरूषों के जीवनवृत पर महत्वपूर्ण आयोजन करता रहा है, और इन सबका उद्देश्य सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण है। इसी वर्ष फरवरी-मार्च में नालंदा में ग्यारह दिवसीय पुस्तक मेले का आयोजन न्यास ने किया, जो स्वामी सहजानंद को समर्पित था। पुस्तक मेले के साथ किसान मेला और विभिन्न विषयों पर संगोष्ठियों का आयोजन भी प्रतिदिन किया जाता रहा, जिसका उद्देश्य यही याद दिलाना था कि वह नालंदा जो कभी विश्वगुरू तैयार करता था, जहाँ दुनिया के अनेक देशों के शिक्षार्थी अध्ययन के लिए आया करते थे, अब अस्तित्वहीन क्यों हो गया है? नालंदा के ग्यारह दिवसीय आयोजन के दौरान पुस्तक संस्कृति और किसानों की स्थिति पर स्थानीय और बाहर से आए विद्वानों के विचारों को लोगों ने मनोयोग से सुना और जीवन में खेती-किसानी और पुस्तक संस्कृति के महत्व को अंगीकार किया। पुस्तक मेले के दौरान मुंशी प्रेमचंद की कहानियों का अभूतपूर्व मंचन भी किया गया इससे वहाँ के लोगों को रंग-संस्कार भी मिले। प्रेमचंद की कहानियों में भारत की आत्मा वास करती है। अब जरूरत है साक्षर मगर सुशिक्षित भारत की। स्वामी जी कहते थे कि "शिक्षा जानकारी का नाम नहीं है जो हमारे दिमाग में ठूँस दी जाती है। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का उत्कर्ष, आचरण का सुधार और पुरूषार्थ तथा आत्मबल का विकास है।" मगर आज हो क्या रहा है? जो शिक्षा दी जा रही है वह अक्षुण्ण भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं का लोप करा रही है। अब लोग शिक्षित हो रहे हैं, सुशिक्षित नहीं। यही कारण है कि पढ़े-लिखे लोग तरह-तरह के अपराधों में संलिप्त पाए जा रहे हैं। इन सब को देखते हुए यह चिंता स्वाभाविक है कि हम कैसे भारत के निर्माण की ओर बढ़ रहे हैं?

न्यास ग्रामीण समाज के उत्थान हेतु कृतसंकल्प है। गांवों में खेती-किसानी को प्रोत्साहित किया जाए, गौ पालन बढ़े और मधुशाला नहीं गौशाला चाहिए एवं मदिरालय नहीं, पुस्तकालय चाहिए जैसे अभियानों पर जोर दिया जाए। स्वामी विवेकानन्द जहाँ मनुष्य के सांस्कृतिक उन्नयन को लेकर चिंतित रहते थे, वहीं स्वामी सहजानंद जी किसान में भगवान का वास देखते थे और सर्वहारा के बेहतर जीवन के लिए संघर्ष करते थे। न्यास इस स्वामीद्वय की भावनाओं के अनुरूप भारत में नये सिरे से कार्य करना चाहता है। हमारा लक्ष्य ही यही है। इसीलिए दिल्ली में तीन दिवसीय आयोजन किया जा रहा है ताकि इसका संदेश विश्वव्यापी हो और जागरण अनवरत जारी रहे।

न्यास द्वारा आयोजित दिल्ली के तीन दिवसीय कार्यक्रम के अवसर पर विमोचित स्वामी विवेकानन्द जी पर केंद्रित स्मारिका का उद्देश्य यही है कि सुधी पाठक स्वामी जी के अवदान से परिचित हों। स्वामी जी भले ही हिंदू संन्यासी थे, मगर वे संपूर्ण मानवजाति के उद्धारक थे। इसीलिए वे कहते थे- हिंदुओं का ब्रह्म, जोरस्तरों का अहुरमजदा, बौद्धों का बुद्ध, आपको शक्ति दें।.....धार्मिकता, पवित्रता और उदारता किसी एक पंथ का विशेषाधिकार नहीं है। स्वामी जी का चिंतन मनुष्य को निरंतर बेहतर बनाने का लक्ष्य लेकर चला करता है। स्मारिका में संग्रहित लेखों के लिए लेखकों और पत्रिकाओं का आभार। मुझे पूरा विश्वास है कि न्यास के शुभचिंतक तीन दिवसीय आयोजन से जुड़कर न्यास की विभिन्न परिकल्पनाओं एवं अभियानों को शक्ति प्रदान करेंगे और सांस्कृतिक भारत के निर्माण के लिये जाग्रत होंगे।

24 जुलाई 2014

डॉ. रतन कुमार पाण्डेय
विक्रम आनन्द

उठो, जागो और तब तक मत रुको,
जब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर लो।

– ***स्वामी विवेकानन्द***

अनुक्रम

	संपादकीय	4–5
1.	**धर्म के जीते जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण** –राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'	11–18
2.	**स्वामी विवेकानन्द : एक जीवनझाँकी** –मुंशी प्रेमचन्द	19–26
3.	**स्वामीजी के सन्देश की प्रासंगिकता** –आचार्य पं॰ विष्णुकान्त शास्त्री	27–32
4.	**वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्द और भारत** –पं॰ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	33–35
5.	**सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के जनक–विवेकानन्द** –रमेश नैयर	37–39
6.	**श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द की भारत को देन** –मा॰ स॰ गोलवलकर	40–46
7.	**स्वामी विवेकानन्द का सन्देश** –विष्णु प्रभाकर	47–49
8.	**स्वामी विवेकानन्द और शिक्षा** –श्रीमती चन्द्रकुमारी हण्डू	50–53
9.	**आधुनिक भारत के प्रथम निर्माता–स्वामी विवेकानन्द** –शान्ता कुमार	54–55
10.	**दलितों और वंचितों के हमदर्द: स्वामी विवेकानन्द** –नागेश्वर सिंह	56–59
11.	**स्वामी विवेकानन्द : भारतीय नवजागरण का उल्लास** –कृष्णदत्त पालीवाल	60–67
12.	**स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित मनुष्य-निर्मात्री शिक्षा** –डॉ॰ राजलक्ष्मी वर्मा	68–71

13. **विवेकानंदत्वः वेदांत आधारित जीवन व मूल्य** 72-75
–बृजकिशोर कुठियाला

14. **आधुनिक बुद्ध–विवेकानन्द** 76-80
–स्वामी मुख्यानन्द

15. **एक महान् पश्चिम यात्रा और सर्वधर्म सम्मेलन** 81-84
–रोमाँ रोलाँ

16. **विवेकानन्द–एक अद्भुत जीवन** 85-88
–लक्ष्मीनिवास झुंझुनवाला

17. **खेतड़ी नरेश और विवेकानन्द** 89-91
–पं॰ झाबरमल्ल शर्मा

18. **पत्र-पत्रिकाओं के प्रवर्तक–स्वामी विवेकानन्द** 92-101
–स्वामी निखिलेश्वरानन्द

19. **नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के प्रेरणापुरुष** 102-116
–स्वामी विदेहात्मानन्द

20. **विवेकानन्द का संदेश और भारत का वर्तमान** 117-118
–अजित कुमार

21. **संगीतनायक विवेकानन्द** 119-120
–पं॰ निखिल घोष

22. **दरिद्रनारायण के उपासक स्वामी विवेकानन्द** 121-123
–महेश चन्द्र शर्मा

23. **नरेन्द्र से विवेकानन्द बनने की कहानी** 124-128
–राम बहादुर राय

24. **स्वामीजी और भारतीय नारी का आदर्श** 129-132
–प्रव्राजिका आत्मप्राणा

25. **विश्व-सभ्यता और स्वामीजी** 133-135
–स्वामी लोकेश्वरानन्द

26. **स्वामी विवेकानन्दः दलितोत्थान के प्रथम मसीहा** 136-141
–कमल किशोर गोयनका

27. **स्वाधीनता के बगैर किसी प्रकार की उन्नति संभव नहीं है।** 142-143
(आलासिंगा पेरुमल आदि मद्रासी शिष्यों को
लिखा स्वामीजी का पत्र)

28. **मनीषियों एवं महापुरुषों की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द** 144-145

29. **जूठी चिलम** 146
– राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'

30. **बाल-प्रश्न** 146
–सुमित्रानन्दन पन्त

31. **चिन्मय भारत की आत्मा - स्वामी विवेकानन्द** 147-150
-डॉ. आनन्द कुमार सिंह

32. **कर्मठ वेदान्त : स्वामी विवेकानन्द** 151-160
-रामधारी सिंह 'दिनकर'

किसी दिन, जब आपके सामने कोई समस्या ना आये
– आप सुनिश्चित हो सकते हैं कि आप गलत मार्ग पर चल रहे हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

धर्म के जीते जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण

–राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'

आर्य-समाज और ब्रह्म-समाज की सीमाएँ

स्वामी दयानन्द से परमहंस रामकृष्ण की भेंट हुई थी। स्वामीजी स्वयं रामकृष्ण के पास नहीं गये थे, परमहंस ही स्वामीजी के कलकत्ता पधारने पर उनसे मिलने आये थे। रामकृष्ण के मन पर इस भेंट का जो प्रभाव पड़ा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है–"दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी-बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्ष-स्थल सदैव आरक्त दिखायी पड़ता था। वे वैखरी अवस्था में थे। रात-दिन लगातार शास्त्रों की ही चर्चा किया करते थे। अपने व्याकरण-ज्ञान के बल पर उन्होंने अनेक शास्त्र-वाक्यों के अर्थ में उलट-फेर कर दिया है। 'मैं ऐसा करूँगा, मैं अपना मत स्थापित करूँगा' ऐसा कहने में उनका अहंकार दिखायी देता है।"

बहुत-से बंगाली ब्रह्मसमाजी विद्वान् परमहंस रामकृष्ण के अनुगत थे। ब्रह्मसमाजियों के सिरमौर केशवचन्द्र सेन तो परमहंसजी के परम भक्तों में से थे। केशवचन्द्र सेन परमहंस रामकृष्ण के आश्रम में अक्सर जाया करते थे और रामकृष्ण भी जब तब केशवचन्द्र सेन के घर या उनके ब्रह्म-मन्दिर में पधार जाते थे। एक बार रामकृष्ण ब्रह्म-मन्दिर में पहुँचे तो वहाँ उपासना चल रही थी। रामकृष्ण ने वहाँ जो कुछ देखा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है–"ईश्वर के ऐश्वर्य का बहुत समय तक वर्णन करके वक्ता महाशय बोले, 'अच्छा, अब आइये, हम सब ईश्वर का ध्यान करें।' मैं समझा, अब ये लोग बहुत समय तक ध्यानस्थ रहेंगे। पर हुआ क्या? दो मिनट में ही उनका ध्यान समाप्त हो गया। इस प्रकार के ध्यान से कहीं ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है? उन लोगों के ध्यान करते समय मैं सभी के चेहरे की ओर देख रहा था और ध्यान समाप्त होने के बाद मैं केशव से बोला–'तुममें से बहुतों को ध्यानावस्थित देखकर मुझे कैसा लगा, बताऊँ? वहाँ दक्षिणेश्वर में कई बार झाऊतल्ला की ओर वानरों का झुण्ड आता है। वे सब वानर कैसे चुपचाप बैठे रहते हैं। देखनेवाले समझते हैं, 'अहा, कितने अच्छे हैं ये! इनको लन्द-फन्द, छलछिद्र, कुछ भी मालूम नहीं है। ये कितने शान्त हैं।' पर, क्या वे सचमुच शान्त रहते हैं? छिः राम का नाम लो। किसके बगीचे में फल लगे हैं, किसकी बाड़ी में ककड़ी और कुम्हड़ा है, कहाँ इमली है, यही सारे विचार उनके मन में चलते रहते हैं। बस, थोड़ी ही देर में एकदम हुप करके कूदते-फाँदते वे क्षणार्द्ध में अदृश्य हो जाते हैं और किसी बगीचे में धड़ाधड़ कूद कर उसका सत्यानाश कर डालते हैं। यहाँ भी मुझे बहुतों का ध्यान वैसा ही दिखायी दिया।"

आर्य-समाज और ब्रह्म-समाज बड़े ही प्रबल सांस्कृतिक आन्दोलन थे। किन्तु, उनकी जो कमजोरियाँ थीं, वे रामकृष्ण परमहंस को ठीक दिखायी पड़ीं। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द बाल-ब्रह्मचारी, निरीह संन्यासी, प्रचण्ड तार्किक और उद्भट विद्वान थे और उनके व्यक्तित्व में बौद्धिकता अत्यन्त प्रमुख थी। ब्रह्म-समाज में तार्किकता अधिक नहीं थी तथा भक्ति और उपासना का भी उसमें अच्छा प्रचार था। किन्तु, ब्रह्म समाजी लोग अपने को जितना भक्ति-विह्वल दिखलना चाहते थे, वस्तुतः, उतनी भक्ति-विह्वलता उनमें थी नहीं। ब्रह्मसमाजियों की भक्ति ज्ञान की नोंक से उठायी हुई चीज थी। उद्देश्य ब्रह्मसमाजियों का सामाजिक सुधार था, किन्तु, अखाड़ा उन्होंने धर्म का चुना था। असल में, ईसाइयों के मुख से अपने धर्म की निन्दा सुनते-सुनते वे लजा गये थे, किन्तु, किसी प्रकार हिन्दुत्व की इज्जत ढँकने के लिए उन्होंने धर्म का एक साधन खड़ा कर लिया था और अपने धर्म पर अचल विश्वास नहीं रहने के कारण वे अधिकाधिक ईसायत की ओर ढुलके जा रहे थे। वस्तुतः, उनका विश्वास हिन्दू-ईसाई का विश्वास था। ऐसे लोगों में भक्ति की आकुलता उत्पन्न कहाँ से होती?

इसके सिवा, इन आन्दोलनों का एक दोष और था। हिन्दुत्व

को निन्दित और आक्रान्त देखकर राममोहन राय, दयानन्द और केशवचन्द्र में यह उत्साह जगा कि हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य किया जाना चाहिए। किन्तु, जब वे रक्षा को तत्पर हुए, तब उन्हें यह दिखायी पड़ा कि हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने के योग्य नहीं है। निदान, ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना, जिसका आख्यान वेदों में मिलता है अर्थात् जिसमें मूर्तिपूजा नहीं है, जिसमें तीर्थ-व्रत-अनुष्ठान और श्राद्ध-पद्धति का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग, नरक, देवी-देवता, कुछ भी नहीं हैं। इसी प्रकार, राममोहन राय ने उपनिषदों का पल्ला थामा और वे अद्वैत को लेकर बैठ गये। किन्तु, हिन्दुत्व इतना ही नहीं है। उसके अन्दर उन समस्त विश्वासों का भी स्थान है, जो अपार हिन्दू-जनता के हृदय में घर किये हुए है। सच पूछिए तो दयानन्द और राममोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की, वह हिन्दुत्व का एक खण्ड मात्र था। यही कारण हुआ कि, यद्यपि, दयानन्द और राममोहन राय ने हिन्दू-विचारों की दिशा में महान् क्रान्ति उपस्थित की, किन्तु, हिन्दू-जनता का अत्यन्त विशाल भाग उनकी ओर उत्साह से नहीं दौड़ा। सच पूछिये तो हिन्दुत्व का इससे अधिक प्रतिनिधित्व श्रीमती एनी बीसेंट ने किया, क्योंकि वे शास्त्र, पुराण, स्मृति और गीता, हिन्दुओं के देवी-देवता और उनके द्वारा पूजित अवतार एवं यज्ञ और परलोक, सब की ओर से एक समान उन्माद से बोल रही थीं। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि जब थियोसोफी और ब्रह्म समाज सिमट कर धनियों और विद्वानों की महफिल में बैठे रहे, तब आर्यसमाज का प्रचार समाज के कुछ विस्तृत क्षेत्रों में भी हुआ। किन्तु, जिसको, सचमुच जनता का मुक्त सहयोग कहते हैं, वह इन तीनों आन्दोलनों में से किसी को भी प्राप्त नहीं हो सका। हिन्दू और थियोसोफ़ी-पंडित ईसाई और मुस्लिम पंडितों से विद्या का विवाद कर रहे थे, किन्तु जनता इस विवाद से रस लेने को तैयार नहीं थी।

भारतवर्ष की परम्परा है कि यहाँ की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। पंडितों का वह सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं हैं। हाँ, कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नहीं खुलता, न मोटी-मोटी पोथियाँ रच देने से धर्म किसी की समझ में आता है। दयानन्द और राममोहन राय तथा एनी बीसेंट के प्रचारों से यह सिद्ध हो गया कि हिन्दू-धर्म निन्दनीय नहीं, वरेण्य हैं, किन्तु जनता तो यह देखना चाहती थी कि धर्म का जीता-जागता रूप कैसा होता है। धर्म का यह जीता-जागता रूप उसे तक दिखायी पड़ा, जब परमहंस रामकृष्ण (1836-1886 ई॰) का आविर्भाव हुआ।

पंडित और सन्त का भेद

दयानन्द, राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन से रामकृष्ण अनेक बातों से भिन्न थे। दयानन्द, भारतीय परम्परा के उद्भट पंडित और ब्रह्मसमाजी नेता अँगरेजी ढंग के विद्वान थे। किन्तु, रामकृष्ण, बहुत-कुछ अपढ़ मनुष्य थे। दयानन्द, राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन मैदान में इसलिए आये थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी। किन्तु, रामकृष्ण को किसी भी धर्म के प्रति कोई आक्रोश नहीं था। दयानन्द, राममोहन और केशवचन्द्र संस्कृति के आन्दोलनकारी नेता थे, किन्तु रामकृष्ण को आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं था। वे अपनी बातें सुनाने को आश्रम से बाहर नहीं गये, न हिन्दुओं से उन्होंने कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है।

पंडित और सन्त में वही भेद होता है जो हृदय और बुद्धि में है। बुद्धि जिसे लाख कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाती, हृदय उसे अचानक देख लेता है। विद्या समुद्र की सतह पर उठती हुई तरंगों का नाम है। किन्तु, अनुभूति समुद्र की अन्तरात्मा में बसती है। अनुभूति का एक कण कई टन ज्ञान से कहीं अधिक मूल्यवान् है। परमहंस रामकृष्ण अनुभूतियों के आगार थे और उनके जीवन को देखकर, एक बार फिर, यह स्पष्ट हो गया कि जिसे अनुभूति प्राप्त हो जाती है, ज्ञान के द्वार उसके सामने स्वयं उन्मुक्त हो जाता है तथा सारी विद्याएँ उसे स्वयमेव उपलब्ध हो जाती हैं।

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों के सामने विचित्र प्रकार की परिस्थिति थी। हिन्दू-धर्म बहुत दिनों से रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जकड़ा चला आ रहा था। किन्तु, अब अँगरेजी शिक्षा के प्रसार एवं ईसाइयों के कुप्रचार से ये रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास स्पष्ट दिखायी पड़ने लगे थे। अँगरेजी भाषा और साहित्य के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध काफी सघन हो चुका था, किन्तु दुर्भाग्यवश तत्कालीन अँगरेजी साहित्य में नास्तिकता के ओजस्वी विचार भरते जा रहे थे एवं उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक अनुसन्धानों के द्वारा जिन आधिभौतिक सिद्धान्तों का पता चला था, उनमें भी यह साहित्य पूर्णरूपेण व्याप्त था। परिणाम इसका यह हुआ कि अँगरेजी भाषा के प्रचार के साथ भारत में भी नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अतएव, भारतीय सुधारकों के सामने एक नहीं तीन शत्रु थे। 1. हिन्दू-धर्म की रूढ़ियाँ एवं अन्धविश्वास, 2. ईसाई मिशनरियों के द्वारा निरन्तर की जाने वाली हिन्दुत्व की निन्दा तथा, 3. अँगरेजी पढ़े-लिखे समाज में नास्तिकता का प्रचार। इन तीन मोर्चों पर लड़ने के लिए जो ढंग और साधन अनिवार्य थे, उनका सन्धान इन सुधारकों ने कर लिया था। किन्तु धर्म, वास्तव में, कैसा होता है, इसका प्रमाण वे नहीं दे सके थे।

फिलासफी नहीं, दर्शन

तर्क और पांडित्य से धर्म प्रमाणित किया भी नहीं जा सकता, ठीक वैसे ही, जैसे तर्क और पांडित्य से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। विशेषत:, हिन्दुत्व का मूलाधार विद्या और ज्ञान नहीं, सीधी अनुभूति है। हमारा धर्म पंडितों का नहीं, संतों और द्रष्टाओं की रचना है। हम फिलासफी को और कुछ नहीं कहकर 'दर्शन' कहते हैं, क्योंकि हमारे दार्शनिक सत्य सोचे या समझे नहीं गये थे, प्रत्युत, ऋषियों ने आत्मा के चक्षु से, उनका दर्शन किया था। वाद-विवाद, तर्क और पांडित्य अथवा बड़े-बड़े सिद्धान्तों और संगठनों से धर्म की सिद्धि नहीं होती। धर्म अनुभूति की वस्तु है और धर्मात्मा भारतवासी उसी को मानते आये हैं, जिसने धर्म के महासत्यों को केवल जाना ही नहीं, उनका अनुभव और साक्षात्कार भी किया है।

रामकृष्ण के आगमन से धर्म की यही अनुभूति प्रत्यक्ष हुई। उन्होंने अपने जीवन से यह बता दिया कि धार्मिक सत्य केवल बौद्धिक अनुमान की वस्तु नहीं हैं, वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय हैं और उनके सामने संसार की सारी तृष्णाएँ, सारे सुख-भोग तृणवत् नगण्य हैं।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का हिन्दू-जागरण केवल ईसायत से हिन्दुत्व की रक्षा के प्रश्न तक सीमित नहीं था, प्रत्युत, भारत के शिक्षित नास्तिकों के प्रसंग में उनका यह भी उद्देश्य था कि धर्म पर से शिक्षितों की हिलती हुई श्रद्धा फिर से स्थिर बनायी जाय। धर्म और ईश्वर के अस्तित्व को लेकर आज भी बड़े-बड़े विवाद चलते हैं। किन्तु, इन विवादों से उभय पक्ष में से एक को भी शान्ति नहीं मिलती। ईश्वरवादी चाहे जितने भी तर्कों का सहारा लें, किन्तु, ईश्वर-सिद्धि के लिए उनके सारे तर्क नगण्य सिद्ध होते हैं और निरीश्वरवादी पंडित भी चाहे जितने तर्क निकाल कर यह सिद्ध करे कि ईश्वर नहीं है, अतएव, धर्म की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए; किन्तु उसके अन्तर्मन में एक विरल शंका बनी ही रह जाती है कि क्या यह सारी सृष्टि आकस्मिक घटना के सिवा और कुछ नहीं है? पश्चिम के एक अभिनव विचारक ने ठीक ही कहा है कि, 'ईश्वर की परिभाषाएँ लुप्त होती जा रही हैं, मूर्तियाँ डगमगा रही हैं और प्रतीक टूट कर बिखरते जा रहे हैं।, किन्तु तब भी मनुष्य का अगोचर अस्तित्व बराबर अभरना चाहता है, वह बराबर किसी अतल गहराई में से बाहर आने को बेचैन है। एक अन्य चिन्तक ने भी कहा है कि "तीन कारणों से मैं नास्तिक नहीं हूँ। पहला कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकता का सिद्धान्त अनुर्वर और रूढ़िग्रस्त होता है। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकों का दृष्टिकोण पूर्णरूप से नकारात्मक होता है। और तीसरा कारण यह है कि नास्तिकता किसी भी धर्म का उद्घाटन नहीं कर सकती। किन्तु, सृष्टि का तकाजा है कि इसके रहस्यों का उद्घाटन किया जाय।"

सृष्टि के रहस्य बुद्धि से उद्घाटित नहीं होते। इसके लिए एक विचित्र प्रकार की शक्ति अपेक्षित होती है जो पंडित नहीं, सन्त के साथ आती है। सहानुभूति ज्ञान से अधिक शक्तिशालिनी वस्तु है। विज्ञान की छड़ी ने सृष्टि के रन्ध्र-रन्ध्र में प्रवेश करके मनुष्य को यह बता दिया है कि अब कहीं भी कोई तत्त्व अविश्लिष्ट नहीं है। फिर भी, एमर्सन की यह अनुभूति जब कानों में पड़ती है कि "प्रकृति का पर्दा अत्यन्त झीना और महीन है। सर्वत्र विद्यमान प्रभु की सत्ता इस पर्दे के तार-तार से झाँक रही है। अरे मेरे भाईयो! ईश्वर का अस्तित्व है। प्रकृति के केन्द्र में एक आत्मा बसती है; मनुष्य की इच्छा के ऊपर एक देवता का वास है। आत्मा के प्रत्येक कार्य में ईश्वर और मनुष्य का मिलन हो रहा है।" तब भावुक मनुष्य अगोचर अस्तित्व के इस आभास से चौंके बिना नहीं रहता।

पन्थ नहीं अनुभूति

जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रश्न पर लड़ रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नहीं, तब परमहंस रामकृष्ण ने सभी धर्मों के मूल-तत्त्व को अपने जीवन में साकार करके, मानों सारे विश्व को यह सन्देश किया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जाने वाले अनेक मार्ग हैं। और परमहंस का जो उपदेश था, उसे उन्होंने जीवन में उतारा। उन्होंने हिन्दुत्व के सभी मार्गों की साधना की। यही नहीं, वे कुछ दिन सच्चे मुसलमान बनकर इस्लाम की भी साधना करते रहे और कुछ काल तक उन्होंने ईसायत का भी अभ्यास किया था। भारतवर्ष की धार्मिक समस्या का जो समाधान रामकृष्ण ने दिया है, उससे बड़ा और अधिक उपयोगी समाधान और कोई हो नहीं सकता। क्रम-क्रम से, वैष्णव, शैव, शाक्त, तान्त्रिक, अद्वैतवादी, मुसलमान और ईसाई बनकर परमहंस रामकृष्ण ने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्मों के बाहरी रूप तो केवल बाहरी रूप हैं। उनसे मूल तत्त्व में कोई फर्क नहीं पड़ता है। साधन और मार्ग अनेक हैं। उनमें से मनुष्य किसी को भी चुन सकता है। शान्ति मार्ग से नहीं, अनुभूति से मिलती है। जब तक तुम अनुभूति की ऊँचाई पर हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

धर्म की साकार प्रतिमा

परमहंस रामकृष्ण उस ऊँचाई के मनुष्य थे जहाँ से सभी धर्म सत्य और, सब-के-सब, समान दीखते हैं; जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुँचती; जहाँ धर्म अपनी

राजनैतिक एवं सामाजिक गन्ध को छोड़कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे जिसके दो-एक छींटों से ही जन्म-जन्म की तृष्णा शान्त हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित ऐसे महापुरुष का चरित है जो जीवन के अन्तिम सत्य अर्थात् अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के आमने-सामने खड़ा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और सन्त पृथ्वी के वासी थे एवं पृथ्वी से ही वे ऊपर की ओर उठे थे। किन्तु रामकृष्ण दैवी अवतार की भाँति आये। पृथ्वी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आये। दृश्य की ओर से चलकर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसोफिस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आकर परमहंस रामकृष्ण ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। भारतीय जनता की पाँच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना-रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनन्त ऋषियों और सन्तों की कथाएँ सुनी जाती हैं, वे झूठी नहीं हैं।

रामकृष्ण में आकर ही वे देवी-देवता, पौराणिक आचार और अनुष्ठान, धर्म की विविध साधनाएँ एवं जनता के अनेक धार्मिक विश्वास भी सत्य हुए जिनकी ओर से बोलने का साहस किसी भी सुधारक को नहीं हुआ था। अन्य सभी सुधारक नवीन भारत के प्रतिनिधि थे, यद्यपि, सत्य उन्होंने प्राचीन भारत का ही अपनाया था। किन्तु, रामकृष्ण के रूप में भारत की सनातन परम्परा ही देह धर कर खड़ी हो गयी।

रामकृष्ण न तो अँगरेजी जानते थे, न वे संस्कृत के ही जानकार थे, न वे सभाओं में भाषण देते थे, न अखबारों में वक्तव्य। उनकी सारी पूँजी उनकी सरलता और उनका सारा धन महाकाली का नाम-स्मरण-मात्र था। दक्षिणेश्वर की कुटी में एक चौकी पर बैठे-बैठे वे उस धर्म का आख्यान करते थे, जिसका आदि छोर अतीत की गहराइयों में डूबा हुआ है और जिसका अन्तिम छोर भविष्य के गह्वर की ओर फैल रहा है। घर बैठे उन्हें गुरु पर गुरु मिलते गये। अद्वैत साधना की दीक्षा उन्होंने महात्मा तोतापुरी से ली जो स्वयं उनकी कुटी में आ गये थे। तंत्र-साधना उन्होंने एक भैरवी से पायी जो स्वयं घूमते-फिरते दक्षिणेश्वर तक आ पहुँची थीं। इसी प्रकार, इस्लामी साधना के उनके गुरु कोई गोविन्द राय थे जो हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और ईसायत की साधना उन्होंने शम्भुचरण मल्लिक के साथ की थी जो ईसाई धर्म-ग्रन्थों के अच्छे जानकार थे। किन्तु, सभी साधनाओं में रम कर धर्म के गूढ़ रहस्यों की छानबीन करते हुए भी काली के चरणों में उनका विश्वास अचल रहा। जैसे अबोध बालक स्वयं अपनी चिन्ता नहीं करता, उसी प्रकार, रामकृष्ण अपनी कोई फिक्र नहीं करते थे। जैसे बालक प्रत्येक वस्तु की याचना अपनी माँ से करता है, वैसे ही रामकृष्ण भी हर चीज काली से माँगते थे और हर काम उनकी आज्ञा से करते थे। यह नव युग के मनुष्यों के सामने पोंगा-पन्थी कहानी-सी लगती है। किन्तु, यह लिखित इतिहास की घटना है। स्वयं तोतापुरी जब दक्षिणेश्वर आये, तब रामकृष्ण में कुछ अलभ्य देखकर उन्होंने सहसा कहा था, "क्या तू अद्वैत की साधना करेगा?" रामकृष्ण बोले, "मैं कुछ नहीं जानता। माता से पूछकर अभी आता हूँ। यदि उन्होंने आज्ञा दी तो अवश्य करूँगा।" तोतापुरी ने समझा इसकी सचमुच की कोई माँ होगी। किन्तु रामकृष्ण जब मन्दिर में जाकर लौट आये और कहा कि माता की आज्ञा है, तो तोतापुरी को महान् आश्चर्य हुआ कि कोरी प्रतिमा में इसकी ऐसी अटल आस्था है।

हिन्दू-धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, परमहंस रामकृष्ण उसकी प्रतिमा थे। उनकी इन्द्रियाँ पूर्णरूप से उनके वश में थी। रक्त और मांस के तकाजों का उनपर कोई असर न था। सिर से पाँव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी। वे दिन-रात परमार्थ-चिन्तन में निरत रहते थे। सांसारिक सुख-समृद्धि यहाँ तक कि सुयश का भी उनके सामने कोई मूल्य नहीं था।

कंचन से विरक्ति

साधना करते-करते शरीर को उन्होंने इतना शुद्ध कर लिया था कि वो ईश्वरत्व का निर्मल यन्त्र हो गया था और सांसारिकता के स्पर्श-मात्र से उसमें विचित्र प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होने लगती थी। रुपये, पैसे, सोने-चाँदी आदि का स्पर्श वे सह नहीं सकते थे और यह कोई बहानेबाजी या ढोंग नहीं था। विवेकानन्द होने के पूर्व, नरेन्द्रदत्त बड़े ही शंकालु व्यक्ति थे। उन्हें रामकृष्ण अपनी ओर खींच रहे थे और वे बार-बार उनसे भागना चाहते थे। रामकृष्ण रुपये-पैसे को नहीं छूते और द्रव्य के स्पर्श मात्र से उन्हें पीड़ा होने लगती है, इस बात की जाँच करने के लिए उन्होंने एक दिन, चोरी-चोरी परमहंस जी के बिस्तर के नीचे एक रुपया छिपा दिया। रामकृष्ण लौटकर जो बिस्तर पर बैठे तो उन्हें ऐसा लगा, मानों, बिच्छू ने डंक मार दिया हो और वे उचक कर खड़े हो गये। लोगों ने चारों ओर देखा, मगर कहीं भी कोई चीज नहीं थी। निदान, उन्होंने बिस्तर हटाकर नीचे देखा तो क्या देखते हैं कि उसके नीचे एक रुपया पड़ा है। सब लोग अकचकाये हुए थे। केवल नरेन्द्र अचरज के मारे गम्भीर थे। रामकृष्ण उनकी शैतानी को लख गये और बोले, "ठीक है रे; गुरु की जाँच भी जी भर कर लेनी चाहिए।"

द्रव्य के प्रति यह वितृष्णा उनमें बढ़ती ही गयी। अन्त समय तो ऐसा हो गया कि हाथ में कपड़ा लपेटे बिना वे काँसे के बरतन को भी नहीं छू सकते थे। निदान, उनका खान-पान मिट्टी के ही बरतनों में चलने लगा था।

कामिनी के प्रति अनासक्ति

रामकृष्ण एक ऐसे संन्यासी हुए हैं जो अन्त समय तक अपनी धर्मपत्नी के साथ रहे। गृह-त्याग उन्होंने विवाह के बाद किया था और सच पूछिए तो, विधिवत् उन्होंने गृह-त्याग किया भी नहीं था क्योंकि, सिद्धावस्था आने पर भी, वे अपने गाँव गये और वहाँ अपने परिवार के साथ वैसे ही घुल-मिलकर रहे, जैसे गृहस्थ को रहना चाहिए। इसी यात्रा के बाद उनकी पत्नी दक्षिणेश्वर में उनसे आन मिलीं एवं परमहंसजी ने उन्हें अपने साथ रखने में तनिक भी आनाकानी नहीं की। उनकी माता वहीं दक्षिणेश्वर मठ के नौबतखाने में रहती थीं। उन्हीं के पास रामकृष्ण ने अपनी पत्नी को भी रख दिया। किन्तु, पत्नी के साथ उनका शारीरिक सम्बन्ध नहीं हुआ, यह सभी विवरणों से विदित होता है। श्री रामकृष्ण-लीलामृत नामक जो रामकृष्ण का जीवन-चरित है, उससे अच्छा जीवन-चरित मैंने और नहीं देखा। वह हर रोज की लिखी डायरी पर आधारित जीवनी है एवं उसका प्रत्येक विवरण सत्य मालूम होता है। उसमें लिखा है कि "एक दिन उनके पैर दबाते-दबाते माताजी ने (रामकृष्ण की पत्नी ने) उनसे एकाएक पूछा, 'मुझको आप कौन समझते हैं?' श्रीरामकृष्ण बोले, "जो माता उस काली-मन्दिर में हैं, वही इस शरीर को जन्म देकर अभी नौबतखाने में निवास करती हैं और वही यहाँ पर इस समय मेरे पैर दबा रही हैं। तू मुझे, सचमुच ही, सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में दिखायी देती है।"

ऐसा लगता है कि रामकृष्ण प्रकृति के प्यारे पुत्र थे और प्रकृति उनके द्वारा यह सिद्ध करना चाहती थी कि जो मानव-शरीर भोग का साधन बन जाता है, वही, चाहे तो, त्याग का भी पावन यन्त्र बन सकता है। द्रव्य का त्याग उन्होंने अभ्यास से सीखा था, किन्तु अभ्यास के क्रम में उन्हें द्वन्द्वों का सामना करना नहीं पड़ा। हृदय के अत्यन्त निश्छल और निर्मल रहने के कारण वे पुण्य की ओर संकल्प-मात्र से बढ़ते चले गये। काम का त्याग भी उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। लिखा है "एक दिन अपनी पत्नी को अपने समीप ही सोती हुई देखकर अपने मन को सम्बोधन करते हुए श्रीरामकृष्ण विचार करने लगे, 'अरे मन, इसी को स्त्री-शरीर कहते हैं। सारा संसार इसी को परम भोग्य वस्तु मानकर उसकी प्राप्ति के लिए सदा लालायित रहकर अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु, इसके ग्रहण करने से देहशक्ति में सदा के लिए फँस जाने से सच्चिदानन्द ईश्वर को प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। हे मन, सच-सच बोल, भीतर एक और बाहर दूसरा, ऐसा मत रख। तुझे यह शरीर चाहिए कि ईश्वर चाहिए? यह शरीर चाहिए तो यह देख, वह यहाँ तेरे पास ही पड़ा है, इसे ग्रहण कर।' ऐसा विचार करके रामकृष्ण ज्यों ही अपनी पत्नी के शरीर का स्पर्श करने वाले थे कि उनका मन कुण्ठित होकर उन्हें गहरी समाधि लग गयी और रात भर उन्हें देह की सुधि न रही।" अन्यत्र अपनी पत्नी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा है, "वही (पत्नी) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती तो हमारे संयम का बाँध टूटकर मन में देहबुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, यह कौन कह सकता है?"

नानक और कबीर थे, ये भी विवाहित थे और पत्नी के साथ रहकर ही उन्होंने धर्म की सिद्धि की थी। इसमें से काम पर किसकी क्या प्रतिक्रिया रही, इसका लेखा-जोखा उपलब्ध नहीं है। हाँ, कबीर का एक दोहा चलता है–

नारी तो हमहुँ करी, तब ना किया विचार,
जब जानी तक परिहरी, नारी महाविकार।

किन्तु, रामकृष्ण ने नारी की ऐसी निन्दा कभी नहीं की। अपनी पत्नी की तो उन्होंने प्रशंसा ही की है। हाँ, काम-भोग को साधना की बाधा वे भी मानते थे और उनका भी उपदेश यही था कि नर-नारी एक दूसरे से अलग रहकर ही अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने एक बार कहा था, "उन दिनों तो मुझे स्त्रियों से डर लगता था। ... अब वह अवस्था नहीं रही। अब मैंने मन को बहुत कुछ सिखा-पढ़ाकर इतना कर लिया है कि स्त्रियों की ओर आनन्दमयी माता के भिन्न-भिन्न रूप जानकर यह देखा करता हूँ। तो भी, यद्यपि, स्त्रियाँ जगदम्बा के ही अंश हैं, तथापि साधक-साधु के लिए वे त्याज्य ही हैं।"

कामिनी और कांचन के विषय में किसकी क्या दृष्टि है तथा इनके आकर्षण से कौन कहाँ तक बचता है, यही वह कसौटी है जिसपर भारतीय महापुरुषों की जाँच होती आयी है। रामकृष्ण इसी कसौटी पर खरे उतरे। उन्होंने पत्नी को अपने साथ रहने दिया, उन्हें अपनी साधना के पथ पर आगे बढ़ाया, इससे यह भी प्रकट होता है कि नारियों के प्रति उनके मन में कोई घृणा या द्वेष नहीं था।

तर्क बनाम अनुभूति

रामकृष्ण के अद्भुत गुणों से आकृष्ट होकर तत्कालीन बड़े-बड़े तार्किक और विद्वान् उन्हें घेरे रहते थे। इनमें से ऐसे नवयुवक भी थे जो नास्तिक थे, जो शंकालु थे, जो साधु-सन्तों के चमत्कारों को ढोंग समझते थे। किन्तु, रामकृष्ण के सामने शंकाओं के उठने या टिकने का सवाल ही नहीं था। न तो वे चमत्कार दिखाकर लोगों को

प्रभावित करते थे, न किसी से आस्तिकता-नास्तिकता को लेकर विवाद। उनका जीवन उन्मुक्त ग्रन्थ था और धर्म के लक्षण वे मुख से नहीं कहकर अपने आचरणों से बताते थे। फिर आँखों-देखी बात पर शंका होती क्यों?

वे, प्रायः अपढ़ मनुष्य थे, किन्तु, साधना के बल से वे उस मूल उत्स पर पहुँच गये थे जहाँ से सभी ज्ञान उठकर ऊपर आते हैं, जहाँ से दर्शनों की उत्पत्ति और धर्मों का जन्म होता है। इसलिए, उनके उपदेश विद्वान् और अविद्वान्, सभी के लिए ग्राह्य हैं। वे सब की समझ में आते हैं एवं जिसमें उड़ने की जितनी शक्ति है, वह उन्हें लेकर उतनी दूर तक उड़ सकता है। उनके वचनामृत की धारा जब फूट पड़ती थी, तब बड़े-से-बड़े तार्किक अपने-आप में खो कर मूक हो जाते थे। केशवचन्द्र सेन से एक बार रामकृष्ण ने कहा, "केशव! तू अपनी वत्तृता के द्वारा सभी को हिला देता है। मुझे भी तो कुछ बता।" केशवचन्द्र इस पर नम्रता से बोले, "मैं क्या लोहार की दुकान में सुई बेचने आऊँ? आप ही कहते जाइये। मैं सुनता हूँ। आपके ही श्रीमुख की दो-चार बातें मैं लोगों को बताता हूँ जिन्हें सुनकर वे गद्‌गद् हो जाते हैं। बस, यही मैं करता हूँ।"

सन्त पद्धति से उपदेश

उनकी विषय-प्रतिपादन की शैली ठीक वही थी जिसका आश्रय भारत के प्राचीन ऋषियों तथा पार्श्वनाथ, बुद्ध और महावीर ने लिया था तथा जो परम्परा से भारतीय सन्तों के उपदेश की पद्धति रही है। वे तर्कों का सहारा कम लेते थे, जो कुछ समझाना होता उसे उपमाओं और दृष्टान्तों से समझाते थे। सन्त सुनी-समझी बातों का आख्यान नहीं करते, वे तो आँखों-देखी बातें कहते हैं, अपनी अनुभूतियों का निचोड़ दूसरों के हृदय में उतारते हैं।

देह और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ हैं, इस सिद्धान्त को समझाते हुए उन्होंने कहा, "कामिनी-कांचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय, तो देह अलग है और आत्मा अलग है, यह स्पष्ट रूप से दीखने लगता है। नारियल का पानी सूख जाने पर जैसे उसके भीतर का खोपरा (गरी) नरेटी से खुलकर अलग हो जाता है, खोपरा और नरेटी दोनों अलग-अलग दीखने लगते हैं (वैसे), या जैसे म्यान के भीतर रखी हुई तलवार के विषय में कह सकते हैं कि म्यान और तलवार दोनों भिन्न चीजें हैं, वैसे ही, देह और आत्मा के बारे में जानो।"

प्रतिमा-पूजन का भी ईश्वराराधन में वास्तविक महत्त्व है, इस विचार को समझाने के लिए वे कहते, "जैसे वकील को देखते ही अदालत की याद आती है, उसी तरह, प्रतिमा से ईश्वर की याद आती है।"

"माया ईश्वर की शक्ति है, वह ईश्वर में ही वास करती है, तब क्या ईश्वर भी हमारे समान ही मायाबद्ध है?" इस गुत्थी को सुलझाने के लिए वे कहते हैं, "अरे, नहीं रे भाई! वैसा नहीं है। ... यही देखो ने। सर्प के मुँह में सदा विष रहता है। उसी मुँह से वह हरदम खाता-पीता है, पर, वह स्वयं उस विष से नहीं मरता।"

मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है, इस शिक्षा को समझाने का उनका ढंग यह था कि मनुष्य, मानों केवल तकिये के गिलाफ हैं। गिलाफ जैसे भिन्न-भिन्न रंग और आकार के होते हैं, वैसे ही, मनुष्य भी कोई सुरूप, कोई कुरूप, कोई साधु, कोई दुष्ट होता है। बस, इतना ही अन्तर है। पर, जैसे सभी गिलाफ में एक ही पदार्थ—कपास भरा रहता है, उसी के अनुसार, सभी मनुष्यों में वही एक सच्चिदानन्द भरा हुआ है।"

ईश्वराराधन का व्यावहारिक मार्ग बताते हुए वे कहते, "जब तुम काम करते हो तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान के पाँव पकड़े रहो। जब काम समाप्त हो जाय तो भगवान के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ लो।"

संकल्प-शुद्धि के लिए उनका उपदेश था, "अभागा मनुष्य ही यह मानता है कि मैं पापी हूँ। ऐसा सोचते-सोचते वह पापी हो भी जाता है।"

तर्कों से वे बहुत घबराते थे। कहते, "शास्त्रार्थ को मैं नापसन्द करता हूँ। ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे हैं। मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि जो कुछ है, वह ईश्वरमय है। फिर तर्कों से क्या फायदा? बगीचों में तुम आम खाने जाते हो, न कि पेड़ों के पत्ते गिनने। फिर मूर्ति-पूजा, पुनर्जन्म और अवतारवाद को लेकर यह विवाद क्यों चलता है?"

बुद्धि का तो अविश्वास वे करते ही थे, सहज ज्ञान को भी वे स्थायी महत्व नहीं देते थे। सहज ज्ञान के द्वारा बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण किया जाता है। किन्तु, बुद्धि के परे की अनुभूतिवाली भूमि में सहज ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। तब तो ईश्वरीय कृपा का ही एक मात्र प्रकाश बच जाता है। इसलिए, वे कहा करते थे कि पाँव में एक काँटा गड़ जाय तो उसे दूसरे काँटे से निकालना होता है। किन्तु, काँटे के निकल जाने पर तो दोनों काँटों को फेंक ही देना चाहिए।

परिपक्व मनुष्य जाति-भेद को नहीं मानता, यह समझाने को रामकृष्ण कहा करते थे कि ताड़ और खजूर को देखो न! आरम्भ में वे कितने पत्ते लिये रहते हैं। किन्तु, उनके खूब बढ़ जाने पर क्या होता है? व्यर्थ के सारे बोझ झड़ जाते हैं और कुछ थोड़े-से पत्ते ही शेष रह जाते हैं।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की प्रशंसा करते हुए वे बोले, "पक्का विद्वान् कभी भी अहंकार नहीं दिखाता। आलू सिद्ध होने पर नर्म हो जाता है।"

विद्वत्ता और पांडित्य के साथ वे मनुष्य में शील और सदाचार भी चाहते थे। अनुशासन और नैतिकता से विहीन विद्वानों के लिए उनमें आदर का भाव नहीं था। उनका कहना था कि विद्या की बड़ी शक्ति है। लेकिन, केवल विद्या से क्या होगा? गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता तो है, मगर, आँख उसकी बराबर मुर्दे पर लगी रहती है। बहिर्मुखी विद्वान् समुद्र के समान होता है। परन्तु वरुणदेव को पता ही नहीं कि उनके भीतर कितनी चीजें छिपी हुई हैं। बहुत-से अमीर अपने सभी नौकरों के नाम भी नहीं जानते, न उन्हें यही पता है कि कौन चीजें कहाँ रखी हैं।

संसार में रहते हुए परमार्थ की साधना कैसे करें, इस विषय में उपदेश देते हुए वे कहते, कटहल छूने के पहले उँगली में तेल लगा लिया करो। मन दूध है और दुनिया पानी। दूध को पहले जमा लो, फिर उसका मन्थन करो। तब जो मक्खन निकलेगा, वह पानी में नहीं घुलेगा।

धन मनुष्य के जीवन का ध्येय नहीं होना चाहिए, इस उपदेश को वे यों रखते थे कि धन से क्या मिलता है? भोजन, वस्त्र और मकान। मगर, इनसे ऊँची चीजें धन से नहीं मिल सकती। इसलिए, जीवन का उद्देश्य धन नहीं हो सकता।

विनोदप्रियता

विनोदप्रियता रामकृष्ण में कूट-कूटकर भरी थी और उनके विनोद मार्मिक होते हुए भी बड़े ही आनन्ददायी होते थे। एक बार केशवचन्द्र सेन ब्रह्म-समाज की व्यास-गद्दी से प्रार्थना कर रहे थे। प्रार्थना करते-करते उन्होंने एक वाक्य कहा था हे प्रभो! हमें अपने आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न कर लो। प्रार्थना के बाद, किसी दूसरे प्रसंग में, रामकृष्ण ने कहा, "अरे केशव! आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न होने की प्रार्थना बेकार है। तुम्हारे आँगन में तो साड़ियाँ सूखती हैं। तुम्हारे लिए यही उचित है कि समुद्र में एक डुबकी लगाकर फिर बाहर आ जाओ। नहीं तो इन साड़ियों का क्या होगा?"

नरेन्द्रनाथ (आगे चलकर विवेकानन्द) दिन में दो बार प्रार्थना करते थे। एक दिन एक पद गाते-गाते बोले, "भजन साधन तार करो रे निरन्तर।" रामकृष्ण एकदम बोल उठे— "छिः, ऐसा मत कह। उसके बदले' भजन-साधन तार करो रे दिन दुबारे' ऐसा कह! अपने को जो कभी करना ही नहीं है, उसे जोर-जोर से कहने से क्या मतलब?"

केशवचन्द्र सेन से वे अक्सर, मजाक करते थे। कभी कहते, "तेरी पूँछ झड़ गयी है। जब तक पूँछ नहीं झड़ जाती तब तक मेंढक पानी से बाहर नहीं निकलता। पर जब पूँछ झड़ जाती है तब वह पानी में भी रह सकता है और पानी से बाहर भी रह सकता है।" कभी कहते "केशव, तुम वह पक्षी हो जिसकी दुम में पत्थर बँधा है। यह पक्षी समाधि में जा सकता है, मगर, बाल-बच्चे उसे नीचे खींच लेते हैं।"

ब्रह्म-समाज बँट कर दो पक्षों में विभक्त हो गया था, किन्तु उसके दोनों पक्षों के लोग रामकृष्ण के यहाँ आते-जाते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि केशवचन्द्र अपने कुछ अनुयायियों के साथ रामकृष्ण के पास बैठे हुए थे कि विजयकृष्ण भी अपने अनुगामियों के साथ आ पहुँचे। ऐसी अचानक भेंट हो जाने से दोनों पक्ष वालों को संकोच-सा होने लगा। यह बात रामकृष्ण की दृष्टि में आते ही वे बोले— "सुनिये! एक बार ऐसा हुआ कि भगवान शंकर और श्रीरामचन्द्र में कुछ विवाद हो गया और दोनों में युद्ध होने लगा। अब शंकर के गुरु राम और राम के गुरु शंकर होने के कारण, युद्ध समाप्त होने पर, उन दोनों में पूर्ववत् मैत्री होने में देरी नहीं लगी। पर, शंकर की सेना के भूत-प्रेतों और राम की सेना के वानर-रीछों की मैत्री नहीं हुई। इसीलिए कहता हूँ कि जो होना था, सो हो गया। अब, कम-से-कम, तुम दोनों के मन में तो एक-दूसरे के प्रति परस्पर वैर-भावना या वैमनस्य नहीं रहे। और यह भाव यदि रहे तो रहने दो अपने वानर-रीछों और भूत-प्रेतों में।"

ऐसा था वह मनुष्य जिसने भाषण और वक्तव्य दिये बिना तथा सभा-सम्मेलनों में शास्त्रार्थ किये बिना, केवल अपने आचरणों और अपनी अनुभूतियों से यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दुत्व का, केवल वेद-उपनिषद् वाला ही नहीं, बल्कि, वह रूप भी सत्य है जिसका आख्यान पुराणों एवं सन्तों की जीवनियों में मिलता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि रामकृष्ण के भीतर से हिन्दुत्व ने अपनी रक्षा अन्य धर्मों को पछाड़ कर नहीं, प्रत्युत, उन्हें अपना बना कर की। हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसायत पर रामकृष्ण की श्रद्धा एक समान थी, क्योंकि, बारी-बारी से सब की साधना करके उन्होंने एक ही सत्य का साक्षात्कार किया था।

मनीषियों द्वारा अभिनन्दन

रामकृष्ण का नाम उनके जीवनकाल में भी दूर-दूर तक पहुँचा था। किन्तु, उनके देहान्त के बाद तो उनके उपदेशों को स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार फैलाया कि संसार के कोने-कोने में उनका नाम गूँज गया। उनकी जीवनी मैक्समूलर ने लिखी थी। फिर एक जीवन-चरित रोमां रोलाँ ने भी प्रकाशित किया। गाँधीजी का वचन है कि रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आये हुए जीवित धर्म की कहानी है। कहते हैं, केशवचन्द्र सेन के समय, ब्रह्म-समाज में भक्ति और साधना का जो प्रचलन हुआ, वह ब्रह्म-समाजियों की रामकृष्ण से संगति का परिणाम था। प्रसिद्ध ब्रह्म-समाजी साधक और विद्वान् आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है कि "श्री रामकृष्ण के दर्शन होने के पूर्व,

धर्म किसे कहते हैं, यह कोई समझता भी नहीं था। सब आडम्बर ही था। धार्मिक जीवन कैसा होता है, यह बात रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर जान पड़ी।" आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार की एक और उक्ति है जिसके उद्धकरण से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धिवादी विद्वानों पर रामकृष्ण के व्यक्तित्त्व का कैसा प्रभाव था। प्रतापचन्द्र लिखते हैं कि "उनके और मेरे बीच समानता क्या है? मैं यूरोपीयकृत, सुसभ्य, अर्ध-नास्तिक और तथाकथित सुशिक्षित तार्किक व्यक्ति हूँ जिसकी सारी चिन्ता अपने ही निमित्त है। और वे निर्धन, अशिक्षित, व्यवहार में भद्दे, मूर्तिपूजक एवं निस्सहाय हिन्दू भक्त हैं। भला मैं उनकी सेवा में घण्टों क्यों बैठा करूँ–मैं, जिसने डिजरेली और फाकेट के विचार सुने हैं, जिसने स्टानले और मैक्समूलर की विद्याएँ प्राप्त की हैं, जिसने यूरोप के बीसियों विद्वानों और धर्म-पुरुषों के विचारों का पान किया है। किन्तु, केवल मैं ही नहीं, यहाँ तो मेरे-जैसे दर्जनों लोग हैं जो यही करते हैं।'' ... वे (रामकृष्ण) राम की पूजा करते हैं, शिव की पूजा करते हैं, काली को पूजते हैं और, साथ ही वेदान्त में भी उनका अडिग विश्वास है। वे प्रतिमापूजक हैं, किन्तु निरंजन और निराकार की पूर्णता का ज्ञान कराने में भी उनसे बढ़कर कोई और माध्यम नहीं हो सकता। उनका धर्म आनन्द है, उनकी पूजा समाधि है। अहर्निश उनका समस्त अस्तित्व एक विचित्र विश्वास और भावना की ज्वाला से प्रदीप्त रहता है।

(साभार -'संस्कृति के चार अध्याय')

□□□

स्वयं में बहुत सी कमियों के बावजूद
यदि मैं स्वयं से प्रेम कर सकता हूँ तो
फिर दूसरों में थोड़ी
बहुत कमियों की वजह से उनसे
घृणा कैसे कर सकता हूँ।

-स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द : एक जीवनझाँकी

-मुंशी प्रेमचन्द

(उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचंद ने यह उर्दू भाषा में अपने साहित्यिक जीवन के उषाकाल में लिखा था, जो 'जमाना' मासिक के मई 1908 ई॰ के अंक में प्रकाशित हुआ था। बाद में इसका यह हिन्दी अनुवाद लेखक ने स्वयं किया। प्रस्तुत लेख उनकी 'कलम, तलवार और त्याग' नामक पुस्तक से साभार ग्रहित हुआ है। स्मरणीय है कि उस समय तक स्वामीजी की कोई प्रामाणिक जीवनी प्रकाशित नहीं हुई थी, अतः तथ्यों में कहीं कहीं भूलें होते हुए भी इस लेख को इसकी ऐतिहासिकता के लिए प्रकाशित कर रहे हैं।)

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास और पाप की प्रबलता होती है, तब तब मैं मानव-जाति के कल्याण के लिए अवतार लिया करता हूँ। इस नाशवान जगत् में सर्वत्र सामान्यतः और भारतवर्ष में विशेषतः जब कभी पाप की वृद्धि या और किसी कारण (समाज में) संस्कार या नवनिर्माण की आवश्यकता हुई, तो ऐसे सच्चे सुधारक और पथप्रदर्शक प्रकट हुए हैं, जिनके आत्मबल ने सामयिक परिस्थित पर विजय प्राप्त की। पुरातन काल में जब पाप-अनाचार प्रबल हो उठे, तो कृष्ण भगवान आए और अनीति-अत्याचार की आग बुझायी। इसके बहुत दिन बाद क्रूरता, विलासिता और स्वार्थपरता का फिर दौर हुआ, तो बुद्ध ने जन्म लिया और उनके उपदेशों ने धर्मभाव की ऐसी धारा बहा दी, जिसने कई सौ साल तक जड़वाद को सिर न उठाने दिया। पर जब कालप्रवाह ने इस उच्च आध्यात्मिक शिक्षा की नींव को भी खोखला कर दिया और उसकी आड़ में दम्भ-दुराचार ने फिर जोर पकड़ा, तो शंकर स्वामी ने अवतार लिया और अपनी वाग्मिता तथा योगबल से धर्म के परदे में होने वाली बुराइयों की जड़ उखाड़ दी। अनन्तर कबीर साहब और श्री चैतन्य महाप्रभु प्रकट हुए और अपनी आत्मसाधना का सिक्का लोगों के दिलों पर जमा गए।

ईसा की पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में जड़वाद ने फिर सिर उठाया, और इस बार उसका आक्रमण ऐसा प्रबल था, अस्त्र ऐसे अमोघ और सहायक ऐसे सबल थे कि भारत के आत्मवाद को उसके सामने सिर झुका देना पड़ा और कुछ ही दिनों में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तथा अटक से कटक तक उसकी पताका फहराने लगी। हमारी आँखें इस भौतिक प्रकाश के सामने चौंधिया गयीं और हमने अपने प्राचीन तत्त्वज्ञान, प्राचीन शास्त्रविज्ञान, प्राचीन समाज-व्यवस्था, प्राचीन धर्म और प्राचीन आदर्शों को त्यागना आरम्भ कर दिया। हमारे मन में दृढ़ धारणा हो गयी कि हम बहुत दिनों से मार्गभ्रष्ट हो रहे थे और आत्मा-परमात्मा की बातें निरी ढकोसला है। पुराने जमाने में भले ही इससे कुछ लाभ हुआ हो, पर वर्तमान काल के लिए यह किसी प्रकार उपयुक्त नहीं और इस रास्ते से हटकर हमने नये राज-मार्ग को न पकड़ा, तो कुछ ही दिनों में धरा-धाम से लुप्त हो जाएँगे।

ऐसे समय पुनीत भारत-भूमि में पुनः एक महापुरुष का आविर्भाव हुआ, जिसके हृदय में अध्यात्म-भाव का सागर लहरा रहा था; जिसके विचार ऊँचे और दृष्टि दूरगामी थी; जिसका हृदय मानव-प्रेम से ओतप्रोत था। उसकी सच्चाई-भरी ललकार ने क्षण भर में जड़वादी संसार में हलचल मचा दी। उसने नास्तिक्य के गढ़ में घुसकर साबित कर दिया कि तुम जिसे प्रकाश समझ रहे हो, वह वास्तव में अन्धकार है, और यह सभ्यता, जिस पर तुमको इतना गर्व है, वह सच्ची सभ्यता नहीं। इस सच्चे विश्वास के बल से भरे हुए भाषण ने भारत पर भी जादू का असर किया और जड़वाद के प्रखर प्रवाह ने अपने सामने ऊँची दीवार खड़ी पायी, जिसकी जड़ को हिलाना या जिसके ऊपर से निकल जाना, उसके लिए असाध्य कार्य था।

आज अपनी समाज-व्यवस्था, अपने वेदशास्त्र, अपने रीति-व्यवहार और धर्म को हम आदर की दृष्टि से देखते हैं।

यह उसी पूतात्मा के उपदेशों का सुफल है कि हम अपने प्राचीन आदर्शों की पूजा करने को प्रस्तुत हैं और यूरोप के वीर पुरुष और योद्धा, विद्वान् और दार्शनिक हमें अपने पण्डितों और मनीषियों के सामने नीरे बच्चे मालूम होते हैं। आज हम किसी बात को, चाहे वह धर्म और समाज-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती हो या ज्ञान-विज्ञान से, केवल इसलिए मान लेने को तैयार नहीं है कि यूरोप में उसका चलन है। किन्तु उसके लिए हम अपने धर्मग्रन्थों और पुरातन पूर्वजों का मत जानने का यत्न करते हैं और उनके निर्णय को सर्वोपरि मानते हैं। और यह सब ब्रह्मलीन स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक उपदेशों का ही चमत्कार है।

स्वामी विवेकानन्द का जीवन-वृत्तान्त बहुत संक्षिप्त है। दु:ख है कि आप भरी जवानी में ही इस दुनिया से उठ गए और आपके महान् व्यक्तित्व से देश और जाति को जितना लाभ पहुँच सकता था, न पहुँच सका। 1863 ई॰ में वे एक प्रतिष्ठित कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए। बचपन से ही होनहार दिखाई देते थे। अँगरेजी स्कूलों में शिक्षा पायी और 1884 में बी॰ए॰ की डिग्री हासिल की। उस समय उनका नाम नरेन्द्रनाथ था। कुछ दिनों तक ब्रह्म-समाज के अनुयायी रहे। नित्य प्रार्थना में सम्मिलित होते और चूँकि गला बहुत ही अच्छा पाया था, इसलिए कीर्तन-समाज में भी शरीक हुआ करते थे। पर ब्रह्म-समाज के सिद्धान्त उनकी प्यास न बुझा सके। धर्म उनके लिए केवल किसी पुस्तक से दो-चार श्लोक पढ़ देने, कुछ विधि-विधानों का पालन कर देने और गीत गाने का नाम नहीं हो सकता था। कुछ दिनों तक सत्य की खोज में इधर-उधर भटकते रहे।

उन दिनों रामकृष्ण परमहंस के प्रति लोगों की श्रद्धा थी। नवयुवक नरेन्द्रनाथ ने भी उनके सत्संग से लाभ उठाना आरम्भ किया और धीरे-धीरे उनके उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि उनकी भक्तमण्डली में सम्मिलित हो गए और उन सच्चे गुरु से अध्यात्म तत्त्व और वेदान्त-रहस्य स्वीकार कर अपनी जिज्ञासा तृप्त की। परमहंस के देहत्याग के बाद नरेन्द्रनाथ ने कोट-पतलून उतार फेंका और संन्यास ले लिया। उस समय से आप विवेकानन्द नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी गुरुभक्ति गुरुपूजा की सीमा तक पहुँच गयी थी। जब कभी आप उनकी चर्चा करते हैं, तो एक एक शब्द से श्रद्धा और सम्मान टपकता है। 'मेरे गुरुदेव' के नाम से उन्होंने न्यूयार्क में एक विद्वत्तापूर्ण भाषण किया, जिसमें परमहंस जी के गुणों का गान बड़ी श्रद्धा और उत्साह के स्वर में किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने गुरुदेव के प्रथम दर्शन का वर्णन इस प्रकार किया है– "देखने में वे बिल्कुल साधारण आदमी मालूम होते थे। उनके रूप में कोई विशेषता न थी। बोली बहुत सरल और सीधी थी। मैंने मन में सोचा कि क्या यह सम्भव है कि ये सिद्ध पुरुष हो? मैं धीरे-धीरे उनके पास पहुँच गया और उनसे वे प्रश्न पूछे, जो अक्सर औरों से पूछा करता था, 'महाराज, क्या आप ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं?' उन्होंने जवाब दिया, 'हाँ।' मैंने फिर पूछा, 'क्या आप उसका अस्तिव सिद्ध भी कर सकते हैं?' जवाब मिला, 'हाँ।' मैंने फिर पूछा, 'क्यों-कर?' जवाब मिला, 'मैं उसे ठीक वैसे ही देखता हूँ, जैसे तुमको।'

परमहंस जी की वाणी में कोई वैद्युतिक शक्ति थी, जो संशयात्मा को तत्क्षण ठीक रास्ते पर लगा देती थी और यही प्रभाव स्वामी विवेकानन्द की वाणी और दृष्टि में भी था। यह हम कह चुके हैं कि परमहंस के परमधाम सिधारने के बाद स्वामी विवेकानन्द ने संन्यास ले लिया। उनकी माता उच्चाकांक्षिणी स्त्री थीं। उनकी इच्छा थी कि मेरा लड़का वकील हो, अच्छे घर में उसका ब्याह हो और वह दुनिया के सुख भोगे। उनके संन्यास-धारण के निश्चय का समाचार पाया, तो परमहंस जी की सेवा में उपस्थित हुई और अनुनय-विनय की कि मेरे बेटे को जोग न दीजिए; पर जिस हृदय ने शाश्वत प्रेम और आत्मानुभूति के आनन्द का स्वाद पा लिया हो, उसे लौकिक सुख-भोग कब तक अपनी ओर खींच सकते हैं। परमहंस जी कहा करते थे कि जो आदमी दूसरों को आध्यात्मिक उपदेश देने की आकांक्षा करे, उसे पहले स्वयं उस रंग में डूब जाना चाहिए। इस उपदेश के अनुसार स्वामीजी हिमालय पर चले गए और पूरे नौ साल तक तपस्या और चित्त-शुद्धि की साधना में लगे रहे। बिना खाये, बिना सोये, एकदम नग्न और एकदम अकेले सिद्ध-महात्माओं की खोज में घूमते और उनके सत्संग से लाभ उठाते रहते थे। कहते हैं कि परमतत्त्व की जिज्ञासा उन्हें तिब्बत खींच ले गयी, जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और साधन-प्रणाली का समीक्षक बुद्धि से अध्ययन किया। स्वामीजी खुद फरमाते हैं कि मुझे दो-दो तीन-तीन दिन तक खाना न मिलता था। अक्सर ऐसे स्थान पर नंगे बदन सोया हूँ, जहाँ की सर्दी का अन्दाजा थर्मामीटर से नहीं लग सकता। कितनी ही बार शेर, बाघ और दूसरे शिकारी जानवरों का सामना हुआ। पर राम के प्यारे को इन बातों का क्या डर?

स्वामी विवेकानन्द हिमालय में थे, जब उन्हें प्रेरणा हुई कि अब तुम्हें अपने गुरुदेव के आदेश का पालना करना चाहिए। अत: वे पहाड़ से उतरे और बंगाल, संयुक्त प्रान्त, राजपुताना, बम्बई आदि में रेल से और अक्सर पैदल भी भ्रमण करते; किन्तु जो जिज्ञासु जन श्रद्धावश उनकी सेवा में उपस्थित होते थे, उन्हें धर्म और नीतितत्त्वों का उपेदश देते थे। जिस विपदग्रस्त देखते, उसको सान्तवना देते। चेन्नई उस समय नास्तिकों और जड़वादियों का केन्द्र बन रहा था। अँगरेजी विश्वविद्यालयों से

निकले हुए नवयुवक, जो अपने धर्म और समाज-व्यवस्था के ज्ञान से बिल्कुल कोरे थे, खुलेआम ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार किया करते थे। स्वामीजी यहाँ अरसे तक टिके रहे और कितने ही होनहार नौजवानों को धर्म-परिवर्तन से रोका और जड़वाद के जाल से बचाया। कितनी ही बार लोगों ने उनसे वाद-विवाद किया, उनकी खिल्ली उड़ायी; पर वे अपने वेदान्त के रंग में इतना डूबे हुए थे कि उन्हें किसी की हँसी-मजाक की तनिक भी परवाह न थी। धीरे-धीरे उनकी ख्याति नवयुवक-मण्डली से बाहर निकलकर कस्तूरी की गन्ध की तरह चारों ओर फैलने लगी। बड़े-बड़े धनी-मानी लोग भक्त और शिष्य बन गए और उनसे नीति तथा वेदान्त-तत्त्व के उपदेश लिए। जस्टिस सुब्रह्मण्यम, महाराजा रामनाद (चेन्नई) और महाराजा खेतड़ी (राजपुताना) उनके प्रमुख शिष्यों में थे।

स्वामीजी चेन्नई में थे, तो अमेरिका में सर्वधर्म-सम्मेलन के आयोजन की खबर मिली। वे तुरन्त उसमें सम्मिलित होने को तैयार हो गए और उनसे बड़ा ज्ञानी तथा वक्ता और था ही कौन? भक्त-मण्डली की सहायता से आप इस पवित्र यात्रा पर चल पड़े। आपकी यात्रा अमेरिका के इतिहास की अमर घटना है। यह पहला मौका था कि कोई पश्चिमी जाति दूसरी जातियों के धर्म-विश्वासों की समीक्षा और स्वागत के लिए तैयार हुई हो। रास्ते में स्वामीजी ने चीन और जापान का भ्रमण किया और जापान के सामाजिक जीवन से बड़े प्रभावित हुए। वहाँ से एक पत्र में लिखते हैं, "आओ, इन लोगों को देखो और जाकर शर्म से मुँह छुपा लो। आओ, मर्द बनो! अपने संकीर्ण बिलों से बाहर निकलो और जरा दुनिया की हवा खाओ।"

अमेरिका पहुँचकर उन्हें मालूम हुआ कि अभी सम्मेलन होने में देर है। ये दिन उनके बड़े कष्ट में बीते। अकिंचनता की यह दशा थी कि पास में ओढ़ने-बिछाने तक को काफी न था। पर उनकी सन्तोष-वृत्ति इन सब कठिनाइयों पर विजयी हुई। अन्त मे बड़ी प्रतीक्षा के बाद नियत तिथि आ पहुँची। दुनिया के विभिन्न धर्मों ने निज-निज प्रतिनिधि भेजे थे, और यूरोप के बड़े-बड़े पादरी और धर्मशास्त्र के आचार्य हजारों की संख्या में उपस्थित थे। ऐसे महासम्मेलन में एक अकिंचन असहाय युवक का कौन पुछैया था, जिसकी देह पर साबुत कपड़े भी न थे? पहले तो किसी ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया, पर सभापति ने बड़ी उदारता के साथ उनकी प्रार्थना कर ली, और वह समय आ गया कि स्वामीजी श्रीमुख से कुछ कहें। उस समय तक उन्होंने किसी सार्वजनिक सभा में भाषण न किया था।

एकबारगी 8-10 हजार विद्वानों और समीक्षकों के सामने खड़े होकर भाषण करना कोई हँसी-खेल न था। मानव-स्वभाववश क्षण-भर स्वामीजी को भी घबराहट रही, पर केवल एक बार तबियत पर जोर डालने की जरूरत थी। स्वामीजी ने ऐसी पाण्डित्यपूर्ण, ओजस्वी और धाराप्रवाह वक्तृता की कि श्रोतामण्डली मंत्रमुग्ध-सी हो गयी। यह असभ्य हिन्दू, और ऐसा विद्वत्तापूर्ण भाषण! किसी को विश्वास न होता था। आज भी इस वक्तृता क्या है, भगवद्गीता और उपनिषदों के ज्ञान का निचोड़ है। पश्चिमवालों को आपने पहली बार सुझाया कि धर्म के विषय में निष्पक्ष उदार भाव रखना किसको कहते हैं। और धर्मवालों के विपरीत आपने किसी धर्म कि निन्दा न की और पश्चिम-वालों को जिन्हें बहुत दिनों से यह धारणा हो रही थी कि हिन्दू तअस्सुब के पुतले हैं, वह एकदम दूर हो गयी। वह भाषण ऐसा ज्ञान-गर्भ और अर्थ-भरा है कि उसका खुलासा करना असम्भव है; पर उसका निचोड़ यह है–

"हिन्दू धर्म का आधार किसी विशेष सिद्धान्त को मानना या कुछ विशेष विधि-विधानों का पालना करना नहीं है। हिन्दू का हृदय शब्दों और सिद्धान्तों से तृप्ति-लाभ नहीं कर सकता। अगर कोई ऐसा लोक है, जो हमारी स्थूल दृष्टि से अगोचर है, तो हिन्दू उस दुनिया की सैर करना चाहता है, अगर कोई ऐसी सत्ता है, जो भौतिक नहीं है; कोई ऐसी सत्ता है, जो न्याय-रूप, दया-रूप और सर्वशक्तिमान् है, तो हिन्दू उसे अपनी अर्न्तदृष्टि से देखना चाहता है। उसके संशय तभी छिन्न होते हैं, जब वह इन्हें देख लेता है।"

आपने पाश्चात्यों को पहली बार सुनाया कि विज्ञान के वे सिद्धान्त, जिनका उनको गर्व है और जिनका धर्म से सम्बन्ध नहीं, हिन्दुओं को अति प्राचीन काल से विदित थे और हिन्दू धर्म की नींव उन्हीं पर खड़ी है, और जहाँ अन्य धर्मों का आधार कोई विशेष व्यक्ति या उसके उपदेश हैं, हिन्दू धर्म का आधार शाश्वत सनातन सिद्धान्त है, और यह इस बात का प्रमाण है कि वह कभी न कभी विश्वधर्म बनेगा। कर्म को केवल कर्तव्य समझकर करना, उसमें फल या सुख-दु:ख की भावना न रखना–ऐसी बात थी, जिससे पश्चिमवाले अब तक सर्वथा अपरिचित थे। स्वामीजी के ओजस्वी भाषणों और सच्चाई भरे उपदेशों से लोग इतने प्रभावित हुए कि अमेरिका के अखबार बड़ी श्रद्धा और सम्मान के शब्दों में स्वामीजी की बड़ाई छापने लगे। उनकी वाणी में यह दिव्य प्रभाव था कि सुननेवाले आत्मविस्मृत हो जाते।

भक्तों की संख्या दिन-दिन बढ़ने लगी। चारों ओर से जिज्ञासु जन उनके पास पहुँचते और अपने-अपने नगर में पधारने का अनुरोध करते। स्वामीजी को अक्सर दिन-दिनभर दौड़ना पड़ता। बड़े-बड़े प्रोफसरों और विद्वानों ने आकर उनके चरण छुए और उनके उपदेशों को हृदय में स्थान दिया।

स्वामीजी अमेरिका में करीब तीन साल रहे और इस बीच

श्रम और शरीर-कष्ट की तनिक भी परवाह न कर अपने गुरुदेव के आदेश के अनुसार वेदान्त का प्रचार करते रहे। इसके बाद इंग्लैंड की यात्रा की। आपकी ख्याति वहाँ पहले ही पहुँच चुकी थी। अँगरेजों को, जो नास्तिकता और जड़पूजा में दुनिया में सबसे आगे बढ़े हुए हैं, आकृष्ट करने में पहले आपको बहुत कष्ट करना पड़ा; पर आपका अद्‌भुत अध्यवसाय और प्रबल संकल्प-शक्ति अन्त में इन सब बाधाओं पर विजयी हुई और आपकी वक्तृताओं का जादू अँगरेजी पर भी चल गया। ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक, जिन्हें खाने के लिए भी प्रयोगशाला के बाहर निकालना कठिन था, आपका भाषण सुनने के लिए घण्टों पहले सभा में पहुँच जाते और प्रतीक्षा में बैठे रहते। आपने वहाँ तीन बड़े मारके के भाषण किए और आपकी वाग्मिता तथा विद्वता का सिक्का सबके दिलों पर बैठ गया। सब पर प्रकट हो गया कि जड़वाद में यूरोप चाहे भारत से कितना ही आगे क्यों न हो, पर अध्यात्म और ब्रह्मज्ञान का मैदान हिन्दुस्तानियों का ही है! आप करीब एक साल तक वहाँ रहे और अनेकानेक सभा-समितियों, कॉलिजों और क्लबघरों से आपके पास निमंत्रण आते थे। वेदान्त के प्रचार का कोई भी अवसर आप हाथ से न जाने देते। आपकी ओजमयी वक्तृताओं का यह प्रभाव हुआ कि बिशपों और पादरियों ने गिरजों में वेदान्त पर आपके भाषण कराए।

एक दिन एक सम्भ्रान्त महिला के मकान पर लन्दन के अध्यापकों की सभा होने वाली थी। श्रीमती जी शिक्षा विषय पर बड़ा अधिकार रखती थीं। उनका भाषण सुनने तथा उस पर बहस की इच्छा से विद्वान् एकत्र हुए थे। संयोगवश श्रीमती जी की तबीयत कुछ खराब हो गयी। स्वामीजी वहाँ विद्यमान थे। लोगों ने प्रार्थना कि आप ही कुछ फरमाएँ। स्वामीजी उठ खड़े हुए और भारत की शिक्षा-प्रणाली पर पण्डित्यपूर्ण भाषण किया। उन शिक्षा-व्यवसासियों को कितना आश्चर्य हुआ, जब स्वामीजी के श्रीमुख से सुना कि भारत में विद्यादान सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है और भारतीय गुरु अपने विद्यार्थियों से कुछ लेता नहीं, बल्कि उन्हें अपने घर पर रखता है और उनको विद्यादान के साथ-साथ भोजन-वस्त्र भी देता है।

धीरे-धीरे यहाँ भी स्वामीजी की भक्त-मण्डली काफी बड़ी हो गयी। बहुत से लोग, जो अपनी रुचि का आध्यात्मिक भोजन न पाकर धर्म से विरक्त हो रहे थे, वेदान्त पर लट्टू हो गए, और स्वामीजी में इनकी इतनी श्रद्धा हो गयी कि यहाँ से जब वे चले, तो उनके साथ कई अँगरेज शिष्य थे, जिनमें कुमारी नोबल भी थीं, जो बाद को भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। स्वामीजी ने अँगरेजों के रहन-सहन और चरित्र-स्वभाव को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा-समझा। इस अनुभव की चर्चा करते हुए भाषण में आपने कहा कि यह क्षत्रियों और वीर पुरुषों की जाति है।

16 सितम्बर 1896 ई॰ को स्वामीजी कई अँगरेज चेलों के साथ प्रिय स्वदेश को रवाना हुए। भारत के छोटे-बड़े सब लोग आपकी उज्ज्वल विरुदावली को सुन-सुनकर आपके दर्शन के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। आपके स्वागत और अभ्यर्थना के लिए नगर-नगर में कमेटियाँ बनने लगीं। स्वामीजी जब जहाज से कोलम्बो में उतरे, तो जनसाधारण ने जिस उत्साह और उल्लास से आपका स्वागत किया, वह एक दर्शनीय दृश्य था। कोलम्बो से अल्मोड़ा तक जिस-जिस नगर में आप पधारे, लोगों ने आपकी राह में आँखें बिछा दीं। अमीर-गरीब, छोटे-बड़े सबके हृदय में आपके लिए एक-सा आदर-सम्मान था। यूरोप में बड़े विजेताओं को जो अभ्यर्थना हो सकती है, उसमें कई गुना अधिक भारत में स्वामीजी की हुई। आपके दर्शन के लिए लाखों की भीड़ जमा हो जाती थी और लोग आपको एक नजर देखने के लिए मंजिलें तय करके आते थे; क्योंकि भारतवर्ष लाख गया-बीता है फिर भी एक सच्चे सन्त और महात्मा का जैसा कुछ आदर-सम्मान भारतवासी कर सकते हैं, वैसा और किसी देश में संभव नहीं। यहाँ मन को जीतने और हृदयों को वश में करनेवाले विजेता का देश को जीतने और मानव-प्राणियों का रक्त बहाने वाले विजेता से कहीं अधिक आदर-सम्मान होता है।

हर शहर में जनसाधारण की ओर से आपके कार्यों की बड़ाई और कृतज्ञता-प्रकाश करने वाले मानपत्र दिए गए। कुछ बड़े शहरों में तो पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस मानपत्र दिए गए और आपने उनके उत्तर में देशवासियों को देशभक्ति के उत्साह और अध्यात्म-तत्त्व से भरी हुई वक्तृताएँ सुनायीं। चेन्नई में आपके स्वागत के लिए 17 आलीशान फाटक बनाए गए। महाराज रामनद ने, जिनकी सहायता से स्वामीजी अमेरिका गए थे, इस समय बड़े उत्साह और उदारता के साथ आपके स्वागत का आयोजन किया। चेन्नई के विभिन्न स्थानों में घूमते और अपने अमृत उपदेशों से लोगों को तृप्त, आह्लादित करते हुए 28 फरवरी को स्वामीजी कोलकाता (तब कलकत्ता) पधारे। यहाँ आपके स्वागत-अभिनन्दन के लिए लोग उपस्थित थे। राजा विनयकृष्ण बहादुर ने स्वयं मानपत्र पढ़ा, जिसमें स्वामीजी ने भारत का गौरव बढ़ानेवाले कार्यों का बखान किया गया था।

उत्तर में स्वामीजी ने एक अति पाण्डित्यपूर्ण भाषण किया।

अध्यापन और उपदेश में अत्यधिक श्रम करने के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया और जलवायु-परिवर्तन के लिए आपको दार्जिलिंग जाना पड़ा। वहाँ से अल्मोड़ा गए। पर स्वामीजी ने तो वेदान्त के प्रचार का व्रत ले रखा था, उनको बेकारी में कब चैन आ सकता था? ज्योंही तबियत जरा सँभली, स्यालकोट पधारे और वहाँ से लाहौर वालों की भक्ति ने अपने यहाँ खींच बुलाया। इन दोनों स्थानों में आपका बड़े उत्साह से

स्वागत-सत्कार हुआ और आपने अपनी अमृतवाणी से श्रोताओं के अन्तःकरण में ज्ञान की ज्योति जगा दी। लाहौर से आप कश्मीर गए और वहाँ से राजपुताने का भ्रमण करते हुए कोलकाता लौट आए। इस बीच आपने दो मठ स्थापित कर दिए थे। इसके कुछ दिन बाद रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिसका उद्देश्य लोकसेवा है और जिसकी शाखाएँ भारत के हर भाग में विद्यमान हैं तथा जनता का अमित उपकार कर रही हैं।

1897 ई॰ का साल सारे हिन्दुस्तान के लिए बड़ा मनहूस था। कितने ही स्थानों में प्लेग का प्रकोप था और अकाल भी पड़ रहा था। लोग भूख और रोग से काल का ग्रास बनने लगे। देशवासियों को इस विपत्ति में देखकर स्वामीजी कैसे चुप बैठ सकते थे? आपने लाहौरवाले भाषण में कहा था–

"साधारण मनुष्य का धर्म यही है कि साधु-संन्यासियों और दीन-दुखियों को भरपेट भोजन कराए। मनुष्य का हृदय ईश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर है, और इसी मन्दिर में उसकी आराधना करनी होगी।"

फलतः आपने बड़ी सरगर्मी से खैरातखाने खोलना आरम्भ किया। उन्होंने देश-सेवाव्रती संन्यासियों की एक छोटी-सी मण्डली बना दी। ये सब स्वामीजी के निरीक्षण में तन-मन से दीन-दुखियों की सेवा में लग गए। मुर्शिदाबाद, ढाका, कोलकाता, चेन्नई आदि में सेवाश्रम खोले गए। वेदान्त के प्रचार के लिए जगह-जगह विद्यालय भी स्थापित किए गए। कई अनाथालय भी खुले। और यह सब स्वामीजी के सदुद्योग का सुफल था। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ रहा था, फिर भी वे स्वयं घर-घर घूमते और पीड़ितों को आश्वासन तथा आवश्यक सहायता देते-दिलाते। प्लेग-पीड़ितों की सहायता करना, जिनसे डाक्टर लोग भी भागते थे, कुछ इन्हीं देशभक्तों का काम था।

उधर इंग्लैंड और अमेरिका में भी वह पौधा बढ़ रहा था, जिसका बीज स्वामीजी ने बोया था। दो संन्यासी अमेरिका में और एक इंग्लैंड में वेदान्त प्रचार मे लगे हुए थे और प्रेमियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती थी।

स्वामीजी का स्वास्थ्य जब बहुत बिगड़ गया, तो आपने लाचार हो इंग्लैंड की दूसरी यात्रा की और वहाँ कुछ दिन ठहरकर अमेरिका चले गए। वहाँ आपका बड़े उत्साह से स्वागत हुआ। दो बरस पहले जिन लोगों ने आपके श्रीमुख से वेदान्त-दर्शन पर जोरदार वक्तृताएँ सुनी थीं, वे अब पक्के वेदान्ती हो गए थे। स्वामीजी के दर्शन से उनके हर्ष की सीमा न रही। वहाँ की जलवायु स्वामीजी को लाभजनक सिद्ध हुई और कठिन श्रम करने पर भी कुछ दिन में आप फिर स्वस्थ हो गए।

धीरे-धीरे हिन्दू-दर्शन के प्रेमियों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि स्वामीजी दिन-रात श्रम करके भी उनकी पिपासा तृप्त न कर सकते थे। अमेरिका जैसे व्यापारी देश में एक हिन्दू संन्यासी का भाषण सुनने के लिए दो-दो हजार आदमियों का जमा हो जाना कोई साधारण बात नहीं है। अकेले सानफ्रांसिस्को नगर में आपने हिन्दू-दर्शन पर पूरे पचास व्याख्यान दिए। श्रोताओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती गयी। पर अध्यात्म-तत्त्व के प्रेमियों की तृप्ति केवल दार्शनिक व्याख्यान सुनने से न होती थी। साधन और योगाभ्यास की आकांक्षा भी उनके हृदयों में जगी। स्वामीजी ने उनकी सहायता से सानफ्रांसिस्को में 'वेदान्त सोसाइटी' और 'शान्ति आश्रम' बनाया और दोनों पौधे आज तक हरे-भरे हैं। 'शान्ति-आश्रम' नगर के कोलाहल से दूर एक परम रमणीय स्थान पर स्थित है और उसका घेरा लगभग 200 एकड़ है। यह आश्रम एक उदार धर्मानुरागिनी महिला की वेदान्यता का स्मारक है।

स्वामीजी न्यूयार्क में थे कि पेरिस में विभिन्न धर्मों का सम्मेलन करने की आयोजना हुई और आपको भी निमंत्रण मिला। उस समय तक आपने फ्रांसीसी भाषा में कभी भाषण न किया था। यह निमंत्रण पाते ही उसके अभ्यास में जुट गए और आत्मबल से दो महीने में ही उस पर इतना अधिकार पा लिया कि देखनेवाले दंग हो जाते। पेरिस में आपने हिन्दू-दर्शन पर दो व्याख्यान दिए, पर चूँकि यह केवल निबन्ध पढ़नेवालों का सम्मेलन था, और उसका उद्देश्य सत्य की खोज नहीं, किन्तु पेरिस प्रदर्शनी की शोभा बढ़ाना था, इसलिए फ्रांस में स्वामीजी को सफलता न हुई।

अन्त में अत्यधिक श्रम के कारण स्वामीजी का शरीर बिल्कुल गिर गया। यों ही बड़े कमजोर हो रहे थे, पेरिस-सम्मेलन की तैयारी ने और भी कमजोर बना दिया। अमेरिका, इंग्लैंड और फ्रांस की यात्रा करते हुए जब आप स्वदेश लौटे, तो देह में हड्डियाँ भर रह गयी थी और इतनी शक्ति न थी कि सार्वजनिक सभाओं में भाषण कर सकें। डाक्टरों की कड़ी ताकीद थी कि आप कम-से-कम दो साल तक पूर्ण विश्राम करें। पर जो हृदय अपने देशवासियों के दुःख देखकर गला जाता हो, और जिसमें भलाई की धुन समायी हो, जिसमें यह लालसा हो कि आज की धन और बल से हीन हिन्दू जाति फिर पूर्वकाल की सबल-समृद्ध और आत्मशालिनी आर्य जाति बने, उससे यह कब हो सकता था कि एक क्षण के लिए भी आराम कर सके। कोलकाता पहुँचते ही, कुछ ही दिनों बाद आप आसाम की ओर रवाना हुए और अनेक सभाओं में वेदान्त का प्रचार किया। कुछ तो स्वास्थ्य पहले से ही बिगड़ा हुआ था, कुछ उधर का जलवायु भी प्रतिकूल सिद्ध हुआ। आप फिर कोलकाता लौटे। दो महीने तक हालत बहुत नाजुक रही। फिर बिल्कुल तन्दुरुस्त हो गए।

इन दिनों आप अक्सर कहा करते थे कि अब दुनिया में मेरा काम पूरा हो चुका। पर चूँकि उस काम को जारी रखने के लिए जितेन्द्रिय, नि:स्वार्थ और आत्मबल सम्पन्न संन्सासियों की अत्यन्त आवश्यकता थी, इसलिए अपने बहुमूल्य जीवन के शेष मास आपने अपनी शिष्य-मण्डली की शिक्षा और उपदेश में लगाए। आपका कथन था कि शिक्षा का उद्देश्य पुस्तक पढ़ाना नहीं है, किन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाना है। इन दिनों आप अक्सर समाधि की अवस्था में रहा करते थे और अपने भक्तों से कहा करते थे कि अब मेरे महाप्रस्थान का समय बहुत समीप है। 4 जुलाई 1902 को यकायक आप समाधिस्थ हो गए। इस समय आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। सेवरे दो घण्टे समाधि में रहे थे, दोपहर को शिष्यों को पाणिनीय व्याकरण पढ़ाया था और तीसरे पहर दो घण्टे तक वेदापदेश करते रहे। इसके बाद समाधिस्थ हो गए और इसी रात को पंचभौतिक शरीर का त्याग कर परमधाम को सिधार गए। यह दुर्बल पार्थिव देह आत्म-साक्षात्कार की दिव्यानुभूति को न सह सकी।

पहले लोगों ने इस अवस्था को समाधि मात्र समझा और एक संन्यासी ने आपके कान में परमहंस जी का नाम सुनाया; पर जब इसका कुछ असर न हुआ, तब लोगों को विश्वास हो गया कि आप ब्रह्मलीन हो गए। आपके चेहरे पर तेज था और अधखुली आँखें आत्मज्योति से प्रकाशित थीं।

इस हृदय-विदारक समाचार को सुनते ही सारे देश में कोलाहल मच गया और दूर-दूर से लोग आपके अन्तिम दर्शन के लिए कोलकाता पहुँचे। अन्त में दूसरे दिन दो बजे के समय गंगातट पर आपकी दाहक्रिया हुई। परमहंस जी की भविष्यवाणी थी कि मेरे इस शिष्य के जीवन का उद्देश्य जब पूरा हो जाएगा, तब वह भरी जवानी में इस दुनिया से चल देगा। वह अक्षरश: सत्य निकली।

स्वामीजी का रूप बड़ा सुन्दर और भव्य था। शरीर सबल और सुदृढ़ था। वजन दो मन से ऊपर था। दृष्टि में बिजली का असर था और मुखमण्डल पर आत्मतेज का आलोक। आपकी दयालुता की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। कड़ी बात शायद जबान से एक बार भी न निकली हो। विश्वविख्यात और विश्ववन्द्य होते हुए भी स्वभाव अति सरल और व्यवहार अति विनम्र था। उनका पाण्डित्य अगाध, असीम था। अँगरेजी के पूर्ण पण्डित और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे। संस्कृत साहित्य और दर्शन के पारगामी विद्वान और जर्मन, हिब्रू, ग्रीक, फ्रेंच आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार रखते थे। कठोर श्रम तो आपका स्वभाव ही था। केवल चार घण्टे सोते। चार बजे तड़के उठकर जप-ध्यान में लग जाते। प्राकृतिक दृश्यों के बड़े प्रेमी थे। भोर में तप-जप से निवृत होकर मैदान में निकल जाते और प्रकृति-सुषमा का आनन्द लेते। पालतू पशुओं को प्यार करते और उनके साथ खेलते। अपने गुरुदेव की अन्त समय तक पूजा करते रहे। स्वर में बड़ा माधुर्य और प्रभाव था।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कभी-कभी आपसे भजन गाने की फरमाइश किया करते थे और उससे इतने प्रभावित होते कि आत्मविस्मृत-से हो जाते। मीराबाई और तानसेन के प्रेमभरे गीत आपको बहुत प्रिय थे। वाणी में वह प्रभाव था कि वक्तताएँ श्रोताओं के हृदयों पर पत्थर की लकीर बन जाती। कहने का ढंग और भाषा बहुत सरल होती थी; पर उन सीधे-सादे शब्दों में कुछ ऐसा आध्यात्मिक भाव भरा होता था कि सुननेवाले तल्लीन हो जाते थे। आप सच्चे देशभक्त थे, राष्ट्र पर अपने को उत्सर्ग कर देने की बात आपसे अधिक शायद ही और किसी के लिए सही हो सकती हो। देशभक्ति का ही उत्साह आपको अमेरिका ले गया था। अपने विपद्ग्रस्त राष्ट्र और अपने प्राचीन साहित्य तथा दर्शन का गौरव दूसरे राष्ट्रों में स्थापित करना, ब्रह्मचारियों को शिक्षा देना, अपने पीड़ित देशवासियों के लिए जगह-जगह खैरातखाने खुलवाना—यह सब आपके सच्चे देशप्रेम के स्मारक हैं। आप केवल महर्षि ही न थे, ऐसे देशभक्त भी थे, जिसने देश पर अपने आपको मिटा दिया हो। एक भाषण में फरमाते हैं—

"मेरे नौजवान दोस्तों! बलवान बनो। तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है। तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पुट्ठे अधिक दृढ़ होंगे तो तुम भगवद्गीता के उपेदशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकते हो। गीता का उपदेश कायरों को नहीं दिया गया था; किन्तु अर्जुन को दिया गया था, जो बड़ा शूरवीर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था। कृष्ण भगवान के उपदेश और अलौकिक शक्ति को तुम तभी समझ सकोगे, जब तुम्हारी रगों में खून कुछ और तेजी से दौड़ेगा।"

एक दूसरे व्याख्यान में उपदेश देते हैं— "यह समय आनन्द में भी आँसू बहाने का नहीं। हम रो तो बहुत चुके। अब हमारे लिए नरक बनाने की आवश्यकता नहीं। इस कोमलता ने हमें इस हद तक पहुँचा दिया है कि हम रूई का गाला बन गए हैं। अब हमारे देश और जाति को जिन चीजों की जरूरत है, वह है—लोहे के हाथ-पैर और फौलाद के सारे पुट्ठे और वह दृढ़ संकल्पशक्ति, जिसे दुनिया की कोई वस्तु रोक नहीं सकती; जो प्रकृति के रहस्यों की हद तक पहुँच जाती है और अपने लक्ष्य से कभी विमुख नहीं होती, चाहे उसे समुद्र की तह में जाना या मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े। महत्ता का मूलमंत्र विश्वास है— दृढ़ और अटल विश्वास है अपने आप और सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर पर विश्वास।"

स्वामीजी को अपने ऊपर जबरदस्त विश्वास था। स्वयं उन्हीं का कथन है— "गुरुदेव के गले में एक फोड़ा निकल आया था। धीरे-धीरे उसने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कोलकाता के सुप्रसिद्ध डाक्टर बाबू महेन्द्रलाल सरकार बुलाए गए। उन्होंने परमहंस जी की हालत देखकर निराशा जतायी और चलते समय शिष्यों से कहा कि यह रोग संक्रामक है, इसलिए इससे बचते रहो और गुरुजी के पास बहुत देर तक न ठहरा करो। यह सुनकर शिष्यों के होश उड़ गए और आपस में कानाफूसी होने लगी। मैं उस समय कहीं गया था। लौटा तो अपने गुरुभाइयों को अति भयभीत पाया। कारण मालूम होते ही मैं सीधे अपने गुरुदेव के कमरे में चला गया। वह प्याली, जिसमें उनके गले से निकला हुआ मवाद रखा हुआ था, उठा ली, और सब शिष्यों के सामने बड़े इत्मीनान से पी गया और बोला— देखो, मृत्यु क्योंकर मेरे पास आती है?"

स्वामीजी समाजिक सुधारों के पक्के समर्थक थे, पर उनकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय समाज-सुधार के जो यत्न किए जाते थे, वे प्राय: उच्च और शिक्षित वर्ग से ही सम्बन्ध रखते थे। परदे की रस्म, विधवा-विवाह, जाति-बन्धन—यही इस समय की सबसे बड़ी सामाजिक समस्याएँ हैं, जिनमें सुधार होना अत्यावश्यक है, और सभी शिक्षित वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं। स्वामीजी का आदर्श बहुत ऊँचा था अर्थात् निम्न श्रेणीवालों को ऊपर उठाना, उन्हें शिक्षा देना और अपनाना। ये लोग हिन्दू जाति की जड़ हैं और शिक्षितवर्ग उसकी शाखाएँ। केवल डालियों को सींचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता। उसे हरा-भरा बनाना हो, तो जड़ को सींचना होगा। इसके सिवा इस विषय में आप कठोर शब्दों के व्यवहार को अति अनुचित समझते थे, जिनका फल केवल यही होता है कि जिनका सुधार करना है, वही लोग चिढ़कर ईंट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाते हैं और सुधार का मलतब केवल यही रह जाता है कि निरर्थक विवादों और दिल दुखानेवाले आलोचनाओं से पन्ने-के-पन्ने काले किए जाएँ। इसी से तो समाज-सुधार का यत्न आरम्भ हुए सौ साल से ऊपर हो चुके और अभी तक कोई नतीजा न निकला।

स्वामीजी ने सुधारक के लिए तीन शर्तें रखी है। पहली यह कि देश और जाति का प्रेम उसका स्वभाव बन गया हो, हृदय उदार हो और देशवासियों की भलाई की सच्ची इच्छा उसमें बसती हो। दूसरी यह कि अपने प्रस्तावित सुधारों पर उसको दृढ़ विश्वास हो। तीसरी यह कि वह स्थिरचित्त और दृढ़निश्चय हो। सुधार के परदे में अपना कोई काम बनाने की दृष्टि न रखता हो और अपने सिद्धान्तों के लिए बड़े-से-बड़ा कष्ट और हानि उठाने को तैयार हो, यहाँ तक कि मृत्यु का भय उसे अपने संकल्प से न डिगा सके। कहते थे कि ये तीनों योग्यताएँ जब तक हममें पूर्ण मात्रा में उत्पन्न न हो जाएँ, तब तक समाज-सुधार के लिए हमारा यत्न करना बिल्कुल बेकार है, पर हमारे सुधारकों में कितने हैं, जिनमें यह योग्यताएँ विद्यमान हों। फरमाते हैं— "क्या भारत में कभी सुधारकों की कमी रही है? क्या तुम कभी भारत का इतिहास पढ़ते हो? रामानुज कौन थे? शंकर कौन थे? नानक कौन थे? चैतन्य कौन थे? दादू कौन थे? क्या रामानुज नीची जातियों की ओर से लापरवाह थे? क्या वे आजीवन इस बात का यत्न नहीं करते रहे कि चमारों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लें? क्या उन्होंने मुसलमानों को अपनी मण्डली में मिलाने की कोशिश नहीं की थी? क्या गुरु नानक ने हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों को मिलाकर एक बनाना नहीं चाहा था? इन सब महापुरुषों ने सुधार के लिए यत्न किए और उनका नाम अभी तक कायम है। अन्तर इतना है कि वे लोग कटुवादी न थे। उन्हें मुँह से जब निकलते थे, मीठे वचन ही निकलते थे। वे कभी किसी को गाली नहीं देते थे, किसी की निन्दा नहीं करते थे। नि:सन्देह सामाजिक जीवन के सुधार के इन गुरुतर और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की हमने उपेक्षा की है और प्राचीनों ने जो मार्ग स्वीकार किया था, उससे विमुख हो गए है।"

सामाजिक सुधार के समस्त प्रचलित प्रश्नों में से स्वामीजी केवल एक के विषय में सुधारकों से सहमत थे। बाल-विवाह और जनसाधारण की गृहस्थ-जीवन की अत्याधिक प्रवृत्ति को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे, अत: रामकृष्ण मिशन की ओर से जो विद्यालय स्थापित किए गए, उनमें पढ़नेवालों के माँ-बाप को यह शर्त भी स्वीकार करनी पड़ती है कि बेटे का ब्याह 18 साल के पहले न करेंगे। वे ब्रह्मचर्य के जबरदस्त समर्थक थे और भारतवर्ष की वर्तमान भीरुता और पतन को ब्रह्मचर्यनाश का ही परिणाम समझते थे। आजकल के हिन्दुओं के बारे में अक्सर वे तिरस्कार के स्वर में कहा करते थे कि यहाँ भिखमंगा भी यह आकांक्षा रखता है कि ब्याह कर लूँ और देश में दस-बारह गुलाम और पैदा कर दूँ।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के आप कट्टर विरोधी थे। आपका मत था कि "शिक्षा जानकारी का नाम नहीं है, जो हमारे दिमाग में ठूँस दी जाती है; किन्तु शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का उत्कर्ष, आचरण का सुधार और पुरुषार्थ तथा मनोबल का विकास है, ... अत: हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमारी सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का प्रबन्ध हमारे हाथ में हो और उसका संचालन यथासंभव हमारी प्राचीन रीति-नीति और प्राचीन प्रणाली पर किया जाए।"

स्वामीजी की शिक्षा-योजना बहुत विस्तृत थी। एक हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने का भी आपका विचार था, पर अनेक बाधाओं के कारण आप उसे कार्यान्वित न कर सके। हाँ, उसका सूत्रपात अवश्य कर गए।

धर्मगत रागद्वेष का तो आपके स्वभाव में कहीं लेश भी न था। दूसरे धर्मों की निन्दा और अपमान को बहुत अनुचित मानते थे। ईसाई धर्म, इस्लाम, बौद्ध धर्म सबको समान दृष्टि से देखते थे। एक भाषण में हजरत व ईसा को ईश्वर का अवतार माना था। अपने देशवासियों को सदा इस बात की याद दिलाते रहते थे कि आत्म-विश्वास ही महत्व का मूलमंत्र है। हमें अपने ऊपर बिल्कुल भरोसा नहीं। अपने को छोटा और नीचा समझते हैं, इसी कारण दीन-हीन बने हुए हैं। हर अँगरेज समझता है कि मैं शूरवीर हूँ, साहसी हूँ और जो चाहूँ कर सकता हूँ। हम हिन्दुस्तानी अपनी असमर्थता के इस हद तक कायल हैं कि मर्दानगी का ख्याल भी हमारे दिलों में नहीं पैदा होता है। जब कोई कहता है कि तुम्हारे पुरखे निर्बुद्धि थे, वे गलत रास्ते पर चले और इसी कारण तुम इस अवस्था को पहुँचे, तो हमको जितनी लज्जा होती है, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता और हमारी हिम्मत और भी टूट जाती है।

स्वामीजी इस तत्त्व को खूब समझते थे और किसी दूषित प्रथा के लिए अपने पूर्व-पुरुषों को कभी दोष नहीं देते थे। कहते थे कि हरएक प्रथा अपने समय में उपयोगी थी और आज उसकी निन्दा करना निरर्थक है। आज हम इस बात पर जोर दे रहे हैं कि साधु-समुदाय के अस्तित्व से हमारे देश को कोई लाभ नहीं, और हमारी दान-धारा को इधर से हटकर शिक्षा-संस्थाओं और समाज-सुधार के कार्यों की ओर बहना चाहिए। स्वामीजी इसे स्वार्थपरता मानते थे। और है भी ऐसा ही। साधु कितना ही अनपढ़ हो, अपने धर्म और शास्त्रों से कितना ही अनभिज्ञ हो, फिर भी हमारे अशिक्षित देहाती भाइयों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति और मन:समाधान के लिए उसके पास काफी विद्या-ज्ञान होता है। उसकी मोटी-मोटी धर्म-सम्बन्धी बातें कितने ही दिलों में जगह पाती और कितनों के लिए कल्याण का साधन बनती हैं। अब अगर इनकी आवश्यकता नहीं समझी जाती, तो कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए, जिससे उनका काम जारी रहे। पर हम इस दिशा में तो तनिक भी नहीं सोचते और जो रहा-सहा साधन है, उसे भी तोड़-फोड़कर बराबर किया चाहते हैं।

सारांश, स्वामीजी अपनी जाति के आचार-व्यवहार, रीति-नीति, साहित्य और दर्शन, सामाजिक जीवन, उसके पूर्वकाल के महापुरुष और पुनीत भारतभूमि–सबको श्रद्धेय और सम्मान्य मानते थे। आपके एक भाषण का निम्नलिखित अंश सोने के अक्षरों में लिखा जाने योग्य है– "प्यारे देशवासियों! पुनीत आर्यावर्त के बसनेवालों! क्या तुम अपनी इस तिरस्करणीय भीरुता से वह स्वाधीनता प्राप्त कर सकोगे, जो केवल वीर-पुरुषों का अधिकार है? हे भारतनिवासी भाइयों! अच्छी तरह याद रखो कि सीता, सावित्री और दमयन्ती तुम्हारी जाति की देवियाँ हैं। हे वीर पुरुषों! मर्द बनो और ललकारकर कहो, मैं भारतीय हूँ। मैं भारत का रहनेवाला हूँ। हरएक भारतवासी, चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अनपढ़ भारतीय, निर्धन भारतीय, ऊँची जाति का भारतीय, नीची जाति का भारतीय– सब मेरे भाई हैं। भारतीय मेरा भाई है। भारत मेरा जीवन है, मेरा प्राण है। भारत के देवता मेरा भरण-पोषण करते हैं। भारत मेरे बचपन के हिंडोला, मेरे यौवन का विलास-भवन और बुढ़ापे का बैकुण्ठ है। हे शंकर! हे धरती माता! मुझे मर्द बना। मेरी दुर्बलता दूर कर और मेरी भीरुता का नाश कर!"

स्वामीजी के उपदेशों का सार यह है कि हम स्वजाति और स्वदेश के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करें, आत्मबल प्राप्त करें, बलवान और वीर बनें। नीची जातियों को उभारें और उन्हें अपना भाई समझें। जब तक 10 प्रतिशत भारतवासी अपने को दीन-हीन समझते रहेंगे, भारत में एकता और मेल का होना सर्वथा असम्भव है। हम धर्म में आस्था रखें, पर संन्यासी-विरागी न बनें। हाँ, हम अपने एका के लिए सब प्रकार के त्याग करने को तैयार रहें। हम एक पैसा कमाएँ, पर उसे अपने सुख-विलास में खर्च न करें, राष्ट्रहित में लगा दें। हिन्दू तत्त्वज्ञान के कर्म-सम्बन्धी अंग का अनुसरण करें। शम, दम और तप, त्याग उन लोगों के लिए छोड़ दें, जिन्हें भगवान ने इस उच्च पद पर पहुँचने की क्षमता प्रदान की है।

स्वामीजी की शिक्षा का आधार प्रेम और शक्ति है। निर्भीकता उसका प्राण है और आत्मविश्वास उसका धर्म है। उनकी शिक्षा में दुर्बलता और अनुनय-विनय के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। उनका वेदान्त मुनष्य को सांसारिक दु:ख-क्लेश से बचाने, जीवन-संग्राम में वीर की भाँति जुटने और मानसिक आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति की समान रूप से शिक्षा देता है।

□□□

स्वामीजी के सन्देश की प्रासंगिकता

–आचार्य पं० विष्णुकान्त शास्त्री

(विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर द्वारा 8 अक्टूबर, 2001 को आयोजित 'स्वामी आत्मानन्द व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत प्रमुख अतिथि के रूप में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम पं० विष्णुकान्त शास्त्री ने एक विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया था। टेप पर से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री वीरेन्द्र वर्मा ने सम्पन्न किया है।)

आज का जो विषय है, यह मात्र इसलिए रखा गया है कि इसी बहाने हम स्वामी विवेकानन्द जी के सन्देशों का बारम्बार स्मरण करें। स्वामीजी का सन्देश समय-सापेक्ष नहीं था। ऐसी बात नहीं कि उसकी केवल अपने समय में ही उपयोगिता रही हो। वह सार्वभौमिक सत्य है, सार्वकालिक सत्य है। सब देशों में, सब कालों में उनके सन्देश की महिमा अक्षुण्ण रहनेवाली है। यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि अपनी-अपनी पात्रता के अनुरूप हम उसका कितना ग्रहण कर पाते हैं। स्वामीजी ने काफी-कुछ लिखा है, बहुत-से व्याख्यान दिए हैं। उनका साहित्य दस खण्डों में संकलित है, पर अपने सन्देशों का सार-तत्त्व उन्होंने एक सूत्र में व्यक्त किया है। वह सूत्र मैं बारम्बार दुहराता रहता हूँ– **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**।

हम क्यों जी रहे हैं? हमारे जीवन की सार्थकता किसमें है? हम अपना जीवन कैसे जीएँ? ये प्रश्न हम सबको मथते हैं। यदि नहीं मथते हों तो मथने चाहिएँ। कोई भी विवेकी व्यक्ति नदी के प्रवाह में पड़ी हुई लकड़ी की भाँति बहता रहे–यह उचित नहीं है। जड़ लकड़ी प्रवाह की दिशा में ही बहती रहेगी, पर हम लोगों में जो विवेक है, जो चैतन्य का अंश है, वह हमें इस बात के लिए प्रयत्नशील करे कि हमारा जीवन न केवल सफल, बल्कि चरितार्थ हो। मैं चरितार्थता और सफलता में भेद करता हूँ। कई बार लौकिक दृष्टि से वे लोग सफल माने जाते हैं, जो छल-छद्म करके किसी बड़े पद पर पहुँच गए या जिन्होंने येन-केन-प्रकारेण धन कमा लिया। लौकिक दृष्टि से ऐसे लोग सफल माने जा सकते हैं, पर उनका जीवन चरितार्थ या कृतार्थ नहीं है। कभी-कभी तो आज के सफल लोगों को देखकर लगता है कि–हे भगवान्, हम ऐसे सफल न बनें। फिराक गोरखपुरी का एक शेर मुझे बारम्बार याद आता है–

जो कामयाब हैं, दुनिया में क्या कहिये।
है इससे बढ़के भले आदमी की क्या तौहीन॥

आज के जमाने में कामयाब! कैसे लोग कामयाब हो रहे हैं? जल्दी-से-जल्दी, ज्यादा-से-ज्यादा रुपये कैसे कमा रहे हैं! दूसरों को लंगड़ी मारकर, निरन्तर दल-बदल करते हुए सत्तानशीन हो जाने वाले लोग! क्या ये हमारे आदर्श हो सकते हैं? क्या इनसे हमें प्रेरणा मिल सकती है? क्या इनका जीवन चरितार्थ है? लौकिक दृष्टि से सफलता में जो दाव-पेंच हैं, जो छल-छद्म हैं, विवेकानन्द उसको स्वीकार नहीं करते। हमारा जीवन चरितार्थ कैसे होगा? सार्थक कैसे होगा? किसलिए परमात्मा ने हमको यहाँ भेजा है? हम क्या करें जिससे कि हमारा जीवन धन्य हो सके? इस बात को उन्होंने इस सूत्र में कह दिया– **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**।

हम आप क्या चाहते हैं? साधारण मनुष्य क्या चाहते हैं? स्वामीजी कहते हैं कि साधारण मनुष्य सुख चाहता है। सच्चा सुख कैसे मिलेगा– यह बात है उसकी समझ में नहीं आती, इसीलिए कई बार वह बहकता है। यदि उसे सही ढंग से बताया जाय कि सच्चा सुख किसमें है, तो वह सही रास्ते पर चलेगा। पर मोटे तौर पर सामान्य लोग जिस चीज को एक सीमा तक अनिवार्य मानते हैं, उनमें पहली बात यह है कि बिना पैसे के काम कैसे चलेगा? पैसे तो कमाने होंगे। पैसे न हों तो आदमी तो भूखा मरेगा। गोस्वामी तुलसीदास जी से पूछा गया कि सबसे बड़ा दु:ख क्या है? तो उन्होंने नि:संकोच कहा– **नहि दरिद्र सम दुख जग माही**–दरिद्रता से बढ़कर इस समाज में, इस

संसार में कोई दु:ख नहीं है। उनसे पूछा गया कि यदि दरिद्रता सबसे बड़ा दु:ख है, तो क्या प्रचुरता सबसे बड़ा सुख है? तो उन्होंने कहा– नहीं, प्रचुरता नहीं, सच्चे सन्त का संग ही सर्वोच्च सुख है, सन्त से मिलन–

नहि दरिद्र सम दुख जग माही।

संत मिलन सम सुख जग नाही॥

हमारे यहाँ दरिद्रता के साथ कभी समझौता नहीं किया गया। हम मानते है और स्वयं स्वामीजी ने यह बात बारम्बार कही है कि गरीबी हमारे देश का एक अभिशाप है। हमें गरीबी से ऊपर उठना ही होगा–यह सभी स्वीकार करते हैं।

साईं इतना दीजिये जामें कुटुम समाय।

मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय॥

अत: पहली बात कि आवश्यकता के लायक पैसा होना चाहिए। हमारे देश में मनुष्य की सबसे बड़ी कामनाओं को चरितार्थ करने के लिए एक शब्द कहा गया है– **पुरुषार्थ**।

आजकल कभी-कभी पुरुषार्थ शब्द का कठिन परिश्रम या उद्योग के अर्थ में प्रयोग होता है। यह इसका गौण अर्थ है। इसका वास्तविक अर्थ है–**पुरुषैः अर्चते इति**–मनुष्यों के द्वारा जो चाहा जाय। क्या चाहा जाता है?–**सुख**। सुख कैसे मिलेगा? पहली बात समझ में यह आती है कि हमें अपना योगक्षेम चलाने में सक्षम होना चाहिए। इतना धन हमें जरूर कमाना चाहिए। अत: **अर्थ** एक पुरुषार्थ है और इसे भारतीय समाज में एक पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

लेकिन वहीं यह भी कहा गया कि अर्थ कही अनर्थ का हेतु न बन जाय। शंकराचार्य ने डंके की चोट पर कहा–**अर्थम् अनर्थं भावय नित्यम्**–तुम अनर्थ रूपी अर्थ की उपासना करोगे, तो विपथगामी हो जाओगे। स्वामीजी ने पूर्व को देखा था और पश्चिम को भी देखा था। पश्चिम की समृद्धि देखकर उन्होंने कहा था– वहाँ बाहर से प्राचुर्य तो दिखता है, पर भीतर रुदन है, हाहाकार है; दूसरी ओर हमारे देश में गरीबी है, अशिक्षा है, कई तरह के अन्धविश्वास हैं, लेकिन अब भी इस देश का हृदय स्वस्थ है और भीतर निहित धर्म का बल भी छलक रहा है। स्वामीजी ने दोनों बातें कही थीं। इसलिए आज के युग में हमारी नई पीढ़ी के पीछे एक भूत सवार हो गया है। खासकर जब से उदारीकरण और भूमण्डलीकरण का दौर चला है, तब से लोग सोचते हैं कि कैसे हम जल्दी-से-जल्दी, ज्यादा-से-ज्यादा रुपये कमा लें और मौज-मजे करें–यही सर्वाधिक आवश्यक है। कैसे हम बहुराष्ट्रीय कंपनियों में नौकरी पा लें, क्योंकि ये कंपनियाँ महीने में पचास हजार से डेढ़ लाख तक वेतन देती हैं। हमारी परम्परा कहती है कि यह सुख का कारण नहीं हो सकता। स्वामीजी ने भी यही कहा और आज की दृष्टि से वह बात स्वीकार करनी होगी कि हमें केवल उतने ही धन से प्रयोजन है, जितने से सम्मानपूर्वक जीवन-निर्वाह हो। केवल धन के लिए पागल होकर दौड़ना अपने जीवन को गलत दिशा में लगा देना है और इसका प्रमाण आज के युग में देश की सबसे बड़ी व्याधि भ्रष्टाचार है। इस भ्रष्टाचार रूपी दानव ने सारे समाज के विकास को अवरुद्ध कर दिया है। आजादी के बाद से उसकी स्वर्ण जयन्ती तक के काल में मँहगाई और भ्रष्टाचार की ही ज्यादा प्रगति हुई है। यह पैसे के पीछे दौड़ने का पागलपन है। इससे सच्चा सुख नहीं मिलेगा, यह हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने अनेकों बार इस बात को समझाया है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम का एक मौलिक अन्तर बताते हुए कहा है कि पश्चिम की दृष्टि होती है–ज्यादा-से-ज्यादा कैसे प्राप्त करें। और पूर्व की दृष्टि है कि कम-से-कम में कैसे ससम्मान तथा गौरवपूर्वक जीएँ। भारतवर्ष में हमारा बड़प्पन पैसे से नहीं, ज्ञान और चरित्र से निर्धारित होता है। इसलिए धन पुरुषार्थ की एक सीमित आवश्यकता है, वह चरम स्थिति तक जरूरी नहीं है। आप ध्यान से देखें– हमारा सारा-का-सारा अर्थ हमारे बाहर है। हमारा मकान, हमारी मोटर, हमारा रुपया-पैसा–सब बाहर है। कोई हमको-आपको पहचानता नहीं है। हम कहते हैं कि मकान हमारा है, पर मकान हमें नहीं पहचानता। जिस गाड़ी को हम अपनी कहते हैं, वह भी हमें नहीं पहचानती। यह एकतरफा प्रेम है। यह वास्तविक स्थिति नहीं है। अर्थ की तुलना से अधिक आन्तरिक है–काम। काम का अर्थ केवल स्त्री-पुरुष सम्बन्ध नहीं है। काम का तात्पर्य है–अपनी ललित भावनाओं को, अपने सौन्दर्य-बोध को, अपने रमणीयत्व को हम कैसे अभिव्यक्त करते हैं। हमारी मान्यता के अनुसार काम रूपी पुरुषार्थ के अन्तर्गत साहित्य भी है, संगीत भी है, नृत्य भी है, नाटय भी हे, चित्र भी है और स्थापत्य भी है। ये सारे सौन्दर्य के प्रसाधन और साथ-ही-साथ मनुष्य के आत्म-विस्तार करने का भाव और फिर नर-नारी के निविड़ सम्बन्धों को भी इस काम पुरुषार्थ के भीतर लिया गया है। निश्चय ही अर्थ-पुरुषार्थ की तुलना में काम-पुरुषार्थ आन्तरिक है, भीतरी है।

काम की स्थिति हमारे मन में है और मन में स्थित रहकर जब हम काम का उपभोग करते हैं, तो गीता (7.11) में भगवान कहते हैं कि अर्थ और काम–दोनों ही धर्म-सम्मत हों–**धर्म-अविरुद्धः भूतेषू कामोऽस्मि भरतर्षभ**–जीवों को धर्म-सम्मत कामनाएँ मैं ही हूँ। 'अर्थ' तो स्पष्टत: साधन मात्र है, वह साध्य नहीं हो सकता। कामोपयोग के लिए, विलासितापूर्ण जीवन के लिए और इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी अर्थ साधन

हैं, पर अर्थ के उपभोग में सद्विवेक नहीं है। भर्तृहरि अपने 'नीतिशतकम्' (43) में कहते हैं–

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।

यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

वही धन धन्य है, जिसकी दानरूपी पहली गति होती है–**सो धन धन्य प्रथम गति जाकी**। यही अर्थ का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है। अत: अर्थ का साधन के रूप में उपयोग तो समझ में आता है, पर इसका साध्य के रूप में उपयोग पागलपन है। 'काम' पुरुषार्थ के द्वारा हम अपनी ललित चेतनाओं को कैसे बहिर्मुख, विभ्रान्तकारी का आत्मघाती होने से बचाएँ, यह भी हमारे पुरखों ने बारम्बार बताया है। काम का सुख संस्पर्शक सुख है। आँख जब सुन्दर रूप को देखती है, नाक जब सुगन्ध सूँघती है, रसना जब सुस्वादु भोजन करती है, त्वचा को जब कोमल स्पर्श प्राप्त होता है, कान जब मधुर शब्द सुनते हैं, तो हम सुख का अनुभव करते हैं। परन्तु ये सुख वास्तविक सुख नहीं है। गीता (5.22) में स्पष्ट कहा गया है–

ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

जो स्पर्श से होने वाला भोग है, विषयों तथा इन्द्रियों के योग से पैदा होने वाला सुख ही दु:ख की जड़ है। वह शुरू होता है, समाप्त होता है और फिर हमें तरह-तरह से सन्तप्त करता है। इसलिए हमारे देश में अर्थ और काम–दोनों को पुरुषार्थ तो माना गया, पर 'धर्म' की इससे वरेण्य स्थिति मानी गयी। ध्यान रहे कि धर्म की स्थिति और भी आन्तरिक है, मन से मन भी एक कदम आगे बढ़कर। मन तथा इन्दियों में काम-पुरुषार्थ रहता है और मन के परे जो बुद्धि है–शुद्ध बुद्धि या विवेक है, उसी में 'धर्म' का निवास है।

धर्म क्या है? **धारणात् धर्मः, धर्मो धारयते प्रजाः**– जो हमें धारण करे, जिससे हम-आप अच्छे मनुष्य बनें। मनुस्मृति (6.92) कहती है–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यम् अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

कैसा विचित्र हमारा धर्म है। इसमें मन्दिर नहीं, मस्जिद नहीं, गिरजा नहीं। वे भी धर्म के अंग हैं, लेकिन मूलत: हममें धैर्य हो, क्षमा हो, इन्द्रिय-निग्रह हो, बाहरी-भीतरी शुचिता हो, हम चोरी न करें, अपने मन को नियंत्रित करें, हममें शुद्ध बुद्धि हो, विद्या हो, सत्य हो, अक्रोधता हो। तब यह धर्म विकसित होता है और बड़ी बात यह है कि 'धर्म' आभ्यान्तर है और उसका निवास बुद्धि में है, पर स्वामीजी वहीं नहीं रुकते– **यो बुद्धेः परतस्तु सः**–बुद्धि के भी परे जो परम तत्त्व है, उसे भी आत्मसात् करते हैं। उसे स्वयं से अभेद बताते हैं। यह आत्मा का सहज स्वरूप ही 'मोक्ष' है। इस पर आगे चर्चा होगी।

अब हम देखेंगे कि वस्तुत: हमारे पुरखों ने क्या किया। अर्थ और काम विपथगामी न हो जाएँ, हम निर्लज्ज और अवैध पद्धति से अर्थोपार्जन न करें, कामोपभोग न करें, इसलिए हमारे पुरखों ने अर्थ तथा काम को धर्म तथा मोक्ष से सम्पुटित कर दिया। इस बात पर विचार कीजिये कि जब कभी हम अपने जीवन के पुरुषार्थ बताते हैं, तो उन्हें इसी क्रम में रखते हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म को पहले क्यों लाते हैं? क्योंकि हम जानते हैं–**धर्मात् अर्थश्च, स धर्मः किं न सेव्यते**। धर्मपूर्वक हम जो उपार्जन करेंगे और जो उपभोग करेंगे, उससे हमारा जीवन सही दिशा की ओर जाएगा, इसलिए धर्म को अर्थ तथा काम के पहले रखा गया। यद्यपि अर्थ की स्थिति बह्य और काम की स्थिति आभ्यान्तर इन्द्रियों एवं मन में, धर्म की स्थिति उससे भी सूक्ष्म बुद्धि में और मोक्ष की स्थिति आत्मा का सहज रूप। इसलिए धर्म और मोक्ष से सम्पुटित हमारा अर्थ और काम चले।

स्वामीजी ने बारम्बार यह बात दुहराई है कि भारतवर्ष की चेतना धर्म पर अवलम्बित है। अगर कोई एक तत्त्व भारत को भारत बनाता है, तो वह धर्म है। लेकिन धर्म के किस तत्त्व को उन्होंने सर्वाधिक महत्व दिया है? ध्यान दीजिए, उन्होंने सबसे ज्यादा जोर दिया है–सेवा-धर्म के ऊपर। उनके गुरु श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें समझाया था–जीवों पर दया नहीं, शिवबोध से उनकी सेवा। क्योंकि यदि तुम जीवों पर दया करोगे तो इससे तुममें अहंकार जगेगा। तुम स्वयं को उन्नत भूमिका में रखकर जीव का कल्याण कर रहे हो, ऐसा अहंकार तुमको विपथगामी कर देगा और इसलिए उन्होंने कहा–जीव के ऊपर दया करने का अहंकार छोड़कर शिवज्ञान से उनकी सेवा करो। यहाँ देखिये वे कैसे मोक्ष को धर्म से जोड़ते हैं। ईशावास्थ उपनिषद् का पहला मंत्र है–**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**–जो कुछ भी जड़ और चेतन है, इसका कण-कण परमात्मा के भाव से आच्छादित कर दो। सबमें परमात्मा का साक्षात्कार करो। इसी बात को श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं–शिवज्ञाने जीवसेवा। विवेकानन्द ने कहा–जो आत्मा तुममें और मुझमें है, वही चींटी में भी है, अत: चींटी के प्रति भी सम्मान तथा सद्भाव रखते हुए जान-बूझकर उसे कूचलकर न चलो। एक हिन्दी कहावत है–

राजा चले हाथी-घोड़ा पालकी सँवार के।

साधु चले पैंया पैंया कीड़िया निहार के॥

राजा हाथी, घोड़े तथा पालकी पर सज-सँवकर चलता है और साधु पैदल चलता है, कीड़ों, चीटियों आदि को देखते हुए

चलता है कि कहीं कुचल न जाएँ। दोनों में कितना अन्तर है। एक में अहंकार है और दूसरे में विनम्र-भाव है।

स्वामीजी ने इस मंत्र को स्वीकार किया–जीवों पर दया नहीं, शिवबोध से उनकी सेवा। कैसे सेवा करें? आपको जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि उन्होंने 'लक्ष्मी-नारायण' के देश में 'दरिद्र-नारायण' की स्थापना की। उन्होंने कहा–**दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवा भव**–निर्धन और अपढ़ ही तुम्हारे लिए सबसे बड़े देवता हैं। **नहि दरिद्र सम जग दुख माहीं**–दरिद्रता से कोई समझौता नहीं। **दरिद्रदेवो भव**–दरिद्रों की सेवा अर्थात् उन्हें स्वावलम्बन की शिक्षा दो। उन्हें अपने पाँव पर खड़े होने के उपाय बताओ। ये सही ढंग से जीविकोपार्जन कर सकें, उन्हें इसकी योग्यता दो। **मूर्खदेवो भव**–जो अशिक्षित है, अज्ञानी है, उन्हें ज्ञान दो, शिक्षित करो। पीड़ितों का उपचार करो। कोलकाता में प्लेग की महामारी के समय उन्होंने स्वयं रोगियों की सेवा की। यह सेवा का धर्म रामकृष्ण मिशन में सबसे बड़ा माना गया है। अपने गुरु की दी हुई इस सीख को रामकृष्ण मिशन के साधु-संन्यासी कैसी निष्ठा के साथ निभा रहे हैं। शिक्षादान में, चिकित्सा में, स्वावलम्बन की शिक्षा देने में रामकृष्ण मिशन की कोई तुलना नहीं हो सकती।

धर्म में भी सेवाधर्म पर बल देते हुए वे कहते हैं–वहाँ भी मत रुको, उससे एक कदम और आगे–**आत्मनो मोक्षार्थम्**–अपनी मुक्ति। हम जी इसलिए रहे हैं, भगवान ने हमें संसार में इसलिए भेजा है कि हम अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव करें। हम कौन हैं? क्या हम केवल नाम है? क्या हम केवल रूप हैं? क्या हम केवल देह है? मेरा नाम विष्णुकान्त शास्त्री कैसे हो गया? मेरे पिता ने यह नाम रख दिया। यह नाम मेरे साथ चिपक गया। यदि राधाकान्त रख देते, शिवकान्त या कोई और नाम रख देते तो? यह नाम मुझ पर आरोपित है। यह रूप भी 'मैं' नहीं हो सकता। अपने रूप, प्रतिक्षण बदलते रूप को मैं अपना आपा मान लूँ? यह मेरा आपा नहीं है। मैं इस नाम और रूप में सिमटकर छोटा हो गया हूँ, कट गया हूँ, टुकड़ों में बँट गया हूँ। मैं यह जड़ देह नहीं हूँ। इस बात की चेतना स्वामीजी ने बारम्बार जगायी। 'मोक्ष' शब्द का अर्थ है–छुटकारा। किससे छुटकारा? कैसे मिलेगा छुटकारा? स्वामीजी ने दो टूक शब्दों में कहा–अज्ञान से छुटकारा। तुम अपने को गलत समझते हो कि तुम नाम-रूपधारी सीमित सत्तावाले व्यक्ति मात्र हो। इस अज्ञान के कारण ही स्वार्थी बनते हो, इसी कारण तुम दूसरों के हितों से टकराते हो, इसी कारण तुम अधिक-से-अधिक संग्रह करते हो। यह रास्ता मोक्ष का नहीं है। उन्होंने कहा–त्याग ही मोक्ष का रास्ता है। भगिनी निवेदिता उनकी शिष्या थीं। उन्होंने बालिकाओं का एक विद्यालय चलाया। उनके विद्यालय का आदर्श-वाक्य था–**त्यागात् जायते शक्तिः भगवती**–त्याग से भगवती शक्ति का उदय होता है। इसका विलोम इस प्रकार होगा–**परिग्रहात् जायते शक्तिः भोगवती**–परिग्रह हममें भोगवती शक्ति जाग्रत करेगी और भोगवती शक्ति हमें बन्धन में डालेगी।

आप एक बात पर ध्यान दें। स्वामीजी ने 'राजयोग' नाम से 'पातंजल-योगसूत्र' पर एक टीका भी लिखी है। आजकल लोग 'योग' को 'योगा' कहते हैं, सुनकर मुझे बड़ा क्लेश होता है। यह आत्महीनता का सूचक है। अँगरेज यदि कहे तो समझ में आता है, लेकिन हम इसे 'योगा' क्यों कहें? योग का अर्थ केवल आसन नहीं है। यह यम और नियम से शुरू होता है। यम में बताया गया है कि संसार से हम कैसे व्यवहार करें। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह–इन पाँच तत्त्वों को हमारे राजयोग की आधारशिला बताया गया है। उनमें केवल एक बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करूँगा, इसमें बताया गया है कि काम-क्रोध-लोभ ये तीनों बड़े शत्रु हैं। काम को जीतने के लिए ब्रह्मचर्य, क्रोध को जीतने के लिए अहिंसा, लोभ को जीतने के लिए दो बातें होती हैं–एक दूसरे की चीज लेने के लिए हम बेईमानी करते हैं, चोरी करते हैं। इसके लिए कहा गया है–अस्तेय। लेकिन हम अपनी ईमानदारी से खूब कमाएँ, खूब धन पैदा करें, तो क्या हम परिग्रह करें? इस परिग्रह को रोकने के लिए कहा गया है–अपरिग्रह। परिग्रह का मतलब है कि चारों तरफ से एकत्रित करना। अपरिग्रह क्यों कहा गया?

यदि कोई असत्यवादी है, तो क्या संसार में उसकी मान्यता होती है? नहीं होती। यदि कोई अतिशय कामी है, तो क्या समाज में उसकी मान्यता होती है? नहीं होती। यदि कोई चोर है या प्रमाणित रूप से भ्रष्टाचारी है, तो क्या उसकी मान्यता होती है? नहीं होती। जो बहुत क्रोध करता है, क्या उसकी मान्यता होती है? नहीं होती। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य–इन चारों का उल्लंघन करने पर समाज में मान्यता नहीं मिलती। व्यक्ति निन्दित होता है। लेकिन अपरिग्रह का उल्लंघन करनेवाला, परिग्रह करनेवाला, समाज में सम्मानित होता है। यह एक विडम्बना है। परिग्रह से आज का समाज प्रभावित है। इसका निषेध करने के लिए स्वामीजी ने कहा–त्याग ही असली वस्तु है और भगिनी निवेदिता ने कहा–**त्यागात् जायते शक्तिः भगवती**। यदि आप चाहते हैं कि आपका जीवन चरितार्थ हो, सार्थक हो, आपमें भगवती शक्ति का उदय हो, तो उसका रास्ता परिग्रह का नहीं, त्याग का रास्ता है। परिग्रह से भोगवती शक्ति आकर आपको बन्धन में डालेगी। आपका क्या लक्ष्य है? **आत्मनो मोक्षार्थम्**–यदि आप मोक्ष के लिए, अपने चरम मंगल के लिए, चरम कल्याण के लिए प्रयत्नशील हैं, तो आपको भोग का रास्ता छोड़कर त्याग का मार्ग अपनाना चाहिए। परिग्रही

व्यक्तियों का समाज में सम्मान नहीं होना चाहिए।

मैं बारम्बार कहता हूँ कि भोग की ओर ले जाने वाला परिग्रह हमारे लिए हितकर नहीं हो सकता। इसलिए **त्यागात् जायते शक्तिः भगवती**। यह त्याग हमें मोक्ष की ओर ले जाता है। किसका त्याग? – आसक्ति का, कर्म-बन्धन का त्याग। यदि हम कर्ता के भाव से तथा फलाकांक्षा से कर्म करेंगे, तो स्वामीजी ने कहा कि यह दासों की भाँति काम करना हुआ। उन्होंने ईश्वर की भाँति, स्वामी की भाँति काम करने को कहा। स्वामी कैसे काम करता है? गीता (4.13-14) कहती है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिने स बध्यते॥

परमात्मा अहर्निश निरन्तर कर्म करते हैं। वे यदि कर्म न करें, तो सृष्टि नष्ट हो जाएगी। परन्तु वे कर्मबन्धन से इसलिए मुक्त है कि सब कुछ करके भी वे अकर्ता है। वे कुछ नहीं करते। कर्म करते हुए भी उन्हें फल की स्पृहा नहीं है। विवेकानन्द ने बारम्बार कहा है–गुलाम की तरह काम मत करो; स्वामी की तरह, परमात्मा की तरह काम करो, अपने को अकर्ता मानकर काम करो, कर्मफल की स्पृहा से मुक्त होकर काम करो और इस प्रकार अज्ञान से मुक्त हो जाओ। नाम और रूप में स्वयं को बद्ध मत करो, तुम पूरी सृष्टि में व्याप्त हो जाओ। नाम और रूप में स्वयं को बद्ध मत करो, तुम पूरी सृष्टि में व्याप्त हो– **तत्-त्वम्-असि**। उन्होंने कहा था कि यदि मेरे कोई पुत्र होता तो मैं उसे यही बताता–**निखिलः त्वम्**–तुम समस्त हो, पूर्ण हो। उन्होंने कहा कि सारी सृष्टि के साथ स्वयं को एकरूप कर दो। इसीलिए मोक्ष के बाद भी वे शुष्क ज्ञानी नहीं बनना चाहते थे। **आत्मनो मोक्षार्थम्**–अपने मोक्ष के लिए हमें त्याग के द्वारा साधना करनी होगी। हम अपने को आसक्ति से, कर्म-बन्धन से तथा अज्ञान से मुक्त करें और अपने शुद्ध आत्म रूप में, सच्चिदानन्द स्वरूप में अपने भीतरी आनन्द को प्राप्त करें। ब्रह्म इन्द्रियजनित सुख सच्चा सुख नहीं हो सकता। भीतर का आन्तरिक सुख ही अक्षय सुख है। सच्चिदानन्द रूप वह परम आनन्द ही मोक्ष का सुख है। मोक्ष यानि अक्षय सुख। स्वामीजी मस्ती में गाया करते थे–

मनो-बुद्ध्यहंकार-चित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमी न तेजो न वायुः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

इस चिदानन्द-रूपता की प्राप्ति, अपने को शिव के साथ एक कर देने की भावना– **आत्मनो मोक्षार्थम्**–परमात्मा ने इसीलिए हमारा-आपका जीवन दिया है ताकि हम सारे बन्धनों से मुक्त होकर अपनी पूर्णता को प्राप्त करें।

एक बात और कहूँगा और वह यह कि कई बार हमें लगता है कि श्रीरामकृष्ण देव बड़े भक्त और स्वामीजी बड़े ज्ञानी थे। एक सीमा तक यह बात सच हो सकती है, पर मुझे लगता है कि श्रीरामकृष्ण बड़े ज्ञानी थे और स्वामीजी बड़े भक्त थे। श्रीरामकृष्ण ने अपने प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द से कहा था, "तुम निर्विकल्प समाधि में रहना चाहते हो। तुम्हारी चाभी मैं अपने पास रखता हूँ। सारे समाज के मंगल के लिए तुम्हें जीना होगा।" और उन्हें काम में लगा दिया। स्वामीजी शुष्क ज्ञानी नहीं होना चाहते थे। श्रीमद्भगवत (7.9.44) में भक्त प्रहलाद भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं–

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥

"हे देव! मुनिगण प्रायः अपनी मुक्ति की कामना लिए मौन धारण करके निर्जन वन में विचरण करते हैं, दूसरों की भलाई से उनका कुछ लेना-देना नहीं है, परन्तु इन तमाम दुखियां को छोड़कर अकेला मुक्त हो जाना मुझे स्वीकार्य नहीं है। सारी पृथ्वी में आपके सिवा इनका मंगल करनेवाला दूसरा कोई नहीं दिखता। आप कृपा करके इस सबका मंगल करें।"

इस प्रकार भक्ति के साथ ज्ञान को जोड़ देना– **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**। सारे संसार के हित के लिए, सारे संसार के मंगल के लिए मुझे अन्तिम साँस तक काम करना है। **जगद्धिताय च**–ध्यान दें–केवल हिन्दुओं के हितार्थ नहीं, केवल भारत के कल्याण हेतु नहीं, बल्कि सारे जगत् के हित के लिए, सारे जगत् के मंगल हेतु मेरा जीवन समर्पित है। आत्मा क्या केवल भारतवर्ष में है? क्या केवल हिन्दुओं में है? आत्मा सारे विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है–**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**। सारी सृष्टि में, कण-कण में व्याप्त परमसत्ता का अनुभव प्राप्त कर लेनेवाला व्यक्ति **जगद्धिताय च**–सारी सृष्टि के मंगल के लिए काम करता है, केवल अपने परिवार, केवल अपनी उपासना-पद्धति के लोगों, केवल अपनी जाति, या केवल अपने देश के लिए नहीं।

क्या यह सन्देश कभी पुराना पड़ सकता है? क्या इस सन्देश की प्रासंगिकता आज नहीं है? जिन युद्धो के बीच से हमारा देश अभी गुजर रहा है और एक विश्वयुद्ध की आशंका

जो हमें ग्रास कर रही है, क्या उसका निराकरण केवल शास्त्रों में हो सकता है? कभी-कभी अन्याय के प्रतिकार हेतु शास्त्र का प्रयोजन अवश्य हो सकता है। पर अन्याय के द्वारा अन्याय का प्रतिरोध नहीं हो सकता। **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**–अपने मोक्ष के लिए और सारे संसार के हित के लिए हमें जीवन जीना चाहिए। त्याग के माध्यम से जीवन जीना चाहिए, सेवा के माध्यम से जीवन जीना चाहिए–यह सन्देश स्वामी विवेकानन्द जी का है। यह सन्देश क्रियान्वित हो रहा है, नहीं तो यह संस्था कैसे बनती। कितने लोगों ने कितना श्रम किया होगा, तपस्या की होगी। कहाँ-कहाँ जाकर भीख माँगी होगी। महामना मालवीय का प्रिय एक दोहा याद आ रहा है–

मर जाऊँ माँगू नहीं अपने हित के काज।
परमारथ के काज में मोहि न आवत लाज॥

मैं मर जाऊँगा, पर अपने लिए पैसा नहीं मागूँगा, मगर समाज के कल्याण के लिए माँगने में मुझे लज्जा नहीं आती और हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय उन्होंने भिक्षा माँग-माँगकर स्थापित किया। उस त्याग के, सेवा के रास्ते पर चलकर ही इस संस्था का विकास हुआ है। समर्पण का यह भाव स्वामीजी के विचारों की ही देन है। इसलिए किसी भी प्रकार की हीनता, दीनता तथा ग्लानि का अनुभव किए बिना हम आग्रहपूर्वक यह दुहराते हैं कि स्वामी विवेकानन्द का सन्देश सार्वभौम, सार्वकालिक सत्य है–सब देशों के लिए, सब कालों के लिए, सब व्यक्तियों के लिए सत्य है। भगवान से प्रार्थना है कि उनकी कृपा से हम सन्देश के अनुसार जीवन जी सकें।

□□□

जन्म, व्याधि, जरा और
मृत्यु ये तो केवल
आनुषंगिक है, जीवन में यह
अनिवार्य है, इसलिए वह
एक स्वाभाविक घटना है।

-स्वामी विवेकानन्द

वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्द और भारत

-पं॰ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के हिन्दी मुखपत्र के रूप में अद्वैत आश्रम ने 1921 ई॰ से स्वामी माधवानन्द जी के सम्पादकत्व में 'समन्वय' नाम से एक मासिक पत्र आरम्भ किया था। कुछ ही काल बाद निरालाजी इसके सह-सम्पादक नियुक्त हुए। उन्होंने दो-ढाई वर्ष इस उत्तरदायित्व का निर्वाह किया होगा, परन्तु वे बाद में भी रामकृष्ण मिशन तथा इस पत्रिका से जुड़े रहे। प्रस्तुत लेख 'हंस' मासिक के अक्टूबर-नवम्बर 1932 अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से इसे साभार संकलित किया गया है)

जो समय मुसलमानों के शासन-काल में था, वह अँगरेजों के आने पर नहीं रहा। अनेक जीव-योनियों में भ्रमण कराने के बाद मनुष्य जीवन देने की तरह भारत की प्रकृति में अनेक चक्कर काटकर मनुष्यार्थ के सोपान पर पैर रखे मनुष्य जिस तरह बिना दाँत, सींग और नखवाली हिंस्र प्रकृति का प्राणी है, उसका धर्म भी उसी तरह विरोधरहित, विश्व के सभी धर्मों में प्राण-स्वरूप, हवा और आकाश की तरह ओतप्रोत है। इसीलिए मनुष्यता का लक्षण केवल समाधि है, जिसका कोई लक्षण नहीं।

अवतार-वरेण्य श्रीरामकृष्ण देव इस युग की इसी पदवी पर आरूढ़ हैं। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, तंत्र, भक्ति, ज्ञान आदि की सभी राहों से सिद्धि प्राप्त की और सभी धर्मों को सत्य बतलाया। इनसे पहले साधना-कृत धर्म का यह रूप भारत के इतिहास में नहीं मिलता। ये कितने बड़े थे, या हैं, इसकी चर्चा नहीं करूँगा, करने पर भी नहीं कर सकूँगा। स्वामी विवेकानन्द इन्हीं के शिष्य थे।

स्वामीजी का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। बचपन से ये आस्तिक, नास्तिक दोनों प्रवाहों के भीतर से अपनी परिपूर्णता की ओर बह रहे थे; हिन्दू, मुसलमान और अँगरजी संस्कारों के भीतर से गुजरते हुए अन्त में संस्कार-रहित ज्ञानमूर्ति हो गए थे। श्रीरामकृष्ण का विवेकानन्द जी के इसी ज्ञानमय रूप में वैदान्तिक निवास है। यहाँ बड़े-बड़े विद्वान् निष्प्रभ हैं, हो गए हैं।

नरेन्द्रनाथ इस युग के अनुकूल ही अँगरेजी शिक्षा के अनुसार, गृह-संस्कारों से धर्म-भावना के रहने पर भी, बहुत-कुछ नास्तिक हो गए थे। कारण, कहीं भी उन्हें तृप्ति नहीं मिली। प्रथम दर्शन के समय अपने गुरु पर भी वे सन्दिग्ध हुए थे; पर गुरु की कृपा से उनका यथार्थ रूप जब उनके भीतर विकसित हुआ, तब उनकी पूर्णता में पहले की धर्म-तृष्णा मर गयी। वे स्वयं धर्म बन गए।

बिल्कुल बालपन में नरेन्द्रनाथ रामचन्द्र के भक्त थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि राम ने विवाह किया था, तब उनसे उनकी श्रद्धा उठ गयी। वे महावीर हनुमान जी के पूजक हो गए और जीवन के अन्त तक यही देश के हित के हित उनका आदर्श रहा। बंगाल में महावीर स्वामीजी की पूजा का उन्होंने प्रचार किया।

उनके बचपन की एक और घटना बड़ी ही मनोरंजिनी है। नरेन्द्रनाथ के पिता वकील थे। उनके पास अनेक मुसलमान मुवक्किल आते थे; इसलिए उनके घर में एक हुक्का मुसलमानों का था। मुसलमानों को बालाखाने का खमीरा पिलाया जाता था। बालक नरेन्द्रनाथ उनकी खुशबू से बहुत ही आकृष्ट हुए। परन्तु उन्होंने सुन रखा था कि मुसलमानों का जूठा खाने से आकाश टूट पड़ता है। इसका भय भी था। एक दिन एक सभ्य मुसलमान हुक्का पीकर जब चला गया, कमरें में कोई न रहा, तब निरा बालक नरेन्द्र शौक पूरा करने और इस अजामाइश के लिए कि देखें कैसे आसमान टूट पड़ता है, चले और उठाकर हुक्का पीने लगे। ऊपर आकाश की तरफ देखते जाते थे कि देखें, वह टूटकर गिरता है या नहीं।

सात-आठ साल के थे, अपने सथियों को लेकर गंगा में नौका-विहार के लिए गए। ये सबसे छोटे थे। विहार हो चुकने पर, इन लोगों को लड़के जानकर मल्लाहों ने किराए के लिए तकरार करना शुरू कर दिया। फिर मारपीट की नौबत आयी।

नाव किनारे पहुँच चुकी थी। नरेन्द्रनाथ ने देखा, किनारे पर, सड़क पर दो गोरे सारजण्ट खड़े हैं, वे कूदकर उनके पास पहुँचे। सारजण्ट शराब के नशे में थे। नरेन्द्रनाथ को अपने मित्रों को बचाना था। वे अपनी बाल-अँगरेजी में नाव का हाल बयान करने लगे। सारजण्टों ने नरेन्द्रनाथ का बड़ा आदर किया और किनारे चलकर मल्लाहों को डाँटकर उचित किराया दिला इनके मित्रों को बचा लिया।

आठ-दस वर्ष की अवस्था की घटना है, कोलकाता में लड़ाई का जहाज आया। लोग देखने के लिए मंजूरी लेकर जाते थे। नरेन्द्रनाथ के एक मित्र ने कहा—चलो मंजूरी लेकर हम लोग भी चलें। अँगरेजी में अर्जी लिखकर नरेन्द्रनाथ उस रोज ऑफिस में सबसे पहले पहुँचे; पर चपरासी ने इन्हें रोक दिया। घुसने ही न दिया। मुँह बनाकर कहा—चले हैं लड़ाई का जहाज देखने! नरेन्द्र हाथ जोड़नेवाले लड़के न थे; चपरासी की बात से बड़ा क्रोध हुआ; पर लाचार थे, वे ऑफिस के चारों तरफ चक्कर काटने लगे। पानी का नल दिख पड़ा। बस, अर्जी पीछे छोती की मुर्री में खोंसकर, नल पकड़कर दो मंजिले पर चढ़ गए। वहीं साहब भी थे। ठीक दस का समय था। दूसरा कोई तब तक घुसने न पाया था। ये पहुँच गए और अर्जी पेश कर दी। इन्हें देखकर साहब बहुत खुश हुए। ये सुदर्शन और तेजस्वी थे ही, इनसे बातचीत की। हाथ मिलाया। इनकी अर्जी मंजूर कर दी। ये लेकर फाटक से बड़े गर्व से, मंजूर अर्जी चपरासी को दिखाते हुए निकले। चपरासी के पूछने पर कि वे किधर से गए, उत्तर मिला—उड़कर सर्र से साहब से सामने हाजिर हुए, हम ऐसा जादू जानते हैं।

इन्होंने मेट्रोपॉलिटन कॉलेज, कोलकाता से बी॰ए॰ की डिग्री प्राप्त की थी; पर तब तक अच्छे-अच्छे पण्डितों से भी अधिक अध्ययन किया था। पढ़ने को वे ध्यानयोग का बड़ा अच्छा साधन कहते थे। 'Narendranath is bound to make a mark in his life' (नरेन्द्रनाथ अपने जीवन में कोई खुसूसियत पैदा करेगा)—यह तारीफ उन्हें अपने विद्यार्थी जीवन में ही प्राप्त हुई थी। वे कायस्थ थे, कोलकाता के सिमला मुहल्ले के रहनेवाले। उनको शंकर का अवतार कहते हैं। उनकी माता को शिव का ऐसा ही वर स्वप्न में मिला था।

उनके गुरु श्रीरामकृष्ण देव ने अपने समय के कोलकाता के सभी मनीषियों को देखा था। वे स्वामी दयानन्द जी को भी देख चुके थे; पर नरेन्द्रनाथ को सबसे बड़ा आधार कहते थे। नरेन्द्रनाथ के प्रकाश को वे सूर्य का प्रकाश कहते थे। यह चाहेगा, तो पृथ्वी को हिला देगा—उनके प्रति ऐसे ऐसे वाक्य परमहंस देव के हैं।

परमहंस देव के देहावसान के बाद नरेन्द्रनाथ अपने गुरु भाइयों के साथ तपस्या करने लगे। शीघ्र ही इन महामनीषी को सिद्धि प्राप्त हुई। भारत में परिव्राजक के रूप से ये जगह-जगह भ्रमण करते रहे। अनेक घटनाएँ इस समय की उनकी जीवनी से सम्बद्ध हैं। इसी समय घूमते हुए ये मुम्बई से पूना जा रहे थे। इनके भक्तों ने दूसरे दर्जे का टिकट खरीद दिया था। इसी दर्जे में लोकमान्य तिलक अपने एक मित्र के साथ बैठे थे। इन्हें संन्यासी के वेश में देखकर उनके मित्र अँगरेजी में कहने लगे कि संन्यासियों ने इस देश को चौपट कर दिया है। स्वामी विवेकानन्द चुपचाप बैठे हुए सब सुनते गए। बड़ी बहस हुई। महाराज तिलक संन्यासियों के पक्ष में थे। अन्त में बहस के बढ़ने पर स्वामी विवेकानन्द जी को भी बोलना पड़ा। जिस खर-स्रोता सरस्वती ने तमाम संसार को बहा दिया, उसका उत्स खुलते ही दोनों चुप हो गए। लोकमान्य स्वामीजी को निमंत्रित कर अपने घर ले गए।

इसी समय अमेरिका में धर्म-महा-सम्मेलन होने की सूचना निकली। भारत में कई जगह स्वामी विवेकानन्द के भाषण हो गए थे। चेन्नई के विद्यार्थियों पर इनकी धारा-प्रवाह अँगरेजी, महान् त्याग और ज्ञानोज्जवल प्रतिभा का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन लोगों ने इन्हें हिन्दू धर्म की तरफ से अमेरिका जाने के लिए प्रोत्साहित किया। भक्तों को यह खबर मिली। वे लोग भी इन्हें भेजने के लिए प्रयत्न करने लगे। स्वामीजी अमेरिका गए। वहाँ पहले इन्हें बहुत दिक्कतें उठानी पड़ीं; पर धीरे-धीरे प्रचार बढ़ता गया। विदेश में इनकी जैसी तारीफ किसी की नहीं हुई।

एक प्रोफेसर ने अपने प्रोफेसर मित्र को लिखा था, "यहाँ एक मनुष्य है, जो हमारे विश्वविद्यालय के सम्मिलित सब प्रोफेसरों के मुकाबले अधिक विद्वान् है।" सभ्यता की ताड़ना से स्वामीजी को वहाँ बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ी। हबशी समझकर नाई दाढ़ी बनाने से इन्कार कर देता था; बड़े आदमियों के द्वार से खदेड़ दिए जाते थे; पर यथार्थ बड़े को कोई गिरा नहीं सका। महा-सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ही सर्वप्रिय वक्ता हुए। वहाँ थियासॉफिस्टों, मिशनरियों और अपने देश के अनेक लोगों के उपद्रव इन्हें सहने पड़े थे; पर प्रचार-कार्य से ये विचलित नहीं हुए। इन्होंने दो बार संसार का भ्रमण किया।

भारत के उत्थान में जितना हाथ स्वामी विवेकानन्द का है, उतना और किसी भी दूसरे का नहीं। जब तक ज्ञान के भीतर मनुष्य का सीमा-रूप खो नहीं जाता, तब तक वह मुक्ति का यथार्थ मतलब नहीं समझ सकता। स्वामीजी केवल ज्ञानी न थे। उन्होंने सूक्ष्म-रूप से देश की भक्ति के लिए सब कुछ कहा है और सबसे अच्छी तरह कहा है। जातीय भेद, धर्म, मनुष्यता आदि साधारण विषयों तक उनकी गहन दृष्टि पहुँची थी। सेवाधर्म सबसे पहले उन्हीं ने देश के सामने रखा। संगठन तो उन्होंने इतना दृढ़ किया कि आज सम्पूर्ण भूमण्डल उनकी

आध्यात्मिकता के रश्मियों से बँधा हुआ है। वे जाति-भेद के प्रबल विरोधी थे। कारण, वे जानते थे, गुलामों की कोई जाति नहीं हो सकती। उन्होंने शिल्प, कला, धर्म, विज्ञान आदि सभी राहों से मुक्ति की प्राप्ति बतलायी है। इस तरह देश को सभी कर्मों में प्रोत्साहित किया है। लोग इनकी उक्तियों के बड़े-बड़े राजनीतिक अर्थ लगाते हैं।

व्यक्ति का विकास एक पेड़ की तरह अपना ही विकास है, जो अपने ही फूल और फल दे सकता है। स्वामी विवेकानन्द जी का विकास आकाश का अनन्त विस्तार है, जिसके भीतर व्यष्टि अपनी परिपूर्णता प्राप्त करती है। इस देश को जब-जब जरूरत पड़ी, तब-तब ऐसे ही महापुरुषों का आगमन हुआ है, जिनके बाद उस महाशक्ति के विस्तार से देश परिपूर्ण हो गया है। स्वामीजी गंगाजल की तरह हैं, जिस पर देश की समस्त मल-क्लेद और शव आदि पड़े रहते हैं; पर ज्ञान-जल के प्रवाह की फटकार से सब क्लेद साफ हो जाता है और सर्वत्र संसार के सभी जलों से सुस्वादु, स्वास्थ्यकर और निर्मल जल रह जाता है—यही स्वामीजी का इस देश के लिए कार्य है। संन्यासी की कोई जाति नहीं होती। संन्यास लेने के बाद वे सब जातियों के भीतर सबके ज्ञानरूप है।

महिलाओं को वे साक्षात् माता जगद्धात्री के रूप में देखते थे। अपने व्याख्यान में एक जगह उन्होंने कहा है—यदि इस देश का सम्पूर्ण साहित्य नष्ट हो जाय, वेदों का आस्तित्व लुप्त हो जाय, कोई इतिहास न रहे, केवल सीता का नाम और चरित्र इसी तरह हम लोगों को याद रहे, तो हमारी कुछ भी क्षति नहीं हो सकती। उनकी महत्ता से हम फिर सब कुछ तैयार कर सकते हैं, वे ही हमारी माता है। हम सब लोग सीता की सन्तान हैं, राम तो अनेक हो गए होंगे, पर सीता दूसरी नहीं हुई।

मैंने भी एक साधु देखा है, जिनके मुकाबले संसार का कोई भी महत्तम पुरुष मुझे नहीं जँचता, वे स्वामी विवेकानन्द जी के शिष्य हैं। ऐसे-ऐसे चरित्रों का कितना बड़ा असर पड़ता है, जिसका यही सबूत है कि कोई देश आज तक महत्तम मनुष्यों को नहीं भूल सका। समस्त सभ्यता का यहीं से समारम्भ है। ये ही लोग संसार में रहकर लोक-कल्याण के लिए अपनी श्रेय-प्राप्ति का त्याग कर सकने में समर्थ हुए हैं। दूसरे लोग छोड़ते हैं पाने के लिए— 'दाओं आर फिरे नाहीं चाओ थाके यदि हृदये सम्बल।' (दो और फिर न माँगो, यदि तुम्हारा हृदय हो महान)—स्वामी विवेकानन्द। यह हृदय का दान मनुष्य नहीं दे सकता। ईश्वर देता है। संन्यासी ईश्वर का प्रतिबिम्ब है।

स्वामी विवेकानन्द जी की तरह देश को कोई नहीं उठा सका। यथार्थत: ज्ञान की तरफ से उठाना ही उठाना है। यह महाज्ञान सबमें नहीं होता। स्वामीजी स्वयं महाज्ञान है। किसी भी तरफ से विचार किया जाए, वे अपने श्रेष्ठ आसन पर ही रहेंगे। ऐसा चरित्र, ऐसी मेधा, ऐसी वाग्मिता, ऐसा हृदय, ऐसा ज्ञान, ऐसी कर्मनिष्ठा संसार में दुर्लभ है। विद्या तो उनकी आत्मा थी। बड़े-बड़े अभिधान सात दिन में पूरा कर डालते थे।

हिन्दी स्वामीजी बहुत अच्छी बोलते थे। सबसे पहले हिन्दी में ही पत्रिका निकालने की उन्होंने सलाह दी थी, पर जनाभाव था। पश्चिमोत्तर भारत को उन्होंने बड़ी मर्यादा दी है। कहा है—संन्यासियों की सेवा वहीं ठीक-ठीक होती है। प्राचीन संस्कारों के वे बड़े खिलाफ थे, यदि उनके पीछे ज्ञान न रहा। इस तरह की उनकी कई टिप्पणियाँ हैं। नवीन भारत का क्या रूप होना चाहिए, इसके वे स्वयं चित्र हैं।

उनकी बँगला भाषा से बँगला-साहित्य में युगान्तर हुआ। उनकी अँगरेजी विश्व-भावना में युगान्तर है। उनकी वक्तृता में जो आनन्द है, वह बड़े-बड़े कवियों की कविता में नहीं। उनकी मूर्ति में जो वीरभाव की व्यंजना है, वह नेपोलियन, नेल्सन और कैसर में नहीं। उनकी महत्ता की तुलना उन्हें छोड़ अन्य किसी से नहीं हो सकती, और यही जाग्रत भारत की यथार्थ व्याख्या है, और यही है भारत के नवीन युग का स्वतन्त्र प्रकाश।

□□□

यदि तुम पवित्र हो, यदि तुम सशक्त हो,
तो तुम एक व्यक्ति, समस्त संसार के बराबर हो।

- स्वामी विवेकानन्द

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के जनक-विवेकानन्द

-रमेश नैयर

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान-पतन की यात्रा निरंतर चलती रहती है। उसमें कुछ पड़ाव ऐसे आते हैं जो उसे कोई निर्णायक मोड़ दे देते हैं। विश्व की चार प्राचीनतम समस्याओं में से एक भारत के डेढ़-दो शताब्दियों के इतिहास पर नजर दौड़ाएँ तो स्वामी विवेकानन्द का अभ्युदय भारत की सुषुप्त राष्ट्रीय चेतना को झंकृत करके चैतन्य करनेवाले स्वर्णिम प्रसंग के रूप में स्मरण किया जाएगा। जिस सभ्यता और संस्कृति का महान् अतीत होता है, उसका भविष्य भी भव्य होता है। कभी-कभी ये महान् सभ्यताएँ भी तंद्रा में चली जाती हैं। जिनमें अंतर्निहित दृढ़ता नहीं होती, वे उस तंद्रा से बाहर निकल पाने में असमर्थ रहकर अंतत: ध्वस्त हो जाती हैं। जैसे यूनान, रोम और नील घाटी की महान् सभ्यताएँ हो गई। परंतु जिस सभ्यता की शिराओं में एक स्वर्णिम संस्कृति का प्राणवान सोता प्रवाहमान रहता है वह तंद्रा के तिमिर को भेदकर पुन: चैतन्य हो जाती है।

जिस भारतीय संस्कृति की सनातन कामना 'तससो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय' की रही है, उसमें गिर-गिरकर उठने और सो-सो कर जाग उठने की संभावना बनी रहती है। भारत की इस आधारभूत जिजीविषा को उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी विवेकानंद ने पहचान लिया था। युवा परिव्राजक के रूप में भारत-भ्रमण के दौरान भारत की आत्मा का उन्होंने साक्षात्कार किया था। अपनी मातृभूमि की संपूर्ण पीड़ा को उन्होंने आत्मसात् किया था। भूख की यातना कितनी भयावह होती है, उसे स्वयं भूखे रहकर भोगा भी था।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म जिस युग में हुआ था, वह भारतीय सभ्यता के पतन की पराकाष्ठा का दौर था। वह अधिक संतापकारी इसलिए था कि भारत का मन भी बुझा हुआ था। कोलकाता के शिक्षित मध्यवर्गीय बंगाली परिवार में जनमे नरेंद्र दत्त ने भारतीय समाज को चौतरफा पतन की गिरफ्त में देखा था। उनका कैशोर्य स्वदेश की इस दुरवस्था से व्यथित रहता। भूख से बिलबिलाते जन-समूह, कुपोषण से शक्तिहीन बच्चे, महिलाएँ एवं वृद्ध, कांतिहीन तरुणाई और उत्साह-शून्य यौवन उन्हें बेचैन किए रखता। हिंदू समाज में व्याप्त छुआछूत की व्याधि से उनका मन तड़प उठता। रामकृष्ण परमहंस के स्नेह-छत्र के नीचे पहुँचकर उनमें अध्यात्म की ज्योति जगी। समाधि के संसार में उतरकर उन्हें मनोशांति तो अनुभव होती, परंतु उसमें उन्हें भारतीय समाज की मुक्ति का कोई मार्ग नहीं दिखा। उन्होंने भारतीय इतिहास, धर्म-संस्कृति का सघन अध्ययन करने के लिए वह संस्कृत भाषा सीखी, जिसमें भारत की आत्मा संवाद करती है। इतिहास तथा धर्म ग्रंथों का अध्ययन-मनन किया। मनन को आत्मबोध में ढाल देने में प्रेरक हुआ कन्याकुमारी से लगभग पौन किलोमीटर दूर सागर की अशांत लहरों के बीच स्थित शिलाखंड पर उनका गहन ध्यान। उस ध्यान में भारत का संपूर्ण अतीत, वर्तमान और भविष्य उनके समक्ष स्पष्ट हो गया। सहसा लगा कि अंधकार में एक ज्योति जग उठी।

विवेकानन्दजी के जीवन एवं दर्शन के गंभीर अध्येता ब्रह्मकालीन स्वामी आत्मानंद ने कन्याकुमारी में उन्हें हुए आत्मबोध पर लिखा-"भारत के उस अंतिम शिलाखंड पर बैठे हुए इस एकाकी युवा संन्यासी का हृदय भारत के तिरस्कृत और पददलित लोगों की आहों से व्यथित हो उठा। उनकी हृतंत्री के तार भारत की नंगी, भूखी, अशिक्षित जनता की बेबसी के रागों में बँधे हुए थे। देश में चहुँ ओर व्याप्त दरिद्रता का नग्न आर्तनाद उन तारों को झनझना डाल रहा है। इस समय की अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने बाद में अपने एक पत्र में लिखा था, 'इन सब विचारों ने और विशेषकर, देश की गरीबी और अज्ञानता के विचारों ने मेरी नींद हर ली। कन्याकुमारी में, माता के मंदिर में, भारत के अंतिम शिलाखंड पर बैठे हुए मुझे एक उपाय सूझ पड़ा-अच्छा, हम लोग इतने संन्यासी हैं, इधर-उधर घूमते रहते हैं, लोगों को दर्शन और ज्ञान की शिक्षा देते फिरते

हैं–यह सब पागलपन है। क्या हमारे गुरुदेव यह नहीं कहा करते थे कि 'भूखे पेट में धर्म नहीं सुहाता।' ये बेचारे गरीब केवल अज्ञान के कारण पशुओं का सा जीवन बिता रहे हैं। हम युगों से उनका रक्त चूसते रहे हैं, उन्हें पैरों तले रौंदते रहे हैं हम एक राष्ट्र के रूप में अपना व्यक्तित्व खो चुके हैं और यही भारत में सारी गड़बड़ी का कारण है। हमें राष्ट्र को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व पुन: प्रदान करना है और जन-समुदाय को ऊपर उठाना है।"

उसी ध्यानावस्था में उनके अंतस में राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद हुआ। आत्मानंदजी के ही शब्दों में–"भारत की राष्ट्रीय चेतना के इतिहास में कन्याकुमारी का यह शिलाखंड अपना विशिष्ट स्थान रखता है। युगों से प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न भारत की राष्ट्रीय चेतना विवेकानन्द के अनंत विस्तारित, संवेदनशील हृदय में एक बार फिर से जाग उठती है। आत्मद्रष्टा विवेकानन्द (तब) युगद्रष्टा, राष्टद्रष्टा आचार्य हो जाते हैं। इसी समय से उनका जीवन सर्वतोभावेन भारत की सेवा में समर्पित हो जाता है।"

"वहीं वे अनुभव करते हैं कि भारत की समस्त समस्याओं का निदान धर्म से ही संभव है। उन्होंने अनुभव किया कि भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना लाने का सूत्र धर्म है। धर्म एक नया रूप लेकर उनके सम्मुख प्रकट हुआ। उन्होंने इस मर्म को जाना कि "धर्म केवल वेदों के, उपनिषदों के, ऋषियों की ध्यान-तपस्या अथवा आत्मानुभूति के रूप में ही व्यक्त नहीं होता, वरन् वह तो अब जन-समुदाय के हृदय स्पंदनों का, उनकी मुरझाई हुई जीवन-सत्ता और मिटी हुई आशाओं का, उनकी टीसों और आहों का, उनकी कुचलती हुई भावनाओं का और गिरे हुए जीवन स्तर का रूप लेकर सामने आता है।" ध्यान की उस प्रगाढ़ तन्मयावस्था में स्वामीजी भारत के लिए उस शक्ति के अनंत स्त्रोत का द्वार उद्घाटित कर देते हैं, जिसके बल पर भारत पुन: सच्चे अर्थों में विश्व का पथ-प्रदर्शक होनेवाला है। तभी तो उस राष्ट्रद्रष्टा ने बाद में अपने एक पत्र में लिखा था, "अब भारतमाता जाग उठी है। अब संसार की कोई भी शक्ति उसका पथावरोध नहीं कर सकती।"

स्वामीजी मानते थे कि हिंदू धर्म में विकृतियाँ उसे पुरोहित और श्रेष्ठि वर्ग द्वारा बंधक बना दिए जाने के कारण आई है। उदार मानवीय और कर्मप्रधान वैदिक व्यवस्था को जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था में भटका दिए जाने के कारण आई हैं। इसकी कोख से उपजी छुआछूत ने भारतीय समाज को रुग्ण और कमजोर कर दिया। जातियों ने समाज को बाँट दिया। पौरुष और पराक्रम की प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति को श्रेष्ठ मानने की धारणा के विस्तार ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की वैदिक अवधारणा को भटका दिया। उन्होंने देश में व्याप्त हताशा को बुझना। अपनी महान् आध्यात्मिक और सांस्कृतिक धरोहर पर गर्व करने की अपेक्षा सभ्यता की ओर उन्मुख शिक्षित वर्ग की इस मनोग्रंथि को समझा कि वह भारतीय वैचारिक वैभव को भी तब तक स्वीकार नहीं करेगा जब तक कि उसे पश्चिमी देशों का प्रमाण-पत्र न मिल जाए। मुख्यत: इसी से प्रेरित होकर उन्होंने शिकागो की विश्वधर्म सभा में जाने का निर्णय किया, जो खेतडी नरेश अजय सिंह के वित्तीय सहयोग से संभव हुआ।

शिकागो में प्रथम भाषण में ही उन्होंने पश्चिम को सम्मोहित कर दिया। वैदिक धर्म की दिग्विजयी पताका अपनी भाषण शृंखला और पश्चिमी देशों के प्रवास के दौरान फहराई। भारतीयों को उनका खोया हुआ आत्मविश्वास तथा स्वधर्म पर गर्व लौटाया। पश्चिम के प्रवास में उन्होंने वेदांत की गरिमा को उन्हीं की भाषा में समझाया। स्वामीजी ने पश्चिमी समाज से दृढ़तापूर्वक कहा था कि वेदांत को समझे बिना ईसाई अपने 'न्यू टेस्टामेंट' को भी ठीक से नहीं समझ सकते। 'वेदांत सभी धर्मों का मर्म है।' स्वामी विवेकानंद की विशेषता यह थी कि वे भाषा तो वेदों की ही बोलते थे, परंतु लकीर के फकीरों की भाँति नहीं। वेदों की ऋचाओं में अपनी अनुभूतियों का संचार करते थे। उन्हें नए समसामायिक अर्थ देते थे। तब मंत्रमुग्ध श्रोताओं के सम्मुख भारत का प्राचीन सत्य मोहक नूतन परिधान में प्रकट होता था। पश्चिमी समाज में वह विश्वास जागृत् करने में स्वामीजी सफल रहे कि भारत विश्व समाज का आध्यात्मिक गुरु है। उन्होंने इस विश्वास को भी उनके अंतस में उतारा कि वेदांत के सार्वभौम और शाश्वत तत्त्व ही मानव-सेवा की सच्ची व्याख्या करते हैं।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में स्वामीजी के अवदान की चर्चा करते हुए लिखा–"स्वामीजी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। किंतु राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है, उसका लघु अंग मात्र है। स्वामीजी ने अपनी वाणी और कर्त्तव्य से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यंत प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं, हमारे धार्मिक ग्रंथ संसार में सबसे उन्नत हैं और हमारा इतिहास सबसे महान् है। हमारी संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है। यही नहीं, प्रत्युत हमारा धर्म ऐसा है, जो विद्वानों की कसौटी पर खरा उतरा है। ... स्वामीजी की वाणी से हिंदुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनीतिक राष्ट्रीयता बाद में जनमी है। इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।"

हिंदू-समाज में घर कर गए ईर्ष्या-द्वेष और एक-दूसरे की

प्रगति में बाधक होने की प्रवृत्ति पर उन्होंने खिन्नता व्यक्त की। इसके बरक्स पश्चिम में पारस्परिक सहयोग और उदारता को उसके विकास का एक बड़ा कारण मानते हुए उन्होंने कहा, "जीवन का स्तर जहाँ हीन है, इंद्रियों का आनंद वहीं अत्यंत प्रखर होता है। खाने में जो उत्साह भेड़िए और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह भोजन के समय मनुष्य में नहीं दिखाई देता। ... इसी प्रकार सभी देशों के निचले स्तर के मनुष्य इंद्रियों के आनंद में अत्यंत उत्साह दिखाते हैं। किन्तु जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनंद का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है। ..." स्वामीजी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में साहस प्रच्छन है, हमें उसे बाहर लाना है।"

स्वामीजी ने उदास और सोए-सोए से हिंदू समाज से कहा था, "मैं भारत में लोहे की मांसपेशियों और फौलाद की शिराएँ देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है, जो शंपाओं और वज्र से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य और ब्राह्म-तेज इनके समन्वय से भारत की नई मानवता का निर्माण होना चाहिए। वे कहते थे कि मृत्यु का ध्यान करो। प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव रुद्र को अपनी उपासना से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय को बस में किया जा सकेगा। ... संभव हो तो जीवन को छोड़कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र-शिव से एकाकार हो जाओ।"

चारों तरफ शत्रुओं से घिरे हुए भारत की जो निर्बल छवि बनी हुई है, उसमें राजनीतिक नेतृत्व के लिए स्वामीजी का यह आह्वान अत्यंत समीचीन है। जो भोगवाद भारतीय समाज के सिर पर चढ़कर बोल रहा है, उससे मुक्ति का मार्ग भी स्वामीजी की सूक्तियों में खोजा जा सकता है। यथा "जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मंदिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो तब हवन में घृत जलाना अमानुषिक कर्म है।"

□□□

कविता

शब्द का संसार

वीरेन्द्र मिश्र

जिंदगी को अर्थ देने के लिए
शब्द का संसार हम गढ़ते रहे,
जो गढ़ा है, वह महल तो है नहीं
झोपड़ी में रक्त से जलता दीया।
जो पसीना था समय के माथ पर
कंठ तक आया कि हमने गा दिया,
कौन जाने गीत थे या मर्सिए
जो सरे-बाजार हम पढ़ते रहे।
कुछ न हम, सब कुछ हमारे स्वप्न हैं
दृष्टि जिनसे रोशनी पाती रही,
एक चौराहा शहर के बीच था-
भीड़ जिसको चीर कर जाती रही।
देख हमको मुस्काए हाशिये
आंसूओं के काफिले बढ़ते रहे।
जिस नज़र में एक जंगलपन दिखा,
एक आंसू का समन्दर भर दिया।
और छाया गीत सुनने के लिए
धूप के हर प्रश्न का उत्तर दिया।
सब किया, जो कुछ हुआ अपने किए
पर स्वयं से हम सदा लड़ते रहे।
गुनगुनाना भी न संभव हो जहाँ
हो जहाँ पर आवरण ही आवरण,
घूमता है जो सदा ठहराव में
जी रहा हमको वही वातावरण।
गीत, गंदी बस्तियों के काफिए
छंद की दुर्गन्ध में सड़ते रहे।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द की भारत को देन

-मा॰ स॰ गोलवलकर

(राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर-संघचालक स्वर्गीय श्री 'गुरुजी' ने रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, में विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन करते हुए 11 जनवरी, 1969 को जो व्याख्यान दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का अनुलेखन है)

उस समय का थोड़ा-सा इतिहास हम लोग स्मरण करें, जब श्रीरामकृष्ण का अविर्भाव हुआ था। हमारे यहाँ तो ऐसा कहा ही है कि जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होने लगती है, यानी धर्म के ऊपर अधर्म हावी हो जाता है, तो धर्म के परित्राण हेतु भगवान युग-युग में प्रकट होते हैं—कभी अंशावतार के रूप में, तो कभी पूर्णावतार के रूप में। ऐसा एक समय हमारी इस पुनीत धर्मभूमि में लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व उपस्थित हुआ। यह भी सभी जानते हैं कि दुर्भाग्य से हजार-डेढ़ हजार वर्षों तक भारत पर परकीय आक्रमणों का ताँता लगा रहा। देश पर अनेक प्रकार के आघात हुए, अत्याचार हुए। कई लोग परकीय लोगों के सामने झुककर अपने धर्म को भी छोड़ गए। पहले मुसलमान जातियाँ आयीं और उसके बाद यूरोप के अनेक देशों के लोग आए। फिर बाद में अँगरेज यहाँ आकर अपना आसन जमाकर बैठ गए और अपने राज्य को स्थिरता प्रदान करने के लिए उन्होंने यहाँ के लोगों को अपने धर्म में मिला लेने की योजना बनायी। उन्होंने विचार किया कि यदि भारतवासियों को हम अपने धर्म की दीक्षा दे दें, तो हम इच्छानुसार अपने अनुगामियों की संख्या बढ़ाकर यहाँ अपनी प्रभुसत्ता कायम रख सकेंगे; और ऐसा सोचकर उन्होंने बहुत बड़ी मात्रा से धर्म-परिवर्तन की योजना बनायी तथा ईसाई मिशनरियों द्वारा जगह-जगह शिक्षालय और रुग्णालय खुलवाये। शिक्षालयों के द्वारा उन्होंने हम लोगों की शिक्षा-दीक्षा अपने हाथ में ले ली और रुग्णालयों के द्वारा लोगों के उपचार की व्यवस्था करते हुए उन्होंने उन सबको धर्म-परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम बना लिया। अपने यहाँ जो पढ़े-लिखे लोग थे, जिनका समाज में साधारण रीति से बोलबाला हो सकता था, जो समाज के अगुआ माने जा सकते थे, वे अँगरेजों को मानो देवदूत मानकर अपने सम्पूर्ण जीवन को उन्हीं के ढाँचे में ढालने के लिए प्रस्तुत हो रहे थे—वेश में, भाषा में, बोली में और यही नहीं बल्कि उपासना में भी।

ईसाई कहता है कि भगवान है, परन्तु उसकी कोई मूर्ति नहीं है। वह मूर्तिपूजा का निषेध करता है और विभिन्न देवी-देवताओं के सम्बन्ध में भी अपना विरोध प्रकट करता है। उन दिनों बंगाल में ब्रह्म-समाज के नाम से और महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज के नाम से जो सम्प्रदाय चले, उनकी उपासना-पद्धति भी ईसाईयों के समान थी। जिन महापुरुषों ने इन सम्प्रदायों को शुरू किया था, वे कोई साधारण नहीं, असामान्य योग्यता के पुरुष थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशव सेन सामान्य कोटि के व्यक्ति नहीं थे। परन्तु उस समय चारों ओर जो अंगरेजियत का वायु-मण्डल था, उसका उन पर भी प्रभाव पड़ा था और उसी के अनुरूप उन्होंने ये संस्थाएँ प्रारम्भ की। हो सकता है उनमें यह आशा रही होगी कि भले ही जैसा ईसाई कहता है, वैसी ही अपनी भी उपासना-पद्धति है, किन्तु चूँकि अब अपने धर्म और उपनिषदों के सिद्धान्तों का विशेष आग्रहपूर्वक पठन-पाठन होगा, इसलिए अपने यहाँ का पढ़ा-लिखा आदमी ईसाई नहीं बनेगा।

उन दिनों बहुत-से लोग ईसाई बनने लगे थे। उदाहरण के लिए बंगाली भाषा के एक कवि थे मधुसूदन दत्त। आपने उनका नाम सुना होगा और आपमें से बहुत-से उन्हें जानते भी होंगे। उनका 'मेघनाद-वध' काव्य बड़ा प्रसिद्ध है। वे ईसाई बने थे। यद्यपि उनका नाम मधुसूदन दत्त बदला नहीं था तथापि उनके नाम के आगे 'माइकेल' लग गया था— 'माइकेल मधुसूदन दत्त'। एक दिन वे भगवान श्रीरामकृष्ण से मिलने गए। भगवान ने पूछा, "तुम ईसाई क्यों बने?" उन्होंने कहा, "थोड़े से स्वार्थ के लिए बना हूँ।" भगवान श्रीरामकृष्ण ने उनकी ओर अपनी पीठ फेर ली; कहा कि थोड़े से स्वार्थ के लिए जो अपना धर्म छोड़ता है, उसका मुँह देखना भी पाप है!

ऐसे अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी अपना धर्म छोड़कर, सभी प्रकार के अपने संस्कारों को छोड़कर दूसरे धर्म की ओर जा रहे थे। ऐसा लगता था कि यह जो विधर्म का एक ज्वर-सा आ गया है, उसमें अपने यहाँ का परम्परागत सत्य, चिरन्तन सनातन धर्म डूब जाएगा। सबकी ऐसी मानसिक स्थिति हो गयी थी कि जो कुछ परकीय है, वही अच्छा है; विदेशियों का वेश अच्छा, उनकी बोली अच्छी, उनका रहन-सहन अच्छा, उनका धर्म अच्छा, उनका सब कुछ अच्छा, और अपना कुछ भी अच्छा नहीं। हमारे अच्छे-अच्छे लोग अपने ही धर्म का, अपनी ही संस्कृति का निषेध करने लगे थे। सर्वत्र ऐसी स्थिति हो गयी थी कि लगता था धर्म नाम की कोई वस्तु बचेगी नहीं। शिक्षा-दीक्षा भी अँगरेजों ने ऐसी शुरू की कि उससे भले ही इस देश के मनुष्यों का रंग नहीं बदले, परन्तु वे 'ब्राउन इंग्लिशमैन' अवश्य बन जाएँ। उनका तात्पर्य यह था कि यदि हमारा राज्य कभी यहाँ से नष्ट भी हो जाए, तो भी यहाँ जो रहेंगे, वे हमारी अँगरेजियन में डूबे हुए 'ब्राउन इंग्लिशमैन' ही रहेंगे। पता नहीं उन्होंने कितनी दूर की सोची थी। आज हमें ऐसा अवश्य दिख रहा है कि हम लोग इंग्लिशमैन बनने का पर्याप्त यत्न कर रहे हैं, किन्तु उस प्रयत्न में कभी सफलता मिलने की आशा नहीं है, क्योंकि कितना भी प्रयत्न किया जाए, हममें से कोई अँगरेज कैसे बन सकता है?

प्राथमिक पाठशाला में मैंने मराठी में एक कविता पढ़ी थी— 'बगुला और कौआ'। कौआ अपने मन में कहता है कि मैं काला हूँ, इसलिए लोग मुझसे धृणा करते हैं और यह बगुला सफेद होने के कारण सब लोगों की बड़ी तारीफ पाता है। तो अब क्या करना चाहिए? वह बाजार से साबुन ले आया और नदी किनारे बैठकर, साबुन लगाकर पत्थर के ऊपर अपना सारा शरीर रगड़ने लगा। रगड़ते-रगड़ते उसके पंख उखड़ गए और वह लहू-लुहान होकर मर गया। तो हममें से जो अँगरेज बनने की चेष्टा कर रहे हैं, उनका भी उस कौवे जैसा ही हाल होगा। भगवान रामकृष्ण के युग में भी ठीक ऐसी ही भीषण स्थिति थी।

यह एक सर्वविदित सत्य है कि जब राष्ट्र-जीवन में दासता आती है, तो जनसाधारण के परम्परागत सद्गुणों का ह्रास होने लगता है। यह दासता मनुष्य को अनेक प्रकार के दुर्गुणों में प्रवृत्त करती है। हम एक-दूसरे के साथ विश्वासघात करते हैं, असत्य भाषण करते हैं, असत्य आचरण करते हैं, किसी भी प्रकार का पाप-कर्म करने में हमें हिचक नहीं होती। तब ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। सर्वत्र चरित्र-भ्रष्टता का, शील-भ्रष्टता का यानि धर्म-भ्रष्टता का वायुमण्डल फैला हुआ था। सबके सामने यही एक प्रश्न था कि इस सबके पीछे जब ऐसे प्रबल साम्राज्य का समर्थन है, तो यह सब आखिर कैसे रूकेगा? ऐसा लगता नहीं था कि यह रूक सकेगा। परन्तु अनेकों के मन में ऐसी स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न हो रही थी कि वह रूकना चाहिए। यह जो ब्रह्म-समाज आदि का निर्माण हुआ, वह इसी इच्छा का एक प्रकट रूप था। इसी समय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हुए थे। उन्होंने जन-मानस के सामने एक बहुत अच्छा आदर्श उपस्थित किया था। उन्हें वायसराय की कमेटी में लिया गया था, परन्तु अनेक मित्रों के आग्रह के बावजूद, उन्होंने अँगरेजी वेश नहीं पहना। वे तो धोती, छोटी-सी चादर और कुरता पहनकर ही मीटिंग में गए। इस प्रकार उन्होंने अपनी वेश-भूषा को फिर से प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी। ये सब घटनाएँ अपने आप में बड़ी अच्छी थीं, पर अधर्म का जो ज्वार-सा आया हुआ था, उससे अपने धर्म, अपनी संस्कृति और अपने समाज को सुरक्षित रखना सामान्य व्यक्ति का, सामान्य शक्ति का काम नहीं था।

इसके साथ ही हमें यह भी देखने को मिलता है कि इस बड़े देश में जब विदेशी शासक आए, तो उन्होंने यहाँ दिखनेवाले धर्म-भेद, जाति-भेद और वर्ग-भेद के संघर्षों का लाभ उठाकर अपना आसन पक्का करने की चेष्टा की। एक तो संघर्ष था मुसलमानों का—इस देश के पुत्ररूप हिन्दुओं के साथ हजार वर्षों से चलता आ रहा था। अँगरेजों के आने के पहले इस संघर्ष के कुछ-कुछ शान्त होने की सम्भावना थी कि वह मुसलमान-वर्ग हिन्दू समाज के अन्दर उसी प्रकार से पच जाता, जिस प्रकार शक, हूण आदि पच गए; भले ही उनकी थोड़ी-सी विशेषता रह जाती या प्रार्थना-पद्धति रह जाती। हमारे यहाँ तो सभी प्रार्थना-पद्धतियों का सत्कार किया गया है। हमारे धर्म ने किसी का निषेध नहीं किया है। यदि कोई पाँच बार क्या, दस बार नमाज पढ़े, तो हम कहेंगे—बहुत अच्छा कर रहे हो भाइ, जरा सच्चाई से रहो, नमाज पढ़ो, खुदा की इबादत करो और उनकी करुणा के लिए प्रार्थना करो। तो, इस प्रकार मुसलमानों का राष्ट्र के इस जीवन-प्रवाह में समरस होने का समय आ रहा था कि अँगरेज आ गए। उन्होंने सोचा कि यह समरसता हमारे लिए खतरनाक है, इसलिए हम लोगों को चाहिए कि इनके जो हजार वर्षों से झगड़े चले आ रहे हैं उनको जरा बढ़ा दें। अलीगढ़ विश्वविद्यालय और मुस्लिम लीग की स्थापना इसी षडयंत्र का फल है।

फिर उनको यह भी पता था कि यहाँ के अभी-अभी बने ईसाई कभी भी अपने देश भाईयों के साथ मिल जा सकते हैं। अत: उन्होंने इन ईसाइयों को भी राष्ट्र की जीवनधारा से पृथक रखने का भरपूर प्रयत्न किया। इसके साथ ही उन्होंने देखा कि इस देश में अनेक जातियाँ हैं, अनेक सम्प्रदाय हैं। इसमें

नगरवासी हैं तो ग्रामवासी भी हैं, वनवासी भी हैं, तो गिरि-कन्दराओं में रहने वाले भी हैं। भले ही उनके रहन-सहन में सूक्ष्म फर्क दिखायी देता है, पर हृदय के संस्कार की दृष्टि से इन सबमें एकता है। अँगरेजों ने विचार किया कि ऊपर से दिखनेवाले भेदों को अधिक तीव्र बनाकर इस समाज को एक होने से रोक दें, तभी हमारा आसन यहाँ पर हमेशा के लिए पक्का हो सकता है; और ऐसा सोचकर उन्होंने विच्छेद को अधिक-से-अधिक मात्रा में बढ़ाने का प्रयत्न किया।

धर्म वह है जो समाज में सुव्यवस्था रखता है– **धारणात् धर्मः** और जहाँ पर उपर्युक्त प्रकार से विच्छेद का कार्य होता है, वह अधर्म है। उस समय ऐसा अधर्म चारों ओर से बढ़ रहा था। इसको रोकने की शक्ति किसी में नहीं दिखती थी। तब लोगों के अन्तःकरण में ऐसा भाव उठने लगा कि अब एक असामान्य ईश्वरीय शक्ति का प्रकट होना आवश्यक है। और जब ऐसा भाव लोगों के मन में स्वतः प्रवृत्त होकर उठता है और तीव्र होता है, तो अपार करुणामय भगवान आवश्यतानुसार अपने को अंशावतार के रूप में, या अपनी पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रकट करते हैं। इस समय तो धर्म की रक्षा के लिए यानी समाज की धारणा के लिए, देश में परकीयों द्वारा जो विच्छेदरूपी अधर्म फैलाया गया था, उसको दूर करने के लिए, देश में अलग-अलग दिखनेवाले सब धर्मों और पन्थों में समन्वय करने के लिए एक ऐसी महान् विभूति का आविर्भाव जरूरी था, जो अपने जीवन में सभी धर्मों की साक्षात् अनुभूति करके उनके सत्यत्व सारे जगत् के समक्ष स्थापित करे। और ऐसी विभूति हमें श्रीरामकृष्ण देव के रूप में प्राप्त हुई। उस समय लोग ऐसा मानते थे कि अंगरेजी शिक्षा में ही बड़प्पन है, पर श्रीरामकृष्ण ने न तो अंग्रेजी शिक्षा पायी थी, न ही उनका लौकिक शिक्षा के साथ कोई विशेष सम्पर्क था। पर आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे व्यक्ति ने दिन-प्रतिदिन के अनुभव में आने वाली सामान्य बातों से लेकर चरम सिद्धान्त तक सबके सामने रखने की असामानता प्रकट की और हमारे यहाँ के ऋषियों, महापुरुषों और तपस्वियों की परम्परा को सिद्ध करके दिखा दिया कि सत्य का ज्ञान ग्रन्थ-वाचन पर निर्भर नहीं करता, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति से सधता है और इसे कोई भी प्राप्त कर सकता है।

तो, श्रीरामकृष्ण ने यह विश्वास प्रत्येक में जगाया कि यह जो आधुनिक शिक्षा का आडम्बर है, उसे तोड़कर अन्तःकरण की सत्प्रवृत्तियों और सद्ज्ञान को प्रकट करना सम्भव है। सभी धर्मों का समन्वय करके केवल भारत के ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण जगत् के मानवों की एकात्मकता स्थापित करने को यह महान् अवतार हुआ। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें 'सर्व-धर्म-स्वरूप' कहकर उनकी वन्दना की। अभी उनकी पूरी शक्ति जगत् में प्रकट नही हुई है। वह तो धीरे-धीरे प्रकट होगी और यदि हमारा सौभाग्य होगा, तो हम भी उसे देखने में समर्थ होंगे।

आज संसार ने विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रगति की है। लोग चन्द्रमा की परिक्रमा करके लौटे हैं। रूसी लोग कहते हैं कि अमेरिका यदि चन्द्रलोक गया, तो हम शुक्रग्रह पर जाएँगे और वहाँ पर आदमी उतारेंगे। वह अलग बात है कि आदमी वहाँ बचे या ना बचे! परन्तु आज का मानव इस प्रकार का बड़ा साहस प्रकट कर रहा है। हमारे शास्त्रों में आसुरी सम्पत्ति का वर्णन करते समय कहा गया है कि उसमें इस प्रकार का साहस रहता है कि आकाश को भी बगल में ले लूँ। तो प्रश्न उठता है कि क्या इससे मनुष्य का जीवन किसी प्रकार सुखकर हो रहा है? दिखता तो यह है कि भीषण शास्त्रास्त्रों के कारण मनुष्य मात्र के भेद इतने उग्र हो गए हैं कि सम्पूर्ण मानवता के नष्ट होने की सम्भावना खड़ी हो गयी है। लोगों को भय है कि कहीं लड़ाई की चिनगारी पड़ जाए, तो वह फैलकर सारे विश्व के लोगों का अन्तःकरण झकझोर डालेगी और ये भयंकर शास्त्रास्त्र शस्त्रागारों से बाहर निकलकर सारे विश्व को जलाकर राख कर देंगे। तब चिराग जलाने के लिए भी कहीं कोई मनुष्य जीवित नहीं रहेगा। इस भय से सब लोग ग्रस्त हैं। मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न हो गया है और हमारा दुर्भाग्य ऐसा है कि इन भेदों में लोग धर्म को भी घसीटकर ले आए हैं। कहाँ धर्म सबको एकत्र करनेवाला, सबको श्रेष्ठ बनानेवाला सूत्र है, जिसका कार्य ही यह है कि सभी प्रवृत्तियों का समन्वय करके मनुष्य को एक अत्यन्त उत्कृष्ट विकसित अवस्था प्राप्त करा देना, और कहाँ लोग धर्म का नाम लेकर उसकी आड़ में मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदों को उग्र, उग्रतर और उग्रतम बनाते जा रहे हैं। यह विभीषिका आज जगत् के सामने खड़ी है। इसमें से रास्ता कौन-सा है? इससे हम किस प्रकार मुक्त होंगे?– यह सभी के मन की व्यथा है।

व्यवहारिक दृष्टि से जब हम विचार करते हैं, तो देखते हैं कि हमें आज के इस आपाधापी और धक्कामुक्की के युग में अपने को इस प्रकार शक्तिसम्पन्न करके खड़ा करना होगा, ताकि किसी आघात से हम डिग न जाएँ। परन्तु मात्र इतने से काम पूरा नहीं होगा। इस प्रकार की सामर्थ्य के साथ-साथ धर्म का जागरण भी आवश्यक है– ऐसे धर्म का जागरण, जो सत्यस्वरूप है, जो सबको एक सूत्र में पिरोता है, जो अलगाव या विच्छेद को जन्म नहीं देता, जो सम्प्रदाय के तंग दायरे में लोगों को नहीं बाँधता, बल्कि विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित करता है। इसी प्रकार के सर्व-समन्वयात्मक धर्म को अपने जीवन में उतारकर सबको उसका प्रत्यक्ष कराने के लिए

युगावतार के रूप में भगवान श्रीरामकृष्ण हमारे बीच आविर्भूत हुए। जैसा मैंने अभी कहा, वे कोई आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति नहीं थे। उनके पास जानेवालों में कितने ही लोग ऐसे भी थे, जो उन्हें पागल कहते थे। भगवान श्रीरामकृष्ण ऐसे लोगों से मिलने पर कहते– "क्यों भाई, चौबीसों घण्टे नून-तेल, दाल-रोटी आदि की चिन्ता करते-करते तुम्हारा दिमाग ठिकाने रहा और सारे चैतन्य के मूल आधार भगवान का चिन्तन करने के कारण मैं ही पागल हो गया।"

तो, अब प्रश्न यह था कि उनका यह सन्देश त्रस्त और संकटग्रस्त लोगों तक कैसे पहुँचे? बात यह है कि भगवान जब भी आते हैं, तो अकेले नहीं आते, अपने साथ काम करनेवालों को लेकर आते हैं। रामायण में वर्णन आता है कि जब प्रभु रामचन्द्र का आविर्भाव होनेवाला था, तो ब्रह्माजी देवताओं से कहते हैं कि तुम लोग भी भिन्न-भिन्न रूप धारण करके अवतार लो और उनकी सेवा के लिए उपस्थित हो जाओ। प्रत्येक अवतार के साथ यही बात हुई है। तो इस समय भी भगवान अपने पीछे-पीछे ऐसे लोगों को ले आते हैं, जो उनके सन्देश का प्रचार करें और अपने ज्ञान से लोगों को प्रभावित करें। और इस प्रकार उन्होंने धर्म के समन्वयात्मक और एकात्म-बोध रूपी परम श्रेष्ठ ज्ञान को सर्वत्र प्रसारित करने की व्यवस्था कर दी। भगवान श्रीरामकृष्ण कहते थे कि प्राचीन काल से जो ऋषि नर-नारायण के रूप में बदरिकाश्रम में सम्पूर्ण जगत् की भलाई के लिए तपश्चर्या करते बैठे हुए हैं, वे समय-समय पर देह धारण कर प्रकट होते हैं। उन्होंने कहा कि वही 'नर' ऋषि इस समय नरेन्द्र के नाम से प्रकट हुए हैं। यह नरेन्द्र धर्म की ध्वजा लेकर विश्व में सर्वत्र जाएगा, सभी ओर मानवों को जागृत करता हुआ जाएगा, ज्ञान को सर्वत्र प्रस्थापित करता हुआ जाएगा और सब प्रकार के अन्धकार को निरस्त करता हुआ जाएगा। सर्वत्र इसकी विजय होगी। यही नरेन्द्र आगे चलकर श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द हुए। ये भगवान श्रीरामकृष्ण के प्रधान पार्षद बने। आज उन्हीं की जयन्ती के उत्सव पर हम लोग यहाँ पर उपस्थित हुए हैं। मुझे इस बात का बड़ा सुख है कि मैं अपना प्रणाम निवेदित करने के लिए यहाँ पर उपस्थित हो सका। मैं उनके ज्ञान की कोई बड़ी बात नहीं बोलूँगा। एक व्यावाहरिक मनुष्य के नाते हम सब लोगों के काम में आनेवाली दो-चार बातें आपके सामने रखकर मैं अपना कथन पूर्ण करूँगा।

हम व्यवहार में रहनेवाले लोग हैं। हमें अपना घर-बार चलाते हुए, परिवार चलाते हुए इस जीवन-संघर्ष में खड़े रहना है। तब विचार करें कि इसके लिए आवश्यकता किस बात की है? अपने जीवन में हमें सर्वप्रथम जिस बात का बोध होता है, वह है अपना शरीर। हमारे यहाँ कहा भी गया है कि सब प्रकार के धर्मों को सिद्ध करने के लिए प्रथम साधन है अपना शरीर–**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**। तो पहली आवश्यकता है शरीर को शुद्ध रखना, शक्तिसम्पन्न रखना, कार्यक्षम रखना, जिससे इसमें नित्य उत्साह बना रहे। प्रश्न हो सकता है कि यह तो अपने शरीर को सब प्रकार से श्रेष्ठ बनाकर रखने की आवश्यकता की बात हुई, इसमें भला स्वामी विवेकानन्द महाराज कहाँ से आए? परन्तु उनके जीवन की बात यदि हमें कुछ पता हो, तो ज्ञात होगा कि उन्होंने तब भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायाम किए थे, वे उत्तम मल्ल थे, अत्यन्त बलवान शरीर के थे। वे नियमित रूप से अखाड़ा जाते थे और अभ्यास करते थे।

तो, स्वामी विवेकानन्द बड़े बलवान पुरुष थे। उन्होंने वस्तुतः जो इतना कठोर परिश्रम किया, इतनी तपस्या की, खाना-पीना, नींद-विश्राम आदि किसी की चिन्ता न करते हुए उन्होंने सारे जगत् भर में घूमकर जो इतना काम किया, वह सब सम्भव न हो पाता, यदि उन्होंने पूर्व जीवन में अपने शरीर में बल भरकर न रखा होता। उन्होंने अपनी देह में इतनी चेतना, इतनी शक्ति संचित कर रखी थी। तभी तो भौतिकता के गर्त में गिरनेवाले विश्व भर के मानवों को अपनी प्रबल बाहुओं से ऊपर उठाने का प्रयत्न उनके द्वारा सम्भव हुआ था।

हमें सोचकर दुःख होता है कि आजकल शरीर-बल वाली बात हमारे जीवन से दूर हो गयी है। आज बलवान शरीर कोई नहीं चाहता, सब लोग अपने को सुन्दर दिखाने की चेष्टा करते हैं। पर ऐसा तो सृष्टि के प्रारम्भ से चलता आ रहा है, अतः इसमें कोई अटपटी बात भी नहीं। परन्तु सोचना यह है कि सौन्दर्य किसमें है? क्या अपने बाल टेढ़े-मेढ़े करने में ही सौन्दर्य है, अथवा शरीर से सटा हुआ पतलून पहनने में ही सौन्दर्य है? पुरुष का वास्तविक सौन्दर्य तो इसमें है कि उसका स्कन्ध विशाल हो, छाती सिंह के समान भरी हो, गर्दन वृषभ के समान तनी हो और एक बार किसी से हाथ मिला लिया तो जन्मभर वह उसकी पकड़ याद रखे, ऐसी पंजे में शक्ति हो। आज लोग इस बात को भूल गए हैं। उन्हें फिर से सीख देनी होगी कि हृष्ट-पुष्ट बनो, बलवान बनो, शक्तिसम्पन्न बनो, चेतनामय बनो और इस बल का उपयोग सबकी भलाई के लिए, सबके संरक्षण के लिए करो, अपने स्वार्थ के लिए नहीं। इतने बड़े साधु और तपस्वी होकर भी स्वामी विवेकानन्द ने हमारे सामने इस प्रकार के बलवान शरीर का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, उससे हम लोग उपर्युक्त शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, ऐसा मैं समझता हूँ।

हम देखते हैं कि शरीर में बल हो, तो मनुष्य उद्दण्ड होकर कभी-कभी शीलभ्रष्ट हो जाता है। तो हमें इस महापुरुष से इस बात का बोध होता है कि शरीर कितना भी हृष्ट-पुष्ट क्यों न हो, अनेक प्रकार के ग्रन्थ आदि पढ़कर हमें कितनी भी विद्वत्ता

क्यों न प्राप्त हो, पर यदि हमने अपने जीवन को नितान्त पवित्र नहीं रखा, तो हम मनुष्य कहलाने लायक नहीं रह जाएँगें। स्वामीजी का जीवन परम पवित्र था। एक बार दूध से धोयी हुई वस्तु अपवित्र कहलायी जा सकती है, पर स्वामीजी के जीवन में काया-वाचा-मनसा पावित्र्य के सिवाय और कुछ न मिलेगा।

अब हम लोग विचार करें की चारों ओर मोह से भरे, क्षुद्र वैषयिक भावों से भरे इस संसार में हम जो जीवन में पावित्र्य लाने का, शारीरिक बल हासिल करने का, ज्ञान आदि के सम्पादन का प्रयत्न करते हैं, आखिर उसका उद्देश्य क्या है?

भारत की परम्परा में हमेशा बताया गया है कि मनुष्य की भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। हमारा हर कर्म मानो उसी की उपासना हो, उसी की भक्ति हो, उसी के लिए की गयी तपस्या हो। हम जो भी कर्म करें, वह इस प्रकार करें कि उसकी प्राप्ति में बाधा न हो। जो इस बात का प्रचार सर्वत्र करते हैं उन्हें उदार कहा गया है। जो धन का दान करते हैं, वे तो उदार कहलाते ही हैं, पर जो इस ज्ञान का प्रचार सर्वत्र करते हैं, उन्हें भी उदार कहा गया है। स्वामीजी हमें सीख देते हैं कि अन्त:करण में भक्ति लाओ, जीवन के कर्मों के प्रति उपासना का भाव लाओ और उस परम सत्य की अनुभूति प्राप्त कर अपना जीवन सफल बना लो।

एक और महत्त्व की बात स्वामीजी ने हमारे सामने रखी। भारत में हमेशा से ऐसे लोग रहे हैं, जो सीख देते हैं कि भगवान की उपासना करो। ये सीख देने वाले लोग या तो अपने-अपने घरों में रहते हैं, या अपना एक छोटा-सा आश्रम बना लेते हैं और कुछ चेलों को लेकर वहाँ बैठ जाते हैं। वहाँ वे भजन-पूजन करेंगे या योग वगैरह की कोई साधना करते रहेंगे, पर वे यह देखने को तैयार न होंगे कि यह जो अपने चारों ओर इतना बड़ा मनुष्य-समुदाय है, अपना समाज पड़ा हुआ है, पर कोई उधर देखने के लिए तैयार नहीं है। उन लोगों से अगर कुछ कहो, तो वे यह कहने के लिए खड़े हो जाएँगे कि मनुष्य तो अपने कर्मों का फल भोगता है। अरे भाई! पर हमारा भी तो कोई कर्तव्य है या नहीं? ठीक है कि वे अपने कर्मों का फल भोगते हैं, परन्तु उनके प्रति हमारा भी कोई कर्तव्य है ऐसा बोध हममें उठाना चाहिए या नहीं? सम्भव है कि कोई अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण दरिद्र के रूप में पैदा हुआ, पर यह तो हमारा धर्म नहीं कि इसीलिए उसे दरिद्र ही रखना चाहिए। कोई रोगी पैदा हुआ, और डॉक्टर कहे– "अच्छा, तू मर बेटा, मर, यह तेरे पूर्वजन्म का कर्म है", तो वह डाक्टर कैसा? भले ही अपने पूर्वजन्मों के कर्मों से कोई कष्ट भोगता आज दिखायी देता है, पर उसके कष्ट को दूर करना हमारा कर्तव्य है या नहीं? आज भले ही वह अज्ञान में डूबा दिखता है, तो उसे ज्ञान देना हमारा कर्तव्य है या नहीं? आज जो रोगी दिखता है, उसे स्वस्थ करना हमारा कर्तव्य है या नहीं?

स्वामी विवेकानन्द ने हमें इन सब बातों पर विचार करने के लिए कहा और सीख दी कि समग्र मानव की सेवा ही भगवान की सेवा है, उससे मुँह मोड़ना कोई धर्म की बात नहीं है। बहुत पहले हमारे सामने एक महान् सत्य रखा गया था– **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय**। स्वामजी ने उसके भी आगे जाकर **सर्वजन-हिताय सर्वजन-सुखाय** यह मंत्र सबके सामने रखा और कहा, "If you want to serve God, serve man" –"यदि तुम्हें भगवान की सेवा करनी है, तो मनुष्य की सेवा करो"। वह भगवान का रोगी मनुष्य, दरिद्र मनुष्य और सब प्रकार के मनुष्यों के रूप में हमारे सामने खड़ा है। इसीलिए उन्होंने कहा, "तुम्हें सिखाया गया है कि अतिथिदेवो भव, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव; पर अब मैं तुमसे कहता हूँ– दरिद्रदेवो भव, अज्ञानीदेवो भव, मूर्खदेवो भव!" सबको देव समझकर, भगवान समझकर उनकी सेवा करनी चाहिए, यह श्रेष्ठतम सिद्धान्त स्वामीजी ने हमारे सामने रखा। अभी तक तो हमारे यहाँ के लोग यही मानते थे कि किसी कोने में बैठना, गिरि-कन्दराओं में चले जाना और नाक पकड़ना, जिसके बारे में शंकराचार्य महाराज ने कहा कि यह तो बेकार ही है– **नासपीड़नकेवलम्** तथा इस प्रकार से कुछ करते रहना, इसी में धर्म है। ऐसे समय स्वामी विवेकानन्द हमारे बीच आए। हमने अपने चारों ओर जो धर्म का एक संकुचित दायरा बना लिया था, उसे उन्होंने तोड़ा और हमें सिखाया कि मानवमात्र को भगवान का ही प्रकट रूप मानकर उनकी सेवा करो। इस प्रकार उन्होंने अद्वैत-सिद्धान्त को प्रत्यक्ष व्यवहार के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर एक नवीन और परम श्रेष्ठ उपलब्धि हमें प्रदान की। हम इतने वर्षों तक यही मानते थे कि हमें दुनिया से क्या लेना-देना है, हम अपने ही में बैठेंगे, भगवान की पूजा करेंगे, उपासना करेंगे, ग्रन्थ पठन करेंगे, नाम-कीर्तन करेंगे, प्राणायाम करेंगे। पर स्वामीजी ने आकर बताया कि मात्र इतने से काम न होगा। मनुष्य की सेवा करो, नर में नारायण की सेवा करो, जीव में शिव की सेवा करो। इस प्रकार एक नवीन उपलब्धि उन्होंने हमारे समक्ष रखी। वैसे तो पूर्णता में कोई नवीनता होती नहीं। स्वामीजी ने स्वयं कहा कि नवीन अब कुछ नहीं है। जिस दिन किसी ने **तत्त्वमसि** की घोषणा की, उसी दिन ज्ञान की इति हो गयी और परमश्रेष्ठ अवस्था का निरूपण हो गया। अब जो कुछ बताना है वह नया नहीं है। वही पुरानी बात ही बतानी है। पर हाँ, उस बात की अभिव्यक्ति एक नवीन ढंग से हो सकती है। स्वामीजी की उपलब्धि को नवीन कहने का यही तात्पर्य है।

स्वामीजी में ईश्वरीय शक्ति थी। वे जब बोलते थे, तो लोग उन्हें सुनने के लिए उन्मुख हो जाते थे। अमेरिका के एक समाचार-पत्र ने तो उनके बारे में यहाँ तक कह दिया, "He is an orator by divine right" अर्थात् "वे ईश्वरीय अधिकार-प्राप्त वक्ता हैं।" तभी तो बाहर के लोगों ने स्वामीजी को सुना और ऐसे सुना जैसे किसी मसीहा को सुनते हैं। तब तो हमारी स्थिति ऐसी थी कि यदि हमारे देश का कोई व्यक्ति बाहर जाता, तो उसे भला कौन सुनता? उसका कहना भला कौन मानता? हमारा देश तो विदेशों के हाथ में बिका हुआ था, गुलामी चारों ओर छायी हुई थी। पता नहीं आप जानते हैं कि नहीं, इतने बड़े विश्वकवि कहलानेवाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक बार जापान गए। उन्हें वहाँ की युनिवर्सिटी ने भाषण के लिए निमंत्रण दिया। पर खेद की बात, न तो युनिवर्सिटी के छात्र उनका भाषण सुनने गए, न अध्यापक ही। बस, निमंत्रण देनेवाले पाँच-दस अधिकारी ही सभास्थल में पहुँचे थे। निमंत्रकों को लगा कि यह तो इतने बड़े अतिथि का अपमान है, हमें चाहिए कि अनेक लोगों को बुलाकर यहाँ उपस्थित करें। अत: दूसरे दिन वे अनेक लोगों के घर पर गए और प्रत्येक से मिलकर कहा– भाई, इतना बड़ा मनुष्य आया है, हमें उसके भाषण में जाना चाहिए; नहीं जाना अच्छा नहीं दिखता। उनको जवाब मिला– "We are not going to listen to the philosophy of the defeated race" – "हम पराभूत जाति के लोगों का तत्त्वज्ञान सुनने नहीं जाएँगें!" तो, विदेशों में भारत की तब ऐसी स्थिति थी। कौन उसकी आवाज सुनता?

परन्तु ईश्वर की अगाध लीला को भला कौन समझ सकता है। किसी के मन में आया कि सारे विश्व के भिन्न-भिन्न धर्मों का सम्मेलन किया जाए। उसके बाद भी कई बार लोगों ने ऐसे सम्मेलन किए ओर अभी भी हर स्थान पर ऐसे सम्मेलन होते हैं; हमारे इस विवेकानन्द आश्रम या रामकृष्ण मिशन की ओर से भी ऐसे सम्मेलन करने का प्रयत्न होता है, परन्तु वह जो हुआ वह अभूतपूर्व था। मैं समझता हूँ कि उसके पहले वैसा सम्मेलन न तो किसी ने किया था, और न बाद में वैसा कभी हो सकेगा। बाद में जितने भी सम्मेलन हुए, उनमे वह तेज नहीं आ पाया। उस धर्म-सम्मेलन को तो मानो ईश्वर ने ही बुलाया था। किसी को निमित बनाकर आगे बढ़ा दिया, पर मानो ईश्वर ने ही यह योजना की। किसलिए? इसलिए कि यह जा तेजपुंज हमारे यहाँ उत्पन्न हुआ था और जिसे भगवान रामकृष्ण ने जगत् के सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट करने के लिए प्रेरित किया था, वह वहाँ जाकर मानो एक भीषण बम के समान गर्जन करते हुए फट जाय, जिससे कि अज्ञान के सारे परदे नष्ट हो जाएँ और सन्मार्ग का पथ प्रशस्त हो जाय। और विचित्रता तो देखिए, सबको निमंत्रण मिला था, पर स्वामीजी को कोई निमंत्रण नहीं था। फिर भी कई लोगों के कहने पर वे अमेरिका गए और वहाँ उन्हें कैसी-कैसी परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा, यह हमें मालूम ही है। उनका जीवन-चरित्र पढ़ने पर पता चलता है कि जिसे निमंत्रण नहीं, प्रतिनिधियों की सूची में जिसका नाम नहीं, ऐसे व्यक्ति को भी प्रवेश मिल जाता है। यह ईश्वर की ही योजना नहीं तो और क्या है? और प्रवेश देने की व्यवस्था करते समय एक श्रेष्ठ विद्वान् तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि "अरे! इनसे परिचय-पत्र माँगना सूर्य को यह पूछने के समान है कि तुम्हारा प्रकाश देने का अधिकार क्या है।" उनके थोड़े से सम्पर्क से ही कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों के मन में उनकी महत्ता का ऐसा बोध हो गया। स्वामीजी को धर्म-सम्मेलन में प्रवेश मिला। प्रथम दिन के अपने एक छोटे-से औपचारिक भाषण के द्वारा ही उन्होंने पूरे विश्व के विभिन्न धर्मों के श्रेष्ठ पुरुषों की सभा जीत ली। वे वहाँ के अनभिषिक्त राजा बन गए। उनका एक-एक शब्द सुनने के लिए सहस्त्रों लोग आतुर हुए रहते थे। विरोधी विरोध करने के लिए खड़े हुए, तो निष्प्रभ हो गए। वे जिधर भी गए, इस प्रकार गए जैसे एक चक्रवर्ती सम्राट् अपनी विजयवाहिनी लेकर अप्रतिहत गति से सभी ओर जाता है। वे इंग्लैंड गए, फ्रांस गए, भिन्न-भिन्न देशों में गए और महान तत्त्वज्ञों से मिले। सभी लोगों के अन्दर उन्होंने एक नवीन जागृति उत्पन्न की। उस जागृति का प्रभाव हमें भी धीरे-धीरे देखने को मिलेगा।

आज विश्व के राष्ट्रों में परस्पर भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्र बनाने की होड़ है, भौतिकता के ऐश्वर्योपभोग में अधिकाधिक मात्रा में डूबने की होड़ है। इस होड़ के साथ ही अब लोगों के मन में इस विचार का भी उदय होने लगा है कि अरे, हम कहाँ जा रहे हैं? न तो लोग सुख की नींद ले पाते हैं, न उन्हें किसी प्रकार का चैन है। बेचैनी से चौबीसों घण्टे इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। दवाई ले-लेकर उन्हें अपने दिमाग को ठिकाने रखना पड़ता है। तो क्या इसमें से कोई मार्ग नहीं है? इस प्रश्न के उत्तर में उस महापुरुष की गर्जना स्मरण हो आती है, सब प्रकार के मार्ग अपने ही लिए हैं। आज यह अनुभूति दूसरे देशों में धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। यदि हमारा सौभाग्य हुआ तो हम देखेंगे कि भौतिकता की चकाचौंध के बीच स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो में जाकर सारे जगत् को आलोकित करनेवाली जो ज्योति जलायी, वह समूचे विश्व में कोटि सूर्य समान प्रभावान होकर सारे मानवों पर छा रही है और उसमे मानव सब प्रकार के कल्याण के पथ पाकर भगवत्प्राप्ति की योग्यता अर्जित कर रहा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि वह समय मानो निकट आ रहा है। इसलिए आइए, जिन महापुरुष के ज्योतिपुंज में से सारे जगत् को आलोकित करनेवाली ज्योति लेकर स्वामीजी विदेशों में गए उन महान् युगावतार भगवान रामकृष्ण और उनके सर्वश्रेष्ठ लीला-सहचर स्वामी विवेकानन्द का हम बार-बार स्मरण करें, उनकी वाणी का अध्ययन करें, उनके जीवन के आलोक में अपना जीवन गठित करें, मानव की

सेवा में जुटें, किसी प्रकार के स्वार्थ को अपनी सेवावृत्ति में बाधा के रूप में आकर खड़ा न होने दें, तथा अपने जीवन को परिपूर्ण बनाकर इस सत्य को एक बार फिर से अपने जीवन के द्वारा सिद्ध कर दें कि भारतमाता का एक पुत्र स्वामी विवेकानन्द के तेज से तेजान्वित होकर विश्व को सत्य का ज्ञान देने में पूरी तरह सक्षम है। मैं स्वामीजी से सबके लिए यही आशीर्वाद माँगता हूँ कि लोग अपने स्वार्थ को पीछे रखने में समर्थ हों। आप लोगों ने इतनी देर मेरी टूटी-फूटी भाषा सुनने का कष्ट किया, इसके लिए सबसे क्षमा माँगता हूँ और सबको धन्यवाद देकर अपना वक्तव्य पूर्ण करता हूँ।

□□□

विश्व में अधिकांश लोग
इसलिए असफल हो जाते हैं,
क्योंकि उनमें समय पर
साहस का संचार नहीं हो पाता
वे भयभीत हो उठते हैं।

-स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द का सन्देश

-विष्णु प्रभाकर

(लेखक हिन्दी-जगत् के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं। उनका प्रस्तुत लेख उनके 'हम उनके ऋणी हैं' पुस्तक से साभार ग्रहीत हुआ है।)

स्वामी विवेकानन्द की याद आते ही एक ऐसे तेजस्वी व्यक्ति का चित्र आँखों में उभर आता है, जिसके शरीर पर वस्त्र तो हिन्दू संन्यासी के हैं, पर जिसके अन्तर में समूची मानवता के लिए दर्द भरा हुआ है। मनुष्य ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। मनुष्य की जड़ता का नाश करना ही उसका एकमात्र आदर्श है।

जिस समय उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु हुई थी, उस समय उन्होंने स्थान-स्थान पर रामकृष्ण मिशन स्थापित करने का प्रस्ताव दिया था। इनके द्वारा वे अनाथों, बेबसों और रोगियों की सेवा करना चाहते थे। उनके साथियों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। कहा, "पागल हुए हो? हम साधु हैं। हमें दुनिया के पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। चुपचाप ईश्वर की आराधना करनी चाहिए।"

उस समय स्वामीजी ने उन्हें जो उत्तर दिया था, वही उनका सन्देश है और वही उनका आदर्श। उन्होंने कहा था, "आप लोग समझते हैं कि ईश्वर के आगे बैठकर यह कहने से कि 'हे ईश्वर, तेरी नाक बहुत सुन्दर है, तेरी आँखें चकमती हैं, तेरे हाथ बहुत लम्बे हैं' वह प्रसन्न हो जाएगा और हाथ में पकड़कर तुम्हें स्वर्ग ले जाएगा। नहीं, यह सब ढोंग है। जो शान्ति तुम पाना चाहते हो, वह आँख बन्द करने से नहीं मिलेगी। आँखें खोलकर देखो कि तुम्हारे पास कौन है? कौन गरीबी और बेबसी की हालत में पड़ा है? किस रोगी और अपाहिज को सहायता की जरूरत है? अपनी शक्ति भर उसकी सहायता करो। यही ईश्वर की सच्ची सेवा है। इसी से तुम्हें शान्ति मिलेगी।"

भारत के इतिहास में अनेक स्वर्ण-युग आए, लेकिन 19वीं शताब्दी ने भारत के पुनर्जागरण में जो योग दिया है, वह कई कारणों से अनोखा है। यह आश्चर्यजनक है कि किस प्रकार यहाँ सहसा ही राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक चेतना फूट पड़ी। वस्तुतः वह चतुर्मुखी जागृति और प्रगति का काल है। विशेषकर 19वीं शताब्दी का उत्तरार्ध। 1857 के स्वतन्त्रता-संग्राम की असफलता और सरकार के दमन के कारण कुछ दिनों तक शिथिलता अवश्य दिखायी दी, परन्तु वह तूफान से पूर्व की शान्ति जैसी थी। इस असफलता का एक परिणाम यह भी हुआ कि लोगों का ध्यान राजनैतिक उथल-पुथल से हटकर सामाजिक क्रान्ति की ओर उन्मुख हुआ। सामाजिक क्रान्ति के बिना राजनैतिक क्रान्ति सफल नहीं होती, यह सत्य अब जैसे स्पष्ट हो गया। इसलिए 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सारा भारत सामाजिक क्रान्ति के अनेकानेक मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्तराधिकारी प्रकट होने लगे। इन व्यक्तियों ने मानसिक स्वाधीनता का जो बीज बोया, उससे देश की चेतना को जैसे मार्ग मिल गया। वह नाना रूपों में अपना अस्तित्व सिद्ध करने लगी।

इस क्षेत्र में बंगाल सबसे आगे रहा। राजा राममोहन राय भारतीय राष्ट्रीयता के जनक माने जाते हैं, परन्तु सबसे पहले उनकी दृष्टि धर्म की ओर ही आकृष्ट हुई। इसका कारण खोज लेना कठिन नही है। उन दिनों भारत में सभ्यता और संस्कृति शासकों के कारण इतनी नहीं फैली, जितनी पादरियों के कारण। सन् 1833 तक उन्हें लाइसेंस लेकर आना होता था। परन्तु उस समय तक ही वे भारत के विभिन्न स्थानों में पहुँच चुके थे। बंगाल तो मिशनरियों का प्रधान केन्द्र बन गया था। आरम्भ में इनका स्वागत नहीं हुआ, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इनके कारण ही 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भारत में, विशेषकर बंगाल में, सामाजिक चेतना का उत्थान और विकास हुआ।

यह चेतना पैदा करना इनका ध्येय नहीं था। परन्तु अपने

धर्म का प्रचार करने के लिए उन्हें शिक्षा और सुधार का काम करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अपने धर्म की श्रेष्ठता दिखाने के लिए वे हिन्दू धर्म की कुरीतियों का प्रदर्शन करते थे। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप समझदार लोगों के मन में चेतना जागी और अनायास ही अपने धर्म में सुधार करने का प्रश्न उनके सामने आ गया। उस समय धर्म ही व्यक्ति और समाज का मूलाधार था। इसके बिना समाज-सुधार की कल्पना हो ही नहीं सकती थी। इसलिए राजा राममोहन राय ने धर्म-संस्कार की ओर ध्यान दिया। उन्होंने निराकार ब्रह्म की साधना, ऐकश्वरवाद और अद्वैतवाद को हिन्दू धर्म का शुद्ध रूप प्रमाणित करने की चेष्टा की। सामाजिक कुप्रथाओं पर प्रहार करके समाज-सुधार का श्रीगणेश भी किया, जो कालान्तर में सारे भारत में व्याप्त हो गया और ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आर्य समाज, थियॉसोफी आदि संस्थाओं के रूप में प्रकट हुआ। रामकृष्ण की जीवनदृष्टि सहित ये सब इस काल के महाप्रयास हैं।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, महादेव गोविन्द रानाडे, मैडम ब्लावट्स्की, कर्नल आल्काट आदि दिग्गज समाज-सुधारक और सन्त उस समय जीवित थे, जब स्वामी विवेकानन्द का जन्म हुआ। उनकी जलायी हुई बौद्धिक-स्वातंत्र्य, देशप्रेम और समाज-सुधार की ज्योति धीरे-धीरे प्रखर रूप में प्रदीप्त होती जा रही थी ओर इस महामन्थन का प्रभाव जीवन के सभी अंगों पर पड़ रहा था।

इनमें से अधिकांश आन्दोलनों का मुख्य लक्ष्य समाज-सुधार था। विद्यासागर ने विधवा-विवाह का समर्थन करके भारतीय नारी के कष्टों को दूर करने के लिए सम्भवत: सबसे पहला ठोस कदम उठाया। स्वामी दयानन्द सरस्वती बड़े उग्र रूप में सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार कर रहे थे। लेकिन केशवचन्द्र सेन धर्म-सुधार की तीव्रता की अपेक्षा समन्वय के अधिक पक्षपाती थे। लेकिन उनसे भी आगे थे श्रीरामकृष्ण परमहंस, जो सर्वधर्म-समन्वय के आदर्श के प्रतीक ही थे। वे मत-मतान्तरों के वाद-विवाद में न उलझकर एक ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते थे। उनकी दृष्टि में धर्म के बाह्य चिह्न गौण थे। विधि-विधान व्यर्थ थे। मुख्य था उसका आत्मिक पक्ष। कवि दिनकर के शब्दों में–

"जब आस्तिक और नास्तिक, हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रश्न पर लड़ रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नहीं, तब परमहंस रामकृष्ण ने सभी धर्मों के मूल तत्त्व को अपने जीवन में साकार करके मानो सारे विश्व को यह सन्देश दिया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जानेवाले अनेक मार्ग हैं। जब तक तुम अनुभूति की ऊँचाई पर हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

"वे उस ऊँचाई के मनुष्य थे जहाँ से सभी धर्म सत्य और समान दिखते हैं, जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुँचती, जहाँ धर्म अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक गन्ध को छोड़कर केवल धर्म के रूप में उपस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे, जिसके दो-एक छींटों से ही जन्म-जन्म की तृष्णा शान्त हो जाती है। हिन्दू धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, वे उसकी प्रतिमा थे। सिर से पाँव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी।"

ऐसे परमहंस रामकृष्ण के शिष्य थे विवेकानन्द। इसी आदर्श के प्रचारक बनकर वे जीवन-भर देश-विदेश में घूमते रहे। वे उदार भारतीय धर्म के निपुण व्याख्याता थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति का नाम उज्ज्वल किया और देशवासियों के हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के लिए सात्त्विक स्वाभिमान उत्पन्न करते हुए विश्व-मानव बनने की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा, "मनुष्य का निर्माण करना ही मेरा धर्म है।"

सन् 1893 में शिकागो में विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था। स्वामीजी उसमें भाग लेने के लिए गए थे। तब उनसे बहुत ही कम लोग परिचित थे। लेकिन जिस समय वे उस सम्मेलन में बोलने के लिए खड़े हुए और उनके मुख से ये शब्द निकले– "अमेरिका के प्यारे भाई-बहनो!" तो दो मिनट तक तालियों की गड़गड़ाहट कानों की झिल्ली फाड़ती रही। ऊपर से देखने में इने सीधे-सादे शब्दों में कुछ भी तो जादू नहीं है, लेकिन इनके पीछे आत्मा की जो ध्वनि थी, उसने मानो इनके वास्तविक अर्थ को स्पष्ट कर दिया। धार्मिक एकता की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "यदि यहाँ पर उपस्थित किसी व्यक्ति को यह आशा है कि यह एकता किसी एक धर्म की विजय और दूसरे धर्मों के विनाश से पैदा होगी तो मैं उससे कहता हूँ– बन्धु, तुम्हारी आशा असम्भव है। क्या मैं चाहता हूँ कि ईसाई हिन्दू हो जाएँ? भगवान ऐसा न करें! क्या मैं चाहता हूँ कि हिन्दू या बौद्ध ईसाई हो जाएँ? भगवान ऐसा न करे। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू या बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। परन्तु हर एक को यह प्रयत्न करना है कि वह दूसरे की भावना को आत्मसात् कर ले और फिर अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए स्वयं अपने विकास-नियम द्वारा विकसित हो।"

विवेकानन्द के कण्ठ से निकलनेवाली यह आवाज किसकी आवाज थी? यह भारतीय संस्कृति की आवाज है। भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। एक है व्यापक सहिष्णुता

अर्थात् उदारता अर्थात् दूसरे के दृष्टिकोण को समझना, और दूसरी है सार्वभौमिक दृष्टिबिन्दु, अर्थात् जो नया है उसे आत्मसात् करके अपना बनाना। हिन्दू धर्म का विकास इन्हीं दो विशिष्टताओं का परिणाम है। इसलिए तो विश्व धर्म सम्मेलन में उनके ये शब्द निकले, "अमेरिका के प्यारे भाई-बहनों" और इसलिए उनका भाषण सुनकर 'द न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा था, "विश्व-धर्म-सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द नाम के एक महापुरुष आए हैं। उनके ओजस्वी व्याख्यान सुनकर हम सोचने लगते हैं कि ऐसी पवित्र जाति के लिए पादरियों को भेजना कैसी मूर्खता है।"

जापान से लिखे अपने एक पत्र में स्वामीजी ने अपने देशवासियों को कहा था, "आओ, मनुष्य बनो। अपने संकीर्ण घोंसले से निकलो और दूर-दूर तक देखो। देखो, किस भाँति जातियाँ बढ़ रही हैं। क्या तुम अपने को प्यार करते हो? क्या तुम्हें अपना देश प्यारा है? लोग अब भी भारत को 'कैवल्य-भूमि' मानते हैं। परन्तु तुम वास्तव में क्या हो? जीवन भर व्यर्थ बातें बनाते हो। आओ, इन जापानियों को देखो और फिर लज्जा से अपना मुख छुपा लो। अपने सिरों पर वहमों का बोझ लादकर बैठे रहनेवालों, सामाजिक विकारों ने तुम्हारी मनुष्यता को कुचल दिया है। अब तुम क्या देखते हो?"

उन्होंने कहा, "दुनिया के दूसरे राष्ट्रों से हमारी अलहदगी इस पतन का कारण है और इसका इलाज सिर्फ यही है कि हम फिर से बाकी दुनिया की धारा में शामिल हो जाएँ। गतिशीलता जीवन का चिन्ह है, इसलिए संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिमवालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर पर चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं होती और समानता वहाँ आएगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य?" 1898 के पत्र में उन्होंने इसी भावना को व्यक्त करते हुए लिखा था, "हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म–हिन्दू और इस्लाम मिलकर एक हो जाएँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शारीरिक संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"

वे सच्चे राष्ट्रवादी थे, पर उनकी राष्ट्रीयता संकीर्ण नहीं थी। वह अन्तर्राष्ट्रीय ही थी। उन्हें भारत की प्राचीन संस्कृति और आध्यात्मिक विरासत पर गर्व था। उन्हें विश्वास था कि भविष्य और भी महान् है, परन्तु वर्तमान कूपमण्डूकता, पुराणपन्थीपन और समय से पिछड़ेपन से वे बड़े दु:खी थे, जिनके कारण महान् भारतीय जनता गरीबी और अन्धविश्वास में फँसी है और विश्व की वर्तमान विचारधारा से पिछड़ गयी है। उन्होंने कहा, "आओ, हम प्रतिदिन प्रार्थना करें, भारत की आत्मा मेरा सर्वोच्च स्वर्ग है, भारत का हित मेरा हित है। हे जगदम्बा, मुझे मनुष्यता प्रदान कर। हे महाशक्ति, मेरी दुर्बलता तथा पशुता का हरण कर और मुझे मनुष्य बना!"

इसीलिए जो सबसे नीचे थे, सबसे उपेक्षित थे, उनके लिए वे तड़पते थे। उन्होंने कहा, "आओ, हममें से हरएक प्रतिदिन उन अभागों के लिए प्रार्थना करें, जो गरीबी, पुरोहितवाद और अत्याचार का शिकार हैं। मैं ऊँचे वर्ग के लोगों और धनियों में धर्मप्रचार करने के स्थान पर उन्हीं के बीच धर्म का प्रचार करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। मैं गरीब हूँ। गरीबों को प्यार करता हूँ। जो सबकी सेवा करता है, वही भगवान की सेवा करता है। सामाजिक, राजनीतिक या आध्यात्मिक इन सबकी प्रगति का एक ही आधार है, और वह यह है कि मैं और मेरे भाई एक हैं। यह तमाम देशों और तमाम जातियों के लिए सत्य है।"

दीन-दरिद्रों के प्रति उनकी ममता की थाह नहीं। इनकी एक कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं, "तुम्हारे सामने अनेक रूपों में ईश्वर विराजमान हैं। इन्हें छोड़कर तुम उन्हें कहाँ ढूँढ़ रहे हो? जो जीवों से प्रेम करता है, वही ईश्वर की सेवा करता है।"

तो यह था स्वामी विवेकानन्द का आदर्श और यही था उनका सन्देश। उनका यह सन्देश उनके मानवप्रेम का प्रतीक है। उनकी राष्ट्रीयता भी मानवता का ही एक रूप है। उन्होंने अपने अन्तर में पूर्व और पश्चिम में जो सर्वोत्तम है, उसको एकरूप कर लिया था। पूर्व की गहन अन्तर्दृष्टि और उसका आदर्शवाद तथा पश्चिम का विश्लेषणात्मक बुद्धिवाद और गत्यात्मक व्यावहारिकता–ये सभी गुण उनके अन्तर में सामन रूप से रमे हुए थे। इसीलिए वे बार-बार व्यग्र होकर पुकार उठते थे, "कब? हे प्रभो, कब मनुष्य मनुष्य का भाई होगा?"

उनकी यह पुकार आज भी आकाश में गूँज रही है। इस पुकार को सुनने और समझने में ही सबका कल्याण है। यही वेदान्त है और यही है अनेकान्त।

□□□

स्वामी विवेकानन्द और शिक्षा

-श्रीमती चन्द्रकुमारी हण्डू

(भारत की शिक्षा कैसी हो?– इस पर स्वामी विवेकानन्द के विचारों पर प्रकाश डालने वाला यह लेख अपने मूल अँगरेजी रूप में रामकृष्ण मिशन इंस्टीटयूट ऑफ कल्चर द्वारा प्रकाशित 'बुलेटिन' से अनूदित होकर 'विवेक-ज्योति' के प्रवेशांक मे मुद्रित हुआ।)

अच्छी शिक्षा राष्ट्र-निर्माण के सर्वश्रेष्ठ साधनों में से एक है। भारत का भविष्य भी काफी कुछ इसी बात पर निर्भर करता है कि उसकी वर्तमान पीढ़ी इस समस्या का हल किस प्रकार प्रस्तुत करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाश्चात्य भावापन्न और पूर्णत: राष्ट्रविरोधी हमारी यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली आधुनिक भारत की पृष्ठभूमि से एकदम विसंगत है। यह तो हमें उन अँगरेजों की विरासत के रूप में मिली है, जिन्होंने हममें से कुछ लोगों को अपनी भाषा में इसलिए दीक्षित किया कि हम उनके कार्यालयों में विलक्षण यांत्रिक गति से कार्य कर सकें और शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को दृढ़ता व संरक्षता प्रदान कर सकें। पर समय में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया है, और आज हमें भीरू और प्राणहीन लिपिकों के स्थान पर ऐसे स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता है, जो साहसी हों, कुशल और दक्ष हों, ऊँची भावनाओं से अनुप्राणित हों, स्वार्थ के संकीर्ण दायरे से उठे हुए हों, रचनात्मक अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हों। ऐसे स्त्री-पुरुष केवल जीविकोपार्जन करने अथवा कुछ बच्चों के भरण-पोषण में ही अपने आप को खपा देने के बदले, महत्तर उद्देश्यों के कार्यान्वयन में अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़तापूर्वक नियोजित कर सकेंगे।

स्वामी विवेकानन्द यद्यपि मानवमात्र के प्रेमी थे और संसार को धर्म की शिक्षा देनेवाले आचार्य थे, तथापि वे महान् देशभक्त और भारतीय जनता के अग्रगामी नेता भी थे। एक अज्ञात संन्यासी के रूप में भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक परिव्रजन करते समय उन्होंने उन बातों पर गहराई से विचार किया था, जो भारत के पतन में कारणस्वरूप रहीं थी। अपनी मातृभूमि को सभ्य राष्ट्रों के बीच में फिर से पुरातन गरिमा और उत्कर्ष से मण्डित देखना उनकी हृदय की सर्वाधिक वेगवती इच्छा थी। उनके प्रेरणादायक संवादों में हम जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं देखते, जो उनकी तीक्ष्ण मेधा और गम्भीर आध्यात्मिक अर्न्तदृष्टि के संस्पर्श से अछूता रहा हो, और इन पक्षों में शिक्षा महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

भारतीय परम्परा के अनुसार जब जब संस्कृति और सभ्यताएँ अध:पतित हुई हैं, जब-जब मानवीय मेधा विभ्रमित और विमूढ़ हुई हैं, तब-तब जीवन की नई दिशाओं की ओर संकेत करने तथा मानव-हृदय में शक्ति और विश्वास की लहर भरने के लिए महान् मनीषियों का अवतरण हुआ है। स्वामी विवेकानन्द ऐसे ही एक मनीषी थे। उन्होंने स्पष्ट और कभी-कभी लौकिक भाषा में पुरातन भारत से भी अधिक और महत्तर, अपने भारत की रूपरेखा प्रस्तुत की है। अत: आज, जब हमारा मन शिक्षा की समस्या से उद्वेलित हैं, यह उचित ही होगा कि हम स्वामीजी के शिक्षा-विषयक विचारों से परिचित हों; क्योंकि हमारी पीढ़ी की इस ज्वलन्त समस्या पर स्वामीजी ने जो विचार प्रस्तुत किए हैं उनका अध्ययन हमारे बालकों की शिक्षा-प्रणाली के नियोजन की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा।

शिक्षा की परिभाषा

स्वामीजी से कभी पूछा गया था, "आज की विश्वविद्यालयीन शिक्षा-प्रणाली में क्या दोष हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "क्यों, वह तो आदि से अन्त तक दोषों से भरी हुई है," और अपनी बात पर जोर देते हुए वे बोले, "यह बाबुओं का उत्पादन करने में सक्षम और कुशल यंत्र के अतिरिक्त और क्या है? यदि इतना ही होता तो भी मैं प्रभु को धन्यवाद देता। पर कहाँ! देखो न लोग किस प्रकार श्रद्धा और विश्वास से हीन होते जा रहे हैं। वे घोषणा करते हैं कि गीता भ्रमात्मक है– एक क्षेपक मात्र है,

और वेद ग्राम्य लोकगीतों से अधिक महत्त्व नहीं रखते।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने आधुनिक शिक्षा की उपमा एक ऐसे व्यक्ति से दी थी, जिसे यह बताया गया था कि गधे को पीटने से वह घोड़ा बन जाता है और उसे अपने गधे को घोड़ा बनाने के लिए पीट-पीटकर अधमरा कर डाला था।

यद्यपि स्वामीजी की शिक्षा की परिभाषा बहुतों को मालूम है, तथापि प्रस्तुत सन्दर्भ में उसकी पुनरावृत्ति वांछनीय है। स्वामीजी ने कहा है, "शिक्षा मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता का विकास है।" मानव में अन्तर्निहित पूर्णता का विचार एक विशुद्ध वेदान्तिक धारणा है। इसकी उपलब्धि मानव-जीवन के स्तर पर गौरव को अत्यधिक परिवर्धित कर देती है, इसकी स्वीकृति निष्ठा और आत्म-विश्वास की पहली सीढ़ी है और यह आत्म-विश्वास पौरुष एवं चरित्र का सार है। यद्यपि यह परिभाषा एक सार्वकालिक सत्य है और सभी लोगों के लिए प्रयोजनीय है, तथापि इस आधुनिक युग के लिए, जो अलगाव की वृत्ति, संकीर्णता और दलगत भावनाओं को मानवीय चिन्तना के विश्वास के पथ में व्यवधान स्वरूप समझता है, वह विशेष रूप से प्रयोज्य है। स्वामीजी पुन: कहते हैं, "शिक्षा है क्या? क्या वह किताबी ज्ञान है? नहीं!– तो क्या वह बहुमुखी ज्ञान है?– वह भी नहीं। शिक्षा वास्तव में एक ऐसा प्रशिक्षण है, जिसके द्वारा संकल्प-शक्ति की अभिव्यक्ति को और उसके प्रवेग को सन्तुलित एवं लाभप्रद बनाया जाता है।"

विज्ञान की शिक्षा के पक्ष में

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा की सूक्ष्मताओं पर भी पूरी स्पष्टता से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। मोटे तौर पर वे पाशचात्य विज्ञान को वेदान्त के साथ समायोजित करना चाहते थे, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार दोनों के समाहार से ही विश्व में समृद्धि और शान्ति के युग का अवतरण होगा। विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों ने जीवन के कठिन और अरुचिकर कार्यों को सुकर बना दिया, पर यांत्रिक उपकरणों की सहायता से मनुष्य ने जिस विशद् अवकाश की उपलब्धि की है, उसका उपयोग सही तरीके से नहीं हो सका है। मनुष्य को जीने के लिए विवेक और कष्टों को सहने के लिए धैर्य प्रदान करने के साथ, वेदान्त उसकी मनोगत आकांक्षाओं की तृप्ति भी कर सकता है और विश्व की नैतिक क्षयग्रस्तता का निवारण कर सकता है। जन-सेवा के लिए समवेत प्रयत्न से स्वार्थ और लोलुपता पर अंकुश लगेगा और मन की निरंकुश प्रवृत्तियों से उत्पन्न होनेवाली बुराइयाँ दूर होंगी। स्वामीजी ने कहा है, "आज इस बात की आवश्यकता है कि हम वैदेशिक नियंत्रण से परे, स्वतंत्र रूप से, ज्ञान की उन विविध शाखाओं का अध्ययन करें, जो हमारी अपनी है। साथ ही, हम अँगरेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का भी ज्ञान प्राप्त करें। हमें तकनीकी शिक्षा तथा उन सब बातों की आवश्यकता है, जिनसे हम उद्योगों का विकास कर सकें और नौकरी ढूँढ़ने के बदले अपने पैरों पर खड़े रहकर इन उद्योगों के द्वारा जीविका के लिए यथेष्ट उपार्जन कर सकें तथा दुर्दिनों के लिए कुछ बचा भी सकें।"

वर्तमान समय में भाषा की समस्या हमारे देश की एक ज्वलन्त समस्या है। नयी व्यवस्था में अँगरेजी, अन्य प्रादेशिक भाषाओं और संस्कृत का क्या स्थान होगा? स्वामीजी के उपयुक्त उद्धरण से तथा उनके अन्य लेखों से ऐसा प्रतीत होगा कि उन्होंने वैज्ञानिक शिक्षा के माध्यम के रूप में अँगरेजी भाषा का महत्त्व प्रदान किया था। यद्यपि उन्होंने विशेष रूप से एक सर्वसामान्य भाषा की आवश्यकता का प्रतिपादन नहीं किया था, पर यदि हम उनकी शिष्या निवेदिता को उनके विचारों की सच्ची भाष्यकर्त्री समझते हैं, तो हम कदाचित् उनके विचारों के स्थान पर निवेदिता के विचार ग्रहण कर सकते हैं। शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय अखण्डता कैसे लायी जा सकती है, इस पर विचार करते हुए निवेदिता ने अपने 'National Education in India' (भारत में राष्ट्रीय शिक्षा) नामक ग्रन्थ में लिखा है, "यदि सभी मनुष्य एक ही भाषा में वार्तालाप करें, एक ही प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करना तथा समान लक्ष्यों की अनुभूति करना सीखें, यदि सभी को समान शक्तियों के प्रति समान रूप से प्रतिक्रियाएँ प्रकट करना सिखाया जाये और उन्हें इसके लिए सक्षम बनाया जाय, तब तो हमारी एकता स्वयंभू बनकर प्रकट होगी और अटूट रहेगी।"

संस्कृति की रक्षक संस्कृत

प्रादेशिक भाषाओं और संस्कृत के विषय में स्वामीजी ने कई अमूल्य और विधेयात्मक सुझाव प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि वे प्रादेशिक भाषाओं की संवर्धना के पक्ष को महत्त्वपूर्ण समझते थे, फिर भी वे दृढ़तापूर्वक संस्कृत की महत्ता को अन्य सभी तथ्यों की अपेक्षा अधिक मानते थे। प्रादेशिक भाषाएँ और संस्कृत भाषा जीवन के अलग-अलग कार्यों की पूर्ति करती है; अतएव उनमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। किन्तु अन्य प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा की देन बहुत अधिक है। स्वामीजी कहते थे, "संस्कृत की ध्वनि मात्र ही जाति की शक्ति, क्षमता और प्रतिष्ठा प्रदान करती है।" रामानुज, कबीर और चैतन्य का उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि यद्यपि इन महापुरुषों ने निम्नवर्ग को ऊपर उठाया, किन्तु उन्होंने संस्कृत विद्या का प्रसार नहीं किया। उन्होंने कहा, "बुद्ध तक ने एक गलत कदम यह ले लिया कि उन्होंने जनता को संस्कृत भाषा सीखने के लिए उत्साहित नहीं किया। यदि आप प्रादेशिक भाषा में जनसामान्य को शिक्षा प्रदान करते हैं तथा विचारों से अवगत कराते हैं, तो वे केवल जानकारी ही प्राप्त कर पायेंगे।

पर केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है। उन्हें संस्कृति भी प्रदान करने की आवश्यकता है। समाज भले ही विकसित और उन्नत हो जाय, पर जब तक जनसामान्य में संस्कृत भाषा का प्रसार नहीं किया जाता, तब तक समाज की विकसित अवस्था में स्थायित्व नहीं आ सकता।" संस्कृत पुरातन विद्या का कोष है। वह मानवजाति के सबसे उदात्त विचारों का विग्रह है। जो व्यक्ति इसमें दीक्षित नहीं है, वे इसकी सशक्तता और गम्भीरता का तनिक भी परिचय नहीं पा सकते। यह हमें केवल हमारी प्राचीन महानता का ही ज्ञान नहीं करा सकती, अपितु हममें वह श्रद्धा और आत्मविश्वास भर सकती है, जो आज विदेशी प्रशासन और अराष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के कारण जड़ से हिल गए हैं। भारतीय संस्कृति और संस्कृत एक-दूसरे के पर्याय हैं।

कला का अर्जन

हमें जीवन की जटिलता और दुर्वहनीयता के बीच में पड़कर अपनी कला को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द इस विषय पर भी हमें अपना सुझाव देना नहीं भूले, वे कहते हैं, "एशियावासियों की आत्मा ही कलामय है। एशियावासी किसी भी कलारहित वस्तु का उपयोग नहीं करते। ... कला हमारे धर्म का ही एक अंग है।" उन्होंने चित्रखचित पात्रों, नयनाभिराम साड़ियों तथ कलात्मक धोतियों की ओर अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हुए उन्हें दीन-हीन कृषक की मिट्टी से बनी झोपड़ियों तथा अनाज रखने की कोठियों तक में कलाभिरुचि का दर्शन कराया और बताया कि हमारी स्थापत्य-कला किसी अनजान कारीगर के सपनों की प्रस्तरमयी विग्रह है। जैसे पश्चिम का आदर्श उपयोगिता है, वैसे ही भारत का आदर्श कला है। स्वामीजी का विचार था कि जापान में पश्चिमी उपयोगिता और भारतीय कला का सुन्दर समन्वय घटित हुआ है, जबकि भारत मूर्खतापूर्वक पाशचात्य उपयोगितावाद के अन्धानुकरण का प्रयत्न कर रहा है। वे चाहते थे कि भारत में भी दोनों का सुन्दर समन्वय हो।

शिक्षा की आध्यात्मिक भित्ति

पूर्णत: धर्म-निरपेक्ष शिक्षा-प्रणाली का स्वामीजी ने अनुमोदन नहीं किया। उनका कथन था, "हमारी शिक्षा, बुद्धि तथा हमारे विचार पूर्णत: आध्यात्मिक हैं, और वे सभी अपनी पूर्णता धर्म में पाते हैं। पश्चिम में उनकी अभिव्यक्ति बाहर है– भौतिक और सामाजिक स्तरों पर है।" व्यक्ति के समान राष्ट्र की भी अपनी एक विशिष्ट प्रतिभा होती है और उसके विकास का एक विशेष मार्ग होता है। भारत में धर्म ही उसका प्राण-केन्द्र है। एक अवसर पर उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि यदि भारत राजनीति के लिए धर्म का परित्याग करेगा, तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं और मूल्यों की प्रवहमानता के प्रति स्वामीजी के प्रेम का उल्लेख करती हुई भगिनी निवेदिता अपनी 'The Master as I Saw Him' नामक ग्रंथ में लिखती हैं, "स्वामीजी के लिए प्रत्येक नवीन वस्तु प्राचीन निवेदन के भाव से शुद्ध की हुई थी। भगवती सरस्वती का चित्र आँकना, स्वामीजी के मतानुसार, 'उसकी पूजा करना' था। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करना मानो 'घुटने टेककर रोग और मलीनता के पिशाचों के नाश के लिए प्रार्थना करना' था ...! धार्मिक एकाग्रता की शक्ति के लिए मानवीय मेधा को उसकी चरम पूर्णता के स्तर पर पहुँचा देना, उनके विचार से, एक आवश्यक तत्त्व था। वे अध्ययन को तपस्या मानते थे और हिन्दुओं की ध्यानोन्मुखता को वैज्ञानिक अर्न्तदृष्टि की उपलब्धि में सहायक समझते थे।" इस प्रकार शिक्षा स्वयं में एक साधना और धर्म का एक अंग है और स्वामीजी के विचार से धर्म-निरपेक्ष और धर्मोपेत शिक्षा का अलग-अलग रहना सम्भव नहीं है।

शारीरिक बल की अनिवार्यता

स्वामीजी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक–हर प्रकार के बल को जरूरी मानते थे। अत: वे शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता पर जोर देना भी नहीं भूले। अपने शिष्य के साथ वार्तालाप में उन्होंने कहा था, "तुम्हें शरीर को खूब शक्तिशाली बनाने की विधि जाननी चाहिए और दूसरों को भी इसे सिखाना चाहिए। क्या तुम नहीं देखते कि मैं अब भी डम्बेल्स के साथ व्यायाम करता हूँ? शरीर और मन दोनों को समान रूप से शक्तिशाली बनाना होगा। ... यदि लोगों को शारीरिक बल बढ़ाने की जरूरत समझा दी जाय, तो वे स्वयमेव उसके लिए प्रयत्न करने लगेंगे। इस आवश्यकता के बोध हेतु ही आज शिक्षा का प्रयोजन है।" उपनिषद् कहते हैं, **नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:** – "दुर्बल व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता।" जबकि शंकराचार्य प्रस्तुत सन्दर्भ में 'बलहीन' का अर्थ 'ब्रह्मचर्यहीनता' मानते हैं, स्वामीजी ने कहा, "शरीर से दुर्बल व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के योग्य नहीं है।" स्वामीजी अपने देशवासियों को सशक्त और सबल स्त्री-पुरुषों के रूप में देखना चाहते थे और उन्होंने अनेक प्रसंगों में अपनी यह आन्तरिक इच्छा व्यक्त की है, "मेरे तरुण मित्रो, बलवान बनो। मेरी तुम्हें यही सलाह है। तुम गीता पढ़ने की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे।"

शिक्षा-जीवन – संघर्ष की एक तैयारी

हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ, गरीबी हटाने के प्रयास तथा लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की हमारी कोशिशें–ये सभी स्वामीजी के विचारों के अनुकूल हैं। इन्हीं कारणों से स्वामीजी इस बात के लिए व्यग्र थे कि भारतवासी तकनीकी और विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करें, पर वे यह नहीं चाहते थे कि हम इस भौतिक लाभ के लिए अपनी प्राचीन आध्यात्मिकता से वंचित हो जाएँ। उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा था, "तुममें एक सुई बनाने की क्षमता तक तो है नहीं, और तुम अँगरेजों की आलोचना करने की धृष्टता करते हो। मूर्ख, जाकर उनके पैरों के पास बैठो और उनसे उन कलाओं, उद्योगों और व्याहारिकता को सीखो, जो जीवन-संघर्ष के लिए आवश्यक है।" एक दूसरे प्रसंग में उन्होंने कहा था, "आज की यह उच्च शिक्षा रहे या बन्द हो जाए, इससे क्या बनता-बिगड़ता है? अधिक अच्छा तो होगा यदि लोगों को थोड़ी तकनीकी शिक्षा मिल सके; जिससे वे नौकरी की खोज में इधर-उधर भटकने के बदले, किसी काम में लग सकें और जीविकोपार्जन कर सकें। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी आधुनिक जीवनधारा के प्रति एक उदार दृष्टिकोण रखते थे। वे भारत के अति संरक्षणशील और कट्टर-विचार-पोषकों की भाँति उसका अकारण विरोध नहीं करते। हाँ, पश्चिम के औद्योगिकरण के दोषों को वेदान्त के आलोक द्वारा घटाया जा सकता है, पर समय के चक्र को लौटाना सम्भव नहीं है; और न यही उचित है कि आज, जब विश्व विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्रों में इतने वेग से प्रगति कर रहा है, हम बैलगाड़ी और ग्राम्य अर्थव्यवस्था के युग में वापस चले जाएँ। स्वामीजी के निश्चयात्मक स्वर में कहा है, "जो शिक्षा-प्रणाली जनसाधारण को जीवन-संघर्ष से जूझने की क्षमता प्रदान करने में सहायक नहीं होती, जो मनुष्य के नैतिक बल का, उसकी सेवा-वृत्ति का, उसमें सुप्त केसरीतुल्य साहस का विकास नहीं करती, वह भी क्या 'शिक्षा' कहलाने योग्य है?"

शिक्षा के रचनात्मक होना चाहिए

शिक्षा-प्रणाली के विषय में स्वामीजी का यह दृढ़ मत था कि प्राचीन गुरु-गृहवास की प्रथा को, आधुनिक सन्दर्भ में संशोधित-परिवर्धित करके, लड़के और लड़कियाँ दोनों के लिए लागू करना चाहिए। उनका कथन था कि "छात्र को बाल्यावस्था से ही ऐसे व्यक्ति के संसर्ग में रहना चाहिए, जिसका चरित्र ज्वलन्त अग्नि के समान पवित्र हो।" उनका विचार था कि एकमात्र जीवन ही सबसे उत्तम शिक्षक है; क्योंकि पवित्र जीवन का प्रत्यक्ष उदाहरण ही मनुष्य में निहित प्रसुप्त दैवत्व का विकास करता है। उन्होंने इस तथ्य को गम्भीरपूर्वक प्रतिपादित किया कि "यदि देश के बच्चों की शिक्षा का भार फिर से त्यागी और नि:स्पृह व्यक्तियों के कन्धों पर नहीं आता, तो भारत को दूसरों की पादुकाओं को सदा-सदा के लिए अपने सिर पर ढोते रहना होगा।" वे चाहते थे कि प्राचीन काल के समान ही सभी विद्यार्थी कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करें, जिससे उनके हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हो सके। मनसा-वाचा-कर्मणा ब्रह्मचर्य का पालन करने से संकल्प-शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार का ब्रह्मचर्य ही आध्यात्मिक-शक्ति को जन्म देता है और सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्वों को समझने की मेधा प्रदान करता है, उसी से वाग्मिता एवं अन्य शक्तियाँ विकसित होती है। स्वामीजी श्रद्धा को मूलभूत धर्म मानते थे। श्रद्धा का निर्माण ध्येय-निष्ठा, विनम्रता, पूज्य भाव और सन्देह के झंझावात में अडिग रहने वाला दृढ़ विश्वास, इन सब गुणों के एकत्र मेल से होता है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि स्वामीजी आधुनिक आलंकारिक एवं अवसादमयी शिक्षा की कामना नहीं करते थे, अपितु उन्हें क्रियात्मक एवं रचनात्मक शिक्षा की अपेक्षा थी। जब तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में नवीन प्राण-शक्ति का संचार नहीं किया जाता, तब तक भारत के नवनिर्माण की दिशा में प्रयत्न करना व्यर्थ है।

शिक्षा का भारतीय आदर्श

शिक्षा का भारतीय आदर्श मन का वह नियंत्रण है, जिससे हम उसे जहाँ चाहें ठीक वहीं लगा सकें। एकाग्रता की प्राप्ति उत्तम तो है, पर जब तक उसके साथ हममें अनासक्ति की भी शक्ति नहीं आती, तब तक सम्भव है कि वह हमें कठिनाइयों के आवर्त में डाल दे। स्वामीजी कहते हैं, "तथ्यों के संग्रह को नहीं अपितु एकाग्रता को ही मैं शिक्षा का मूल समझता हूँ। यदि मुझे पुन: शिक्षा प्राप्त करनी होती, तो मैं एकाग्रता और अनासक्ति, दोनों की शक्तियों को विकसित करता और तब उस मन रूपी निर्दोष यंत्र की सहायता से इच्छामात्र से ही तथ्यों का संग्रह कर लेता।" यहाँ पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली द्वारा योग-मनोविज्ञान के अनुशासनों का लाभदायक उपयोग किया जा सकता है।

अन्त में, यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आधुनिक शैक्षणिक मनोविज्ञान की प्रणाली में शिशु के व्यक्तित्व के प्रति जो सम्मान का तथ्य पाया जाता है, वह अभी-अभी प्रारम्भ हुआ है, जबकि भारतीय वेदान्त कल्पनातीत काल से इस तथ्य से परिचित था। उस समय शिक्षा यथासम्भव व्यक्तिपरक थी। सारा ज्ञान मनुष्य में निहित है। यही क्यों, एक बालक में भी समग्र ज्ञान प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। शिक्षक का कर्तव्य केवल इतना ही है कि वह उस प्रच्छन्न ज्ञान की अभिव्यक्ति की बाधाओं को दूर कर दे और अपने विद्यार्थियों को यह सिखा दे कि अपने हाथ, पैर, नेत्र और कानों का समुचित उपयोग करने के लिए वे किस प्रकार अपनी बुद्धि से काम लें।

भारतीय समाज में बौद्धिक वर्ग को एक सुविधापूर्ण स्थान प्राप्त है। पर प्रत्येक सुविधा के साथ उत्तरादायित्व का भाव भी भरा हुआ है। इस संक्रान्ति और उतार-चढ़ाव की अवधि में ही भविष्य अपना रूप निर्मित करेगा। अत: इस देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह आत्मविकास के लिए ज्ञान का अर्जन करे और उसका दान उन लोगों को भी दे, जिन्हें उसकी आवश्यकता है। कलियुग में दान को सर्वश्रेष्ठ धर्म की संज्ञा दी गई है। हम ज्ञान से भी मूल्यवान और किस वस्तु का दान कर सकते हैं? क्रियामूलक और सर्जनशील ज्ञान के दान से दाता और पात्र दोनों का ही उत्थान होता है। इसी दान के माध्यम से भारतवर्ष उस गौरवमय युग को प्राप्त कर सकता है, जिसके अवतरण की घोषणा स्वामी विवेकानन्द कर गए हैं।

आधुनिक भारत के प्रथम निर्माता-स्वामी विवेकानन्द

-शान्ता कुमार

आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जब स्वामी विवेकानन्दजी का जन्म हुआ, तब भारत इतिहास के एक विकट मोड़ से गुजर रहा था। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने अंग्रेज शासन की जड़ें हिला दी थीं। अंग्रजी हुकूमत आजादी की मशाल बुझाने की कोशिश कर रही थी। सैनिक शक्ति के बल पर ऊपर से सबकुछ दबा दिया गया, पर अंग्रेज जानते थे, आजादी की चिनगारियाँ सुलग रही हैं। उन्होंने सब प्रकार से शासन को दृढ़ करने के प्रयत्न किए। जनता को प्रसन्न करने की भी कोशिश की, पर सबसे बड़ा काम ईसाई मिशनिरयों द्वारा भारत के जनमानस में भारतीय धर्म व समाज के प्रति एक हीन भावना फैलाने की कोशिश की। राजनैतिक गुलामी को मजबूत करके मानसिक गुलामी को बढ़ाने की कोशिश की। इसका प्रभाव भी होने लगा। गरीब, दलित व हिंदू पुराण-पंथियों के दुर्व्यवहार से प्रताड़ित हिंदू ईसाई धर्म को अपनाने लगे।

स्वतंत्रता संग्राम के छह वर्ष बाद सन् 1863 में स्वामी विवेकानन्द का जन्म हुआ। छात्र जीवन में ही वे अध्यात्म की ओर आकर्षित हो गए। परमात्मा की खोज शुरू हो गई। रवींद्रनाथ टैगोर के पिता श्री देवेंद्रनाथ टैगोर गंगा में एक किश्ती में साधना कर रहे थे। उनके पास जाकर प्रश्न पूछा, 'क्या आपने भगवान् देखा है?' वे कुछ समझाने लगे, पर यह कहकर लौट आए कि उन्होंने भगवान् नहीं देखा। बालक नरेन्द्र के मन की यह छटपटाहट दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। मन और कहीं लगता ही नहीं था। इसी खोज में वे रामकृष्ण परमहंस के पास पहुँचे और फिर उन्हीं के चरणों में पूरा समर्पण कर दिया। उनके शिष्य बन गए।

गुरु रामकृष्णजी ने उन्हें सब कुछ सिखाया, पर निर्विकल्प समाधि नहीं दी। कहा कि उनकी मृत्यु के बाद वे पूरे भारत का भ्रमण करें, फिर स्वयं निर्णय करें, उन्हें क्या करना है? गुरु की मृत्यु के बाद, पूरे भारत में घूमकर जब मातृभूमि की दुर्दशा देखी, झोंपड़ी में सिसकती गरीबी देखी, अंधविश्वास व पिछड़ेपन में कराहते भारत को देखा तो स्वामीजी आहत हो गए, द्रवित हो गए। अपना स्वयं का मोक्ष भूलकर उन्होंने कन्याकुमारी की शिला पर खड़े होकर ऐतिहासिक घोषणा कर दी– "हे प्रभु! मुझे मोक्ष नहीं चाहिए। जब तक भारत का प्रत्येक व्यक्ति भरपेट भोजन नहीं कर लेता, तब तक में ही जन्म लूँ और मातृभूमि की सेवा करूँ।" अध्यात्म का साधक देशभक्त संन्यासी बन गया।

शिकागो धर्मसभा में उन्हें अंतराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। उनके भाषण को सुनकर न्यूयॉर्क के प्रसिद्ध पत्र 'हेराल्ड' ने टिप्पणी की–"विवेकानन्द धर्मसभा में सबसे महान् व्यक्तित्व है, उनका भाषण सुनकर यह महसूस होता है कि इतने विद्वान् देश में इसाई धर्म प्रचारक भेजना कितनी मूर्खता की बात है।"

स्वामीजी ने विदेशों में भ्रमण करके भारतीय संस्कृति की महानता को उजागर किया। अध्यात्म का संदेश दिया। उसके बाद वे भारत लौट आए और भारत के जनमानस की मानसिक गुलामी को दूर करने का प्रयास किया। उनके विचारों और भाषणों का प्रभाव इसलिए और भी बढ़ गया था कि विदेशों में उन्हें बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी।

उन्होंने भारतीय स्वाभिमान को बढ़ावा देने की कोशिश की। भारत के युवाओं से वे अति आशावान थे। भारत के राष्ट्रीय आदर्श सेवा और त्याग को स्वामीजी युवाओं में भर देना चाहते थे। स्वामीजी ने कहा था, 'मैं चाहता हूँ लौह-पेशियाँ और इस्पात के स्नायु ... जिनके भीतर उसी धातु का बना मानस रहता है, जिनका वज्र बनाया जाता है।' शक्ति, पौरुष, क्षत्रिय-वीर्य, ब्रह्मतेज हमारे सुंदर एवं होनहार युवकों के पास यह सबकुछ है। भारत को स्वावलंबी बनाने के लिए वह युवकों को बलवान् देखना चाहते थे। युवकों को एक संबोधन में स्वामीजी ने कहा था, "सर्वप्रथम हमारे युवकों को बलवान् बनाना होगा। धर्म पीछे आएगा। यह शारीरिक दुर्बलता कम-से-कम हमारे एक-तिहाई दु:खों का कारण है। मेरे युवको! तुम बलवान् बनो, यही तुम्हारे लिए मेर उपदेश है। गीता पाठ करने के बजाय तुम फुँटबाल खेलने से स्वर्ग के अधिक समीप पहुँचोगे। मेरे ये शब्द तुम्हें अटपटे लगेंगे, पर इनका कहना अत्यावश्यक था। कारण–मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। बलवान् व पुष्ट शरीर से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर में तेजस्वी रक्त होने पर तुम कृष्ण की महान् शक्ति व उपनिषदों को अच्छी तरह से समझ सकोगे।" स्वामीजी मानते थे, संस्कार के हथौड़े से साधे हुए कुछ दृढ़ युवक ही देश में निर्माण व संस्कार-कार्य कर सकते हैं। वे कहा करते थे, "दो हजार वीर-हृदय, विश्वासी, चरित्रवान व बुद्धिमान् युवक तथा तीस करोड़ रुपया होने पर मैं भारत को अपने पैरों पर खड़ा कर सकता हूँ।"

स्वामीजी देश की गरीबी, भूखमरी और फटेहाली देखकर अत्यंत द्रवित हो उठे थे। उन्होंने गरीबों के उद्धार के लिए 'दरिद्रनारायण की सेवा' का उद्घोष किया था। स्वामीजी ने कहा था, "तुमने पढ़ा होगा ... मातृ देवो भव, पितृ देवो भव अर्थात् माता को भगवान् समझो, पिता को भगवान् समझो, किंतु मैं कहता हूँ, 'दरिद्र देवो भव'–इन गरीबों, अनपढ़ों, अज्ञानियों एवं दुखियों को ही अपना भगवान् मानो। स्मरण रखों ... केवल इनकी सेवा ही तुम्हारा परम धर्म है।" स्वामीजी कहा करते थे, "मैं उसी को महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए रोता है, अन्यथा वह तो दुरात्मा है।"

स्वामीजी दूरद्रष्टा थे। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि यदि भारत में आर्थिक विषमता तथा अति गरीबी बनी रहेगी तो देश विकास नहीं कर पाएगा। इसलिए गरीबी हटाने का आग्रह करते थे। उन्होंने दरिद्रनारायण की बात तो कही, यह भी कहा था, "जो लोग भारत के साधनों से संपन्न होकर अपने पैरों पर खड़े हो जाते हैं, परंतु गरीब के बारे में न कुछ सोचते हैं और न कुछ करते हैं, वे देशद्रोही हैं।"

क्रांतिकारी सुभाषचंद्र बोस ने कहा था, "स्वामी विवेकानन्द मानव-ऊर्जा एवं संघर्ष-शक्ति के मूर्तिमान प्रतीक थे। उन्होंने धर्म को एक नया अर्थ दिया, जो जन-जन के उद्धार के लिए था। वे इतने महान् पुरुष एवं अद्वितीय योगी थे कि मेरे पास शब्द नहीं, जो उनका वर्णन कर सकें।"

विवेकानन्द के बहुआयामी व्यक्तित्व का आकलन करना बहुत कठिन है। उनके विचारों ने युवा वर्ग पर जो छाप छोड़ी, वह अमिट है। वस्तुत: भारत के स्वतंत्रता-आंदोलन के संस्थापक विवेकानंद थे। उन्होंने ऐसे स्वतंत्र भारत की रूपरेखा दी थी, जिसमें विभिन्न मतावलंबी भारतीय देशभक्ति की एकता के सूत्र में बँधे होंगे। स्वामजी ने धार्मिक एकता के संदेश को विदेश तक भी पहुँचाया। भारत के सुदृढ़, उज्ज्वल भविष्य के लिए धार्मिक मतभेदों के ऊपर उठकर राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होना ही उनके जीवन का संदेश था–'स्वतंत्रता ... स्वतंत्रता ही आत्मा का संगीत है,' यह मंत्र रामकृष्ण एवं विवेकानन्द ने अपने परतंत्र देशवासियों के प्राणों में फूँक दिया।

जयप्रकाश नारायणजी स्वामी विवेकानन्द को सर्वोत्तम अन्वेषक ऋषि मानते थे। उनका कहना था–"स्वामी विवेकानन्द में बुद्धि-कौशल असीम था, पर उससे भी विशाल था–उनका हृदय।" एक बार बेलूर मठ में अपने शिष्यों से उन्होंने ये शब्द कहे थे–"यदि कभी तुम्हें बुद्धि या हृदय में से किसी एक को चुनने का अवसर मिले, तो बुद्धि को छोड़कर हृदय को चुनना।" वे एक ऐसे अद्वितीय संन्यासी थे, जिन्हें हिमालय की गुफा में ध्यान लगाकर मोक्ष प्राप्त करना स्वीकार न था। अपनी मुक्ति या अपने देशवासियों की दु:ख से मुक्ति? इसमें उन्होंने अपने हृदय की बात सुनी। उनका हृदय चारों ओर के दु:ख-दर्द को अनुभव कर दु:खी होता और उसे दूर करने के लिए व्याकुल हो उठता। यही कारण था उन्होंने उन्हीं पीड़ित देशवासियों में 'दरिद्रनारायण' खोज लिया और उसकी सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया।

स्वामी विवेकानंद ने सांस्कृतिक मंच से देशभक्ति की जो ज्वाला प्रज्वलित की, उसका परिणाम था कि 1857 की क्रांति के समय सोया रहनेवाला बंगाल उनकी मृत्यु के दो ही वर्ष बाद बंगभंग के प्रश्न पर एक महान् क्रांति करने के लिए तैयार हो गया। दासता की जंजीरों से जकड़े भारत ने स्वाभिमान से अँगड़ाई ली। उन्होंने देशभक्ति की लहर फैलाकर बाद के आजादी के आंदोलनों का मार्ग प्रशस्त किया।

स्वामी विवेकानन्द अपने जीवन के 40 वर्ष भी पूरे नहीं कर पाए। इस छोटी सी आयु में उन्होंने राष्ट्र-निर्माण का महान् कार्य पूरा कर दिखाया। वे आधुनिक भारत के प्रथम निर्माता थे और शताब्दी के सबसे महान् आध्यात्मिक दार्शनिक। स्वामीजी की इस असाधारण प्रतिभा के कारण ही एक विदेशी विद्वान ने कहा था–'वे आयु में छोटे पर ज्ञान के महासागर थे।' महान् विवेकानन्द से प्रभावित रोमाँ रोलाँ ने कहा था–"विवेकानन्द ने भारत की नई चेतना को जन्म दिया, जो वैदिक युग के ज्ञान के संदेश को देश में ही नहीं, विदेश में भी प्रचारित कर रही है।"

□□□

दलितों और वंचितों के हमदर्द: स्वामी विवेकानन्द

-नागेश्वर सिंह

स्वामी विवेकानन्द भारतीय मनीषियों के सफल अग्रदूत थे। उनतालीस वर्ष के जीवनकाल में उन्होंने जिस प्रज्ञा, मनीषा और बौद्धिक तेवर का प्रदर्शन किया, वह अतीव प्रशंसनीय है। उन्होंने अपने विवेक और ज्ञान की धारा से भारत और भारतीयता की धूमिल होती हुई छवि को सँवारने और परिष्कृत करने का काम किया है। संदेह नहीं कि उनके मन में अपने देश भारत के लिए असीम प्यार-स्नेह था। भारत माता और अपनी मातृभूमि की गरिमा और रक्षा के लिए वे अपना सर्वस्त्र न्योछावर करने के लिए तत्पर थे। अपनी मातृभूमि उन्हें जान से भी प्यारी थी। इस धरती के उपकार को वे कदापि नहीं भूले, जहाँ जन्म लेने के बाद वे पले-बढ़े।

हमारे लिए यह गौरव और गर्व का विषय है कि स्वामीजी रामकृष्ण परमहंस के प्रिय शिष्य थे। उन्हें अपने गुरु का भरपूर आशीर्वाद प्राप्त था। पहली भेंट में ही गुरु ने शिष्य की बहुमखी प्रतिभा को पहचान लिया था। शिष्य भी गुरू की कृपा का परम आकांक्षी था। भारत में ऐसी विभूतियाँ कभी-कभी ही आविर्भूत होती हैं, जिनकी शक्ति देश की अव्यवस्था और दुर्दशा को सँवारने में सक्षम होती हैं। वे संपूर्ण देश के लिए, अपने आचरण, व्यवहार और नैतिक गुणों के कारण, प्रज्ञा पुरुष बन जाते हैं। उनका कार्य-वैभव इतना समृद्ध और विस्तृत होता है कि वे देश के लिए ही नहीं, पूरे विश्व के लिए चर्चित, महान् और श्रेष्ठ हो जाते हैं। महामानव वही कहलाता है, जिसका व्यक्तित्व सद्गुणों और संस्कारों से पूर्ण हो, जिसमें ज्ञान-विवेक का अक्षय कोष हो, जिसके वैदुष्य से संपूर्ण संसार आलोकित होता हो तथा जो मानव और मानवता के कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील हो। ऐसी ही वैभवशाली वृत्तियों से सराबोर था—विवेकानन्द का अनूठा व्यक्तित्व। उनकी प्रतिभा ने पूरे विश्व में एक नई हलचल पैदा कर दी। भारत की गरिमा और उसकी प्रतिष्ठा को उन्होंने विश्व के कोने-कोन में प्रतिस्थापित किया और उन्होंने भारत और भारतीयता को एक नई पहचान दी।

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी खुली आँखों से परतंत्र भारत की दुर्दशा देखी थी। यहाँ के नवयुवकों के लगातार गिरते मनोबल को उन्होंने ऊपर उठाया था तथा संपूर्ण देश में व्याप्त नैतिक पतन की गतिविधियों से साक्षात्कार किया था। देश की आर्थिक, धार्मिक और विपन्न आध्यात्मिक चेतना ने उनकी अंतरात्मा को झकझोर करके रख दिया था। वे देश की दुर्व्यवस्था और जन-मानस के गिरते मनोबल को देखकर सर्वाधिक चिंतातुर थे। उनकी दृष्टि सदैव देश के उत्थान-विकास और उत्कर्ष की ओर लगी रही। भारत अपनी विभूतियों की अमरवाणियों और उनके पद-चिन्हों पर चलने की बात पूरी तरह से विस्मृत कर चुका था। भारतवासी घनघोर अंधकार में अपनी राह भूल चुके थे। नैराश्य के इसी युग में विवेकानन्द जैसे प्रबुद्ध और प्रखर सन्यासी का अविर्भाव कोलकाता में 12 जनवरी, 1863 में हुआ। इनका मूल नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। 'मुहूर्तज्वलन श्रेय: न च धूमायितं चिरम्।' अर्थात् देर तक थोड़ा-थोड़ा धुँधुआने की अपेक्षा एक क्षण का धधकना अच्छा है। यह प्रेरक उक्ति स्वामी विवेकानंद के संदर्भ में अत्यंत ही सटीक, संगत, उपयुक्त और सार्थक प्रतीत होती है। हमारे लिए यह अत्यंत ही गौरव की बात है कि उनचालीस वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने जो कर दिखाया, वह दूसरों के लिए विस्मयकारी और कल्पनातीत है। सही तौर पर अगर कहा जाए तो उन्हें कार्य करने के लिए संन्यासी जीवन प्राप्त करने के पश्चात् मात्र चौदह वर्षों का अत्यल्प समय उपलब्ध हुआ था। पच्चीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने संन्यासी-जीवन स्वीकार किया था।

कार्य-संपन्नता के निमित्त अधिकांश लोग लंबे समय और दीर्घ जीवन की कामना करते हैं। इसके बावजूद उनके जीवन

का कार्य अधूरा हर जाता है और उन्हें जीवन से तृप्ति नहीं होती। लेकिन विवेकानन्द ने अपने लघु जीवन में ही अपने समस्त कर्मों का निष्पादन दहकते हुए अंगारे के सदृश किया फलत: उनके जीवन में कहीं भी शैथिल्य अथवा नैराश्य-भाव परिलक्षित नहीं होता। वैसे ही संतों और महापुरुषों का जीवन वंद्य है, जिन्होंने संसार और मानवता के कल्याण हेतु अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया। नरेन्द्रनाथ दत्त ने अपने नाम विवेकानंद, विवेक-आनंद को अपने सत्कर्मों और ज्ञान-विवेक से सार्थक किया है। अपने देश और भारत माता के लिए उनका समर्पण और त्याग हमारे लिए अनुकरणीय है। परमार्थ और परहित की भावना से ही जीवन को श्रेष्ठ, उच्च और सार्थक बनाया जा सकता है। मनुष्य के यहाँ जन्म लेने से कोई मनुष्य नहीं हो जाता, मनुष्य होने के लिए मनुष्यता और मानवता का होना अति आवश्यक है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने उदात्त ग्रंथ 'राम चरितमानस' में लिखा भी है—

'परहित सरिस धरम नहीं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

अर्थात् इस संसार में परहित के समान कोई धर्म नहीं है और परपीड़ा के समान न ही कोई अधर्म। प्रज्ञा पुरुष विवेकानन्द की दृष्टि सदैव धर्म पर केन्द्रित रही। अपने जीवन में उन्होंने धर्म की महत्ता को पूरी तरह से स्थापित किया। उनकी दृष्टि में धर्मविहीन मनुष्य पशुतुल्य है।

जीवन में लंबे समय तक जीवित रहकर लकड़ी की तरह धुँधआने का कोई अर्थ नहीं है और न कोई औचित्य। जीवन की सार्थकता इसी में है कि अल्पल्प समय में अगर व्यक्ति अपने अंतस् को पूर्ण रूप से प्रकाशित कर पाने में समर्थ हो सके, अपनी अंतरात्मा को कल्मषरहित बना सके तथा ज्ञान, बुद्धि और विवेक के माध्यम से समस्त संसार के भीतर सद्बुद्धि जगा सके। निस्संदेह मानव-जीवन को समुन्नत और बेहतरीन ढंग से प्रकाशित होने की जरूरत है। व्यक्ति अपने सद्गुणों और सत्कर्मों के कारण ही संसार में संपूज्य होता है। वह महान और श्रेष्ठता का पद प्राप्त करता है—अपने पवित्र और संस्कारयुक्त विचारों से। व्यक्ति के हृदय की कलुषता उसके जीवन का घोर कलंक है, जो अत्यंत ही निदंनीय और गर्हित है। यही कलुष-भाव व्यक्ति को पतन की ओर ले जाता है, जबकि उत्थान-विकास जीवन का परम काम्य है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने अत्यल्प समय में ही ज्ञान, विवेक, धर्म, अध्यात्म और मनुष्यता की ऐसी लौ प्रज्वलित की, जिस पर संपूर्ण देश गौरवान्वित है। उन्होंने भारत की प्रशंस्य संस्कृति, उसकी महिमा, राष्ट्रीयता तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को पूरे विश्व में प्रसारित किया। भारत और भारतीयता के अमूल्य संदेशों से उन्होंने संपूर्ण विश्व को चमत्कृत कर दिया। उन्होंने अपने पवित्र आचरण, उत्तम व्यवहार और ज्ञान-विवेक से समन्वित व्याख्यान से सिद्ध किया कि पूरे विश्व में भारत अकेला ऐसा देश है जो अन्य देशों से उत्तम और श्रेष्ठ है। इसकी पुरातन सभ्यता और संस्कृति अनोखी, प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। सर्वप्रथम भारत देश में ही सभ्यता की किरणों का उदय हुआ, तत्पश्चात् दूसरे देशों में ज्ञान की किरणें धीरे-धीरे प्रसारित हुई। भारतवर्ष की महानता, उदारता, सदाशयता, सहनशीलता और परमार्थ-भावना से पूरा विश्व परिचित है। इसकी महिमा का बखान जितना किया जाए, कम ही है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी कविता जितना किया जाए, कम ही है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी कविता 'भारतवर्ष' की निम्न पंक्तियों में भारत की महिमा का बखान किया है—

'भू-लोक का गौरव,
प्रकृति का पुण्य-लीला स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है॥'

भारत को अपनी अभिव्यक्ति से उच्चता और श्रेष्ठता प्रदान करनेवाले स्वामी विवेकानंद की प्रतिभा क्षमता, बौद्धिक दृष्टि और आध्यात्मिक चेतना सचमुच अद्भुत थी, जिसकी बदौलत वे समग्र विश्व के लिए संपूज्य और आदरणीय हो गए।

सच है कि इस संसार में व्यक्ति अपने सदाचारी व्यक्तित्व और सत्कर्मों तथा अखंड-ज्ञान पुंज के कारण ही अमर होता है। जन-कल्याण और परमार्थ उसके जीवन को श्रेष्ठ और उदात्त बना देते हैं परमार्थ समन्वित सात्त्विक वृत्तियाँ व्यक्ति को निरंतर दलितों और वंचितों के उद्धार के लिए प्रेरित करती रहती है। विवेकानन्द एक ऐसे ही साधक और संन्यासी हैं, जिनके व्यक्तित्व में विवेक और आनंद इन दोनो का साथ सुंदर समन्वय और सामंजस्य है। संतों और साधुओं का जीवन साधुता से परिपूर्ण होता है। उनकी प्रकृति स्वार्थ और स्वहित से बहुत ऊपर होती है। संदेह नहीं कि साधुओं-संतों का स्वभाव पूरे विश्व को आलोकित-प्रकाशित करनेवाला होता है।

भारत का स्वाभिमान, उसका वैदुष्य और ज्ञान पुंज अगर कहीं लहराता हुआ दीख पड़ता है तो उस ओजस्वी और प्रजापूर्ण व्यक्तितव का नाम विवेकानन्द है। उन्होंने 1893 में भारत की गौरवशाली परंपरा और उसकी विश्व-विश्रुत संस्कृति को विश्व धर्म-सम्मेलन के अवसर पर, शिकागो में विशाल जनसमूह के समक्ष उजागर किया। उन्होंने अपने अवस्था महज

तीस साल की थी। वे रामकृष्ण परमहंस के पक्के और अति प्रिय शिष्य थें परमहंस ने उनकी प्रतिभा और औदार्य को पहली बार में ही अच्छी तरह से पहचान लिया था। संत-हृदय प्रतिभा-पुरुषों की पहचान-परख आसानी से कर ही लेता है।

विवेकानन्द का त्यागमय जीवन हम सभी भारतवसियों के लिए वंदनीय और अभिप्रेरक है। उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर हम सभी सुखानंद का अनुभव करते हैं। भारत और भारत माता के प्रति उनके हृदय में जो अनुराग-भाव अवस्थित था, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वे भारतमाता की संतानों की अभावजन्य पीड़ा से अतिशय द्रवित और दु:खी होते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि केवल धार्मिक उत्थान से ही समाज का कल्याण नहीं हो सकता, इस निमित्त आर्थिक उत्थान भी आवश्यक है और इस आर्थिक खाई को त्याग और सेवा-बल के आधार पर ही समतल किया जा सकता है। इस संदर्भ में उनकी यह उक्ति सर्वाधिक प्रसिद्ध है–'न धन-संपदा से, वरन् केवल त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। सच यह है कि त्याग से ही मनुष्य महान् और श्रेष्ठ बनता है। त्याग-तपस्या जीवन का भूषण है, अलंकार है। उससे अधिक श्रेष्ठ अलंकृति जीवन की नहीं हो सकती। उनका यह त्याग केवल एक व्यक्ति और जाति के लिए नहीं है, बल्कि समस्त मानव जाति और मानवता के लिए है, चिरकाल से जो दीन-दुखी वंचित, शोषित और पीड़ित हैं, उनकी सेवा ही सच्ची मानवता की सेवा है। उनकी सेवा से ही जगत् का कल्याण संभव है। पीड़ित व्यक्ति की आत्मा में ही ईश्वर का वास हैं दरिद्र की सेवा ही सच्ची ईश्वर-सेवा है। नर के रूप में दरिद्र, नारायणरूप में है। विवेकानन्द इन्हीं व्यथित जनों की सेवा और कल्याण के प्रबल पक्षधर हैं। उन वंचित जनों के जीवन के उत्थान-विकास के लिए वे अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार और तत्पर हैं। कहा भी गया है–'परोपकाराय हि सतां जीवितं प्राज्ञ उत्सृजेत' अर्थात् साधुओं का जीवन परोपकार के लिए ही है। प्राज्ञ व्यक्तियों को दूसरों के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए। स्वामीजी का यह कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है–"हर व्यक्ति को भगवान् की तरह देखो। आप किसी की मदद नहीं कर सकते, बस उसकी सेवा कर सकते हैं। अगर आपके पास अधिकार है तो यह समझें कि भगवान् के बच्चों को सेवा उसकी सेवा है। गरीबों की सेवा का काम पूजा भाव से करो।" इस प्रकार का अमर संदेश देश और दुनिया को उत्थान के पथ पर ले जानेवाला है। दीन-दुखियों के कल्याण-उत्थान से ही देश का उत्थान होगा। उन्होंने उनके अभावग्रस्त जीवन के साथ-साथ उनके बीच शिक्षा की कमी की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है–"गरीबों और वंचितों के बारे में कौन सोचता है? उन्हें शिक्षा का प्रकाश नहीं मिल रहा। मैं तो उस व्यक्ति को महात्मा मानता हूँ, जो गरीबों के लिए रोता है। ऐसा नहीं करनेवाला दुरात्मा है। जब तक करोड़ों लोग भूखे और वंचित रहेंगे, तब तक मैं हर उस आदमी को गद्दार मानूँगा, जिसने गरीबों की कीमत पर शिक्षा तो हासिल की, लेकिन उनकी चिंता बिल्कुल नहीं की।"

स्वामीजी का उक्त कथन आज के संदर्भ में 150 वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी, पूरी तरह से प्रासंगिक है। दलितों और वंचितों की सेवा और उत्थान की बात आज हम कर रहे हैं, लेकिन स्वामीजी ने बहुत पहले ही इस सत्य से हमारा साक्षात्कार कराया था। उनकी दूरदृष्टि और अंतरात्मा की आवाज ने इस सत्य को बखूबी पहले ही पहचान लिया था। सच्ची सेवा उनके उत्थान-उत्कर्ष के साथ संयुक्त है। जब तक वे शोषित-उत्पीड़ित और वंचित रहेंगे, देश का उत्थान बाधित ही रहेगा। सबसे बड़ी बात यह है कि स्वामीजी का शरीर व्याधि नहीं, व्याधियों का मंदिर था। अपने जीवनकाल में वे इकतीस बीमारियों से आक्रांत थे। इसके बावजूद वे त्याग, परोपकार और कल्याण-भाव से आजीवन संबद्ध रहे। दलितों के जीवन में वे प्रेम, सद्भाव, स्नेह, दया और करूणा के माध्यम से सुख-समृद्धि के संचार के आकांक्षी थे। व्याधियों का इतना बड़ा प्रकोप और प्रलाप कि वे जरूरत भर सो भी नहीं पाते थे। उन्होंने लिखा है–'होश सँभालने के बाद कभी भी मैं चार घंटे से अधिक नहीं सो सका।' वे लगातार अपने जीवन में घर-बाहर आर्थिक समस्याओं से जूझते रहे। पिता के न रहने से घर की आर्थिक तंगी का भी उन्हें सामना करना पड़ा। इन अभावों और तनावों के बीच कभी भी उनकी सेवा-भावना तिरोहित नहीं हुई। वे अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति की बदौलत जीवन में आगे की ओर बढ़ते रहे। अभावग्रस्त जीवन की उन्होंने कभी भी परवाह नहीं की। सचमुच, जो धुन के पक्के, धैर्यशील और दृढ़ निश्चयी होते हैं, उनकी राह में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। जो साहसी, वीर, बहादुर, पराक्रमी और शौर्यपूर्ण व्यक्तित्व वाले होते हैं उन्हीं को दुनिया पूजती भी है। इसी अर्थ में 'वीर भोग्या वसुंधरा' वाली उक्ति की संदर्भगत प्रस्तुति की जा सकती है। स्वामीजी ने अपना संपूर्ण जीवन सेवा और जगत्-कल्याण के लिए अर्पित कर दिया। उनकी दृष्टि में दीन-हीन, दु:खी पीड़ित और शोषित व्यक्ति ही ईश्वर का प्रतिरूप है। अत: ईश्वर समझकर उन्हीं की पूजा होनी चाहिए। उन्होंने लिखा है–'दरिद्र देवो भव, मूर्ख देवो भव', अर्थात् गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दु:खी को ईश्वर मानो।

उनका अमित प्यार और प्रेम ईश्वर से था, धर्म और देश से था, लेकिन सर्वाधिक प्रेम अशिक्षित और दलित-वंचित से था। क्योंकि उसे ही सर्वाधिक प्रेम-प्यार की जरूरत है–सबसे निचले पायदान में स्थित होने के कारण। इसी तथ्य का अभिव्यंजन उनके एक पत्र के माध्यम से होता है, जिसे उन्होंने शिकागो से अपने हितैषी हरिदास बिहारी देसाई को लिखा था–"मैं ईश्वर से, अपने धर्म से, अपने देश से और सर्वोपरि एक निर्धन भिक्षुक से प्रेम करता हूँ। जो दरिद्र हैं, अशिक्षित हैं, दलित हैं, उनसे प्रेम करता हूँ।" उन्होंने स्पष्टत: बतलाया है कि गरीबों की उपेक्षा और उनका शोषण भारत के पिछड़ेपन और पतन का मुख्य कारण है। वे गरीबों और शोषितों की चिंता करनेवाले दुनिया के शुरूआती आध्यात्मिक गुरु थे। उल्लेख है कि 1893 में अमेरिका-अभिगमन के पूर्व, उन्होंने यायावर संन्यासी की तरह पूरे देश का भ्रमण किया था। उन्होंने करोड़ो भारतीयों की दीन-हीन दशा का अवलोकन खुले तौर पर किया था। इस दृश्य ने उनकी अंतरात्मा का अतिशय व्यथित और मर्माहत किया था। उन्होंने महूसस किया कि इन दुखियों व पीड़ितों को शक्ति और विश्वास के संदेश की जरूरत है, जो उनमें आत्म-विश्वास और भारत के स्वाभिमान का संचार कर सके।

भारत में व्याप्त जातिगत भेदभाव और अवधारणा से वे अधिक व्यथित-चिंतित थे। गरीबों-निर्धनों के प्रति उनके मन में अपार सहानुभूतिशीलता विद्यमान थी। उन्होंने शिक्षितों को, वंचितों की तकलीफों को दूर करने के लिए उत्प्रेरित किया। इसी विचार-भाव से प्रेरित होकर उन्होंने 1897 में रामकृष्णमिशन की संस्थापना की। संपूर्ण देश में यह मिशन लगातार गरीबों, उपेक्षितों और वंचितों के मध्य शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में अत्युत्तम ढंग से काम कर रहा है। 'मानव सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है'–इसी भावना से संचालित होकर उक्त संस्थान के संत-स्वामी मानवता के कल्याण में अहर्निश सेवारत हैं। उनके इस कार्य की संपूर्ण देश में ही नहीं, पूरे विश्व में प्रसिद्धि और ख्याति है। दलितों, पीड़ितों और वंचितों के प्रति उनकी उक्त प्रगतिशील विचारधारा आज के संदर्भ में भी समीचीन और प्रासंगिक है।

- वेद में एक शब्द अक्सर आता है, 'निर्भयता'।
- किसी भी प्रकार का डर न रखो।
किसी निर्बलता की निशानी है।
- दुनिया मजाक करे या तिरस्कार
उसकी परवाह किए बिना मनुष्य को
अपने कर्त्तव्य करते रहना चाहिए।

-स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द : भारतीय नवजागरण का उल्लास

–कृष्णदत्त पालीवाल

यह बात आरंभ में ही स्पष्ट कह देना जरूरी है कि हर तरह की आदत और श्रद्धा के होने पर भी मेरा आत्मबोध और ज्ञानबोध स्वामी विवेकानन्द को लेकर बहुत गहरा नहीं है। इसके कई कारक हैं–प्रधान कारक तो यही है कि मुझे उनके चिंतन में पश्चिमी आधुनिकता का बुद्धिवाद लहराता मिलता है। विवेकानन्द ही क्यों, बंगाल के नवजागरण के ज्यादातर बौद्धिक-सांस्कृतिक नायक 'पश्चिमी आधुनिकता' की लय में रहे हैं। केवल योगी अरविंद पर 'पश्चिमी आधुनिकता' की पकड़ नहीं है। अरविन्द पश्चिम की आधुनिकता से भयाक्रांत रहे। उनका मानना था कि अगर भारत ने 'पश्चिमी-आधुनिकता' को ग्रहण कर लिया तो यह देश हमेशा-हमेशा के लिए पश्चिम का पिछलग्गू हो जाएगा। इसकी सभ्यता संस्कृति की परंपराएँ, अवधारणाएँ अपने मूल स्त्रोतों से कट जाएँगी। इसलिए कट जाएँगी, क्योंकि किसी देश की बनावट के पीछे एक सभ्यता संस्कृति की बनावट छिपी रहती है। संस्कृति का रूपाकार उन प्रतीकों, मिथकों, रूपकों, आख्यायों, लोक-स्मृतियों, बिंबों द्वारा निर्धारित होती है, जिसे मनुष्य अपनी मनोभूमिका से सृजित करता है, रचता है। आधुनिक यूरोप ने अपने चिंतन के केन्द्र में 'मनुष्य' को रखा है। नतीजा यह हुआ कि पिछले तीन-चार सौ वर्षों में विशेषकर रिनेसाँ के बाद जिन राजतंत्रों की स्थापना हुई, उसका सांस्कृतिक स्त्रोत वह चिंतन था, जो उससे 'मनुष्य' के प्रकृति विजेता रूप में की थी। यह एक आत्मकेन्द्रित, व्यक्तिवादी, स्वायत्त, भोगी, इंद्रियों का गुलाम मनुष्य था। इसी सोच ने पश्चिम में (व्यक्ति की सोच ने) आक्रामक आत्मबोध और अकेलापन पैदा किया था। इस पश्चिमी सोच को योगी अरविन्द-गाँधी ने स्वीकार नहीं किया, लेकिन यह पश्चिमी सोच राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द के माध्यम से भारत में आई। पश्चिम की आधुनिकता की अवधारणा ने हमारे पूरे चिंतन को पिछड़ा कहकर हमें आत्म-धिक्कार का शिकार बनाकर हमारी परंपराओं की दृष्टिगत समग्रता से हमें काटकर आत्म-विभाजित कर दिया।

आधुनिक पश्चिम के उदय ने बंगाल के पुनरुत्थानवादियों पर इतना गहरा दबदबा बनाया कि पश्चिम ही 'प्रतिमान' हो गया। उन्हें लगता था कि भारत का अतीत तो बहुत महान् है, लेकिन भारत के वर्तमान को पश्चिमवाद ही दिशा दृष्टि दे सकता है। स्वामी विवेकानन्द को भारत के अतीत पर बड़ा गर्व था और वह उसकी बहुत ही उदात्त व्याख्या करके ही संतोष पाते थे, लेकिन भारत का अतीत महान् होने पर भी वर्तमान की दिशा क्या हो–इस व्याख्या को लेकर उनके सामने पश्चिम की आधुनिकता विज्ञानवाद और नई चिंतन दृष्टि आ जाती थी। भारतीयता और पश्चिमीयता का यह द्वंद्व विवेकानन्द की मानसिकता में उसी युग-परिवेश की देन है। आज प्रश्न है कि विवेकानन्द जैसे महान् चिंतक की जिन्दगी से लेकर उसकी भारतीयता के इस विचित्र विकास को कैसे समझा जा सकता है? क्या यह यात्रा विवेकानन्द के संदर्भ में सही है या किन्हीं अर्थों में भारतीय स्थिति का प्रतीक भी है, जहाँ औपनिवेशिक आधुनिकता के कारण उत्पन्न हुए उन्मूलन में 'भारतीय आत्मा' की अस्मिता संकट का सामना कर रही है। इस संकट को झेलते हुए भी क्या यह विचित्र विलक्षण जादू नहीं है कि बिना किसी देश पर सैनिक चढ़ाई किए एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ, जिसे जयचंद विद्यालंकार ने 'बृहत्तर भारत' नाम दिया था। भारतीय तो ऐसी विस्मरण की नींद में सोए थे कि वे इस महान् घटना को शताब्दियों तक भुलाए रहे। आविष्कार उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी विवेकानन्द ने स्मरण कराया। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है–भारतीयों को उनके महान् अतीत के गौरव का स्मरण यूरो के प्रबुद्ध चिंतकों ने ही कराया। साथ ही अंग्रेजों ने चक्का देकर ही क्यों न सही, भारत को नवयुग में प्रवेश कराया। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने यह सब किया–कराया और भारत को लूटकर तबाह कर दिया। कुछ भी कहिए, आज के भारत में आधुनिक सभ्यता का उदय अंग्रेजों के कारण हुआ। साथ ही प्राचीन सामंती समाज व्यवस्था भारत में हमेशा के लिए नष्ट हो गई।

भारतीय संस्कृति पुनर्जागरण में दो तरह के व्यक्तित्व सक्रिय थे। एक वे जो ब्रह्म समाज प्रार्थना समाज के प्रभाव में पश्चिमी ज्ञान के नव प्रवाह में भारत को रूढ़िवाद से मुक्ति दिलाना चाहते थे और दूसरे वे जो परंपरागत भारतीय संस्कृति की लय को तोड़ने के पक्षपाती न थे। इसलिए इन दोनों के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक था। स्वामी दयानंद सरस्वती ने रूढ़िग्रस्त धर्म का विरोध करते हुए 'परंपरा' का नया पाठ विमर्श प्रस्तुत किया। उनकी भारतीय आधुनिकता ने प्राचीन वैदिक-प्रणालियों-विश्वासों का स्पष्ट भव्य किया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य विवेकानन्द ने ज्ञान-धर्म-तप-त्याग को न जाने कितने संदर्भों से मूर्तिमान किया। उनकी जागत् बौद्धिकता ने भारत की 'आध्यात्मिकता' का विश्व को संदेश दिया–एक ऐसा संदेश, जिसमें मानवता का लोकमंगल निहित था। भारतीय 'आध्यात्मिकता' बंदर रहस्यवाद की आध्यात्मिकता नहीं है उसमें चिंतन की अनेक खिड़कियाँ हैं, अनेक द्वार हैं और भक्ति का रसामृत सिंधु है, वह उज्जवल है जिसमें 'परम अनुरक्ति', 'परम प्रेमरूपा', 'परम अमृत स्वरूपा' तथा नवधा भक्ति का 'अनंत' विद्यमान है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस वेदांत की अनुभूति थे, विवेकानन्द उस वेदांत का उजला पवित्र भाष्य थे। एक पावनताजनित विवेक ने विवेकानन्द में उदात्त दर्शन का नया बहुलार्थक पाठ उठाया। उन्होंने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। यह मिशन भारत, पाकिस्तान, फिजी, दक्षिण अफ्रीका, अमेरिका जैसे देशों में मानव मंगल का संदेश देता रहा है। विवेकानंद स्वयं एक प्रभावशाली लेखक एवं वक्ता थे। सन् 1893 में उन्होंने शिकागो में सर्व-धर्म सम्मलेन (पार्लियामेंट ऑफ रिलीजंस) में हिस्सेदारी की। वहाँ वे चित्त समाधि लगाकर एकाग्र भाव से कुछ समय रहे। उसके बाद यूरोप भ्रमण करते हुए चीन एवं इजिप्ट गए। यूरोप के सभी धर्मों का उन्होंने भीतर से अध्ययन किया और उनके मूल स्त्रोतों को थाहने का भगीरथ प्रयत्न किया। विश्व यात्रा से लौटकर वे भारत आए और उनकी चरम निष्ठा 'प्रस्थानत्रयी' (उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-गीता) में उमड़ पड़ी। उन्होंने पाया ऐसा 'आत्मदर्शन' विश्व में कहीं नहीं है। इस भारतीय 'आत्म' में 'अन्य' समाहित है। यही दर्शन है, जो आत्मा में धर्म का साक्षात्कार है और जिसमें पराए को ठुकराने का नहीं, अपनाने का भाव है।

विवेकानन्द के सामने फ्रांसीसी राज क्रांति के नगाड़े बज रहे थे–यह राजनीति उनके समाने बार-बार स्वाधीनता-समानता और बंधुता का त्रिपाद रखती थी। विवेकानन्द इस क्रान्ति से प्रभावित हुए और उन्होंने अपने अनुभव से यह मूल्य कमाया कि 'स्वाधीनता' जीवन की मूल भूमि है। स्वाधीनत चिंतन और स्वाधीन व्यक्तित्व ही कल्याण की भूमि पर खड़ा होकर शोषण को चुनौती दे सकता है। जहाँ 'स्वाधीनता' को चरम मूल्य मानकर इसे अपनाया नहीं जाता, वहाँ गुलाम मानसिकता का साम्राज्य रहता है। इस मूल्य को खोकर ही जाति एवं राष्ट्र अपनी 'जातीय अस्मिता' तथा 'जातीय-स्मृति' को नष्ट कर लेते हैं। इस स्वाधीनता मूल्य में दृढ़ अवस्था रखनेवाले विवेकानन्द ने कहा, "भारत को आशा का केन्द्र केवल जनता है; उच्चवर्ग मानसिक और नैतिक धरातल पर मृतवत् हो गए हैं।" उच्चवर्ग को अपनी जातीय अस्मिता का बोध ही नहीं है और वह 'आधुनिकता' की व्यक्तिवादी प्रवृतियों में भटक रही है। एक समय ऐसा भी आया, जब स्वामी विवेकानन्द ने कहा, "मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि वह व्यवस्था सर्वगुण-संपन्न है वरन् इसलिए कि जहाँ रोटी ही नहीं, वहाँ आधी रोटी अच्छी है। अन्य व्यवस्थाओं का प्रयोग किया जा चुका है और उसमें खामियाँ पाई गईं। अब दूसरा प्रयोग किया जाए अगर और किसी बात के लिए नहीं, तो केवल उसकी नवीनता ही के लिए क्यों न सही।" स्वामीजी अगर आगे जिवित रहते तो अपना यह विचार उन्हें कितना कष्ट देता, यह सोचने की बात है। समाजवाद ने 'मानववाद की पवित्रता' और विपुल बहुलतावादी जन मंगल का भ्रम पैदा किया। इसी मानववाद में पश्चिम का मार्क्सवाद विश्वास करता था। फ्रांसीसी क्रांति के तीनों नारे स्वाधीनता, समानता, बंधुता धूल में नष्ट हो जाए और सर्व सत्तावादी विखंडन विकृतियों से भरा 'सेकुलरिज्म' का जोर चला, जिसने 'रिनेसाँ नवजागरण के स्वप्नों को अलगाववादी। मार्क्सवाद का विचार–दर्शन ताश के पत्तों की तरह बिखर गया। वे सभी शासन व्यवस्थाएँ बिखर गई जो कभी मार्क्सवाद से प्रेरणा प्राप्त करती थी। 'साम्यवाद का पतन' एक गाथा-महागाथा का अंत बना, जिसके कारण डेवियल बेल को कहना पड़ा था, 'विचाराधाराओं का अंत हो गया है।' फूकोयामा ने घोषणा की कि 'इतिहास का अंत' हो गया। हम सभी को यह भी याद है कि कम्युनिस्ट क्रांति के बाद रूस में जो असंख्य अत्याचार हुए, उसका काला इतिहास बहुत पीड़ादायक है। मार्क्सवादियों की तानाशाही की करतूतें आज कहने लायक नहीं हैं। अच्छा हुआ कि विवेकानन्द के सामने मार्क्सवाद, समाजवाद, साम्यवाद, मानववाद, सर्वसजावाद का पक्ष सींचे हुए सामने नहीं आया, क्योंकि स्वामीजी तो 1902 में केवल उनतालीस वर्ष की अल्पायु में ही संसार छोड़कर चले गए।

ग॰ मां मुक्तिबोध ने अपने 'इतिहास' की पुस्तक में

'महीनों का मन्वंतर' शीर्षक में स्वामी विवेकानन्द को 'अंतर्राष्ट्रीयतावादी' कहा है। विवेकानन्द ने कहा भी है, "भारत के पतन का मूल कारण है, अपने घरौंदे में जाकर बैठ जाना और अन्य राष्ट्रों से संपर्क तोड़ देना। फलतः भारतीय सभ्यता मसाले से भरी शव-मूर्ति जैसे जड़ीभूत हो गई।" इस जड़ीभूत बाढ़ से जूझना होगा। समाजशास्त्र और राजनीति में भी बीस साल पहले जो समस्याएँ केवल राष्ट्रीय थीं, वे आज केवल राष्ट्रीय आधार पर हल नहीं की जा सकती। आज उन्होंने बृहद् आकार और विशाल रूप धारण कर लिया है। वे तभी हल की जा सकती हैं, जब उन्हें व्यापक दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय आधार पर देखा जाए। भारतीय जनता के कायरतावाद पर स्वामीजी क्षुब्ध रहे और कहा, "निर्भय बनो, शक्तिमान बनो। अंधविश्वासी मत बनो, मैं तुम्हें अंधविश्वासी मूर्खों की अपेक्षा घनघोर नास्तिक देखना पसंद करूँगा, क्योंकि नास्तिक जीवन पूर्ण होता है और उससे आप कुछ कर सकते हैं, किन्तु यदि अंधविश्वास आ जाए तो दिमाग चला जाता है, दिमाग नरम पड़ने लगता है और अद्यःपतन जिंदगी पर हावी हो जाता है।"

उनके लिए वेदांत दर्शन सर्वोपरि था, लेकिन वे इस्लाम का व्यावाहारिक रूप इस्लाम में देखते थे, भले ही इस्लाम वेदांत से अपरिचित होने का कितना ही दावा करे। स्वामीजी इस्लाम में समानता का व्यावाहारिक रूप मानते थे, उनका प्रसिद्ध कथन है–"हमारा अनुभव है कि यदि किसी भी धर्म के अनुयायी अपने दैनिक जीवन के व्यावाहरिक क्षेत्र में इस समानता के पास पहुँचते हैं तो ऐसे व्यावाहर के गहरे अर्थ और सन्निहित सिद्धांत, जिन्हें हिन्दू भली-भाँति देखते हैं, स्वयं भले ही न समझें तो वह धर्म इस्लाम और केवल इस्लाम है। हमारे मातृत्व के लिए ही दो महान् व्यवस्था का संयोग हिन्दू धर्म और इस्लाम, वेदांत मस्तिष्क और इस्लाम शरीर आस्था का केन्द्र है।" कई बार योग-समाधि लगाकर विवेकानन्द कहते हैं, "मैं अपने मन की आँखों के सामने भविष्य के उस सर्वगुण संपन्नपूर्ण भारत को, उस कीर्तिमान अपराजेय भारत को देखता हूँ, जिसकी देह इस्लाम है और मस्तिष्क वेदांत है।" मूल विचार यह है कि वेदांत ही ज्ञानपूर्ण मानवता का धर्म है। कविवर सूर्यकांत त्रिपाठी निराला विवेकानन्द को 'वेदांत केसरी' कहते थे।

निरालाजी–'मनुष्यता का लक्षण केवल समाधि है, जिसका कोई लक्षण नहीं है।' समाधिनायक अवतार वरेण्य रामकृष्ण देव के लिए कहते हैं, 'उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, तंत्र, भक्ति, ज्ञान आदि की सभी राहों से सिद्धि प्राप्त की और सब धर्मों को सत्य बतलाया। इनसे पहले साधना कृत धर्म का यह रूप भारत के इतिहास में नहीं मिलता।' इन्हीं अवतार वरेण्य के शिष्य विवेकानन्द (नरेंद्रनाथ दत्त) थे। विवेकानन्द आस्तिक-नास्तिक दोनों प्रवाहों की ओर से पूर्णता की ओर बहे। हिन्दू-मुसलमान और अंग्रेजी संस्कारों के भीतर से गुजरते हुए अंत में संस्कार रहित ज्ञान मूर्ति हो गए थे। उनके इसी ज्ञान रूप में वेदांतिक निवास है। विवेकानन्द अंग्रेजी शिखा संस्कारों के कारण नास्तिक हो गए, लेकिन आश्चर्य की बात है कि उन्होंने बंगाल में महावीर पूजा का प्रचार किया, यह धर्मदीप जलाया। उन्होंने मेट्रोपॉलिटन कॉलेज, कलकत्ता से बी०ए० किया और यही उन्हें अंग्रेजी हवा लगी। जबकि थियोसोफिस्टों तथा मिशनरियों ने उनके चिंतन को लेकर बड़े-बड़े उपद्रव किए, लेकिन स्वामीजी हिमालय की तरह अचल रहे। उन्हें ज्ञान था–नदियाँ बहती हैं, जबकि उनके पिता पर्वत अचल रहते हैं। स्वामीजी ज्ञान का पर्याय थे–निरालाजी मानते थे, "भारत के उत्थान में जितना हाथ स्वामी विवेकानन्द का है, उतना और किसी दूसरे का नहीं।" विवेकानन्द का विस्तार, आकाश का अनंत विस्तार है, जिसके भीतर ज्ञान योग का अखंड प्रवाह है। इसी प्रवाह से यह चिंतनमणि निकली थी कि सीता हमारी माता है–हमारी पूरी संस्कृति का नाम सीता है। स्वामीजी हिन्दी बहुत अच्छी बोलते थे और व्याख्यानों में सीता को माता संबोधन से याद करते थे। निरालाजी 'राम की शक्ति पूजा' में यही विवेकानंदी दर्शन सर्जनात्मक बना है। स्वामीजी कवि थे–'संन्यासी का गीत', 'मेरा खेल खत्म हुआ', 'नाचे उस पर श्यामा', 'समाधि', 'जाग्रत् देवता', 'शान्ति', 'प्याला' तथा 'मुक्ति' जैसी प्रसिद्ध कविताएँ भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं। 'नाचे उस पर श्यामा' कविता को वे विराम शब्दों में देते हैं–चूर-चूर हो स्वार्थ, साध, सब मान, हृदय हो महाश्मशान। नाचे उस पर श्यामा, लेकर धूल रण में निज भीम कृपाण।' विवेकानन्द के इस सर्जनात्मक संसार को विवेकानन्द पर पुस्तक लिखने वाले रोम्याँ रोलाँ समझ नहीं सके। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टद्वैत को न समझ पाने के कारण रोम्याँ रोलाँ छिलका चबाते रहे और गूदा फेंकते रहे। विवेकानन्द का उदात्त दर्शन उनकी काव्यानुभूतियों में, विलक्षण काव्य सौंदर्य का वैचारिक आलोक सामने जाता है। हमारे 'कवि' शब्द का अनुकरण 'पोपट' सही नहीं है। हमारा कवि तो ऋषि है, प्रजापति है, ब्रह्म है, स्रष्टा है, दृष्टा है, वह शब्द ब्रह्म की व्याप्ति के कारण अनंत है। अग्नि धर्मा है–जड़ता को जलाता है। ये अर्थ पश्चिम के 'पोपट' शब्द में कहाँ है? कहीं नहीं।

हमें भूलना न होगा कि स्वामी विवेकानन्द ने 'श्रीमद्भगवत गीता' पर कठोर टिप्पणियाँ की हैं और कई बार तो कहा है कि मैं उस्ताद के कथनों पर विश्वास नहीं कर सकता। इसी तरह धर्म के नाम पर हिन्दू विशेषाधिकारों पर स्वामीजी निरंतर तर्क करते हैं। उनके लिए धर्म आस्था का विषय होते हुए भी 'विवेक तर्क'

का विषय है। जहाँ जरूरी हुआ उन्होंने धर्म ग्रन्थों की आलोचना करने में हर तरह का जोखिम उठाया है। किसी की हिम्मत नहीं रही कि भारतीय परंपराओं की वह 'प्रस्थानत्रयी' को मथकर उसकी आलोचना करे। उनके समकालीन बाल गंगाधर तिलक ने 'गीता रहस्य' नाम से काव्य लिखा था और वे क्रांतिकारी चिंतन की ओर अपने काव्य को मोड़ ले गए। गीता के दोष दर्शन, उनके काव्य का उद्देश्य भी नहीं था। फिर विवेकानंद राजनीति के योद्धा नहीं थे, चिंतक संन्यासी थे। गीता पर काव्य की शंकराचार्य के चिंतन राह पटलने वाले रामनुजाचार्य (ग्यारहवीं शताब्दी) ने किया और संसार को मिथ्या न मानकर, 'ब्रह्म की लीला का स्थल' घोषित किया। रामानुजाचार्य के चिंतन की छाप पूरे भक्ति आंदोलन में देखी जा सकती है। इस चिंतन के परम नायक हैं–रामानंद, जिन्हें मध्यकालीन चिंतन का मेरुदंड कहा जा सकता है। रामानंद ने जाति-पाँति के खंडन के साथ भक्तिमार्ग सभी वर्गों–जातियों के लिए खोल दिया, उनका नारा था–'जात-पाँत बूझे नहि कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।' रामानन्द ने ही एक ओर तुलसीदास को अपना शिष्य बनाया, दूसरी ओर कबीरदास को। दोनों ने ज्ञान का भक्ति रसायन तैयार किया। रामानंद ने ही रामभक्ति में हनुमान का अद्भुत ढंग से प्रवेश कराया। निस्वार्थ भक्त तपस्वी हनुमान ही रामानंद तथा विवेकानंद के आराध्य रहे हैं। दोनों ने हनुमान को अपना आराध्य देव क्यों बनाया, इस पर शोध की आवश्यकता है, क्योंकि यह संत चिंतन का सगुण चिंतन का बहुत महत्वपूर्ण पक्ष है। फिर यह रामानुजाचार्य की सर्जनात्मक परंपरा का लोक मंगलकारी विकास है। हनुमान तानाशाहा, व्याभिचारी, सर्वसजावादी, पूँजीपतियों को धूल चटा देनेवाली समग्र शक्ति की प्रतीक है। इस प्रतीक में भारतीय परंपरा का सामूहिक अवचेतन जाने कब से निवास करता है। उनके स्त्रोत विवेकानंद के चिंतन में खोजने चाहिए, क्योंकि विवेकानंद के क्रांतिकारी चिंतन का एक विशेष पहलू रहा है–सर्वसत्तावादी, एकाधिकारवादी, उपनिवेशवादी शक्तियों को तोड़ना। उनके मन में यह बात स्पष्ट है कि इंग्लैंड जैसे सफल देशों ने 'उपनिवेशों' का शोषण करके धन संचित किया है–इंग्लैंड का पैर पच्चीस करोड़ एशियावासियों की गरदन पर रखा हुआ है। इतिहास साक्षी है कि ईसाई यूरोप की समृद्धि का आरंभ स्पेन से हुआ। स्पेन की समृद्धि का श्रीगणेश मेक्सिको के ऊपर किए गए आक्रमण से हुआ। ऐसी हिंसा से भारत तो कभी समृद्धि नहीं चाहेगा। भारत को आध्यात्मिकता के साथ यूरोप की भौतिकता चाहिए, लेकिन अन्य देशों को लूटपाट कर नहीं। इस तरह अपने इतिहास ज्ञान से विवेकानन्द ने सभी दिशाओं को देखा और यूरोप की आधुनिक औपनिवेशिक नीति का उसी की भाषा में उत्तर देने का मन बनाया। इस तरह विवेकानन्द औपनिवेशिक शोषण को कई कोणों से देख रहे थे। उन्होंने दादाभाई नौरोजी के चिंतन की राह पकड़कर कहा कि भारत इंग्लैंड के लिए माल खपानेवाली मंडी बनकर रह गया है। अंग्रेजों के मन में भारत के माल को पाकर यह धारणा बन गई है–"भारत साम्राज्य उनके हाथों से निकल जाए तो अंग्रेज जाति का विनाश हो जाऐगा।"

विवेकानन्द पाश्चात्य अनुकरण या शासन के सहयोग से 'कुलीन वर्गीय सुधारों' को अस्वीकार करते थे और उन्हें शोषितों के प्रति उपेक्षा का एक रूप समझते थे। इस तरह के कथनों से हमें समझना होगा कि वे केवल 'हिंदू मंक' या संन्यासी नहीं थे, पूरा भारत उनमें बोलता था, चाहे वह हिंदू हों, मुसलमान हों, ईसाई हों। वे भारत जन के मन में 'गौरव' का संत भाव भरते थे और ईसाई मिशनरियों के कुकृत्यों पर प्रहार करने में चूकते नहीं थे। अपने भारतीय समाज में जन-जागरण पैदा करने के विचार से ही उन्होंने गरीबों, शूद्रों, यह दलितों को जाग्रत् करने का संकल्प धारण किया। विवेकानन्द पहले महान् योद्धा थे, जिन्होंने भारत के शूद्रों की स्थिति को स्पार्टा के अछूतों से, अमरीका के हब्शियों से जोड़ा था। विवेकानन्द पश्चिमवाद के मानववादी दंभ को उनकी काली करतूतों के लिए इतिहास का दर्पण दिखाते हैं और समस्याओं को अन्तरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखकर उस पर विमर्श करते हैं। आधुनिक अमरीका में अश्वेतों के साथ जो अछूतों वाला व्यवहार किया जाता है, विवेकानन्द उसकी निंदा करते हैं। पश्चिम का इंद्रियवाद उन्हें आंतरिक पीड़ा देता है, वे मानते हैं कि 'इद्रियों से कभी किसी को सुख नहीं मिलता। सुख तो केवल आत्मा में मिलता है।' 'हमें गरीबी, अशिक्षा, अज्ञान, उपेक्षा को मिटाकर शूद्रों और पिछड़ों के लिए मूलगामी परिवर्तन करने होंगे। ध्यान में रखना होगा कि विवेकानन्द का यह चिंतन भविष्य के नए मोड़ों का संकेत है। यह चिंतन शूद्र और ब्राह्मण में किसी प्रकार का जन्मजात अंतर मानने को तैयार नहीं हैं। इसी संत भाव की उनमें पराकाष्ठा है, उनका यह स्थल स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक है कि मैं केवल जाति-पाँति का भेद मिटानेवाला अथवा समाज सुधारक मात्र नहीं हूँ, मैं केवल प्रेम और मात्र प्रेम की शिक्षा देता हूँ और मेरा यह कहना विश्वात्मा की सर्वव्यापकता और समता रूपी वेदांत के सिद्धांत पर आधारित है।' उनका यह प्रयत्न रहा है कि पुरोहितवाद-सामंतवाद-कुलीनतावाद का वर्चस्व समाज से पर्याप्त हो तभी यह सोया समाज जागेगा और दरिद्रता रूपी दानव को भगाएगा। ध्यान रहे कि विवेकानन्द का शूद्रों श्रमिकों के अधिकार का संदर्भ सत्ता-विमर्श से नहीं है सभा विमर्श का अर्थ तो शूद्रों को बाबा साहेब अंबेडकर ने दिया है। हाँ, विवेकानन्द ने जापान, अमरीका, यूरोप, भारत के भ्रमण से भारत को लेकर यह निष्कर्ष निकाल लिया था, 'पहले तीनों का

राज्य हो चुका है। अब शुद्र शासन का युग आ गया है–वे अवश्य राज्य करेंगे और उन्हें कोई रोक नहीं सकता।' उन्हें विश्वास था कि जब शुद्रत्व सहित शूद्रों का प्राधान्य होगा पाश्चात्य जगत् में हार की लालिमा आकाश में दिखने लगी है और इसका फलाफल विचार कर सब लोग घबराने लगे हैं। सोशलिज्म, अनार्किज्म, निदिलिज्म आदि संप्रदाय इसमें आगे चलने वाली ध्वजाएँ हैं। इतिहास विधाता के रथ की इस दिशा में विवेकानन्द को संतोष था कि भय नहीं निर्भयता का दूसरा नाम ही विवेकानन्द है–आज विश्वभर में यह विचार सच हो गया है।

विवेकानन्द ने भारत तथा विश्व की समस्त चिंताओं, समस्याओं पर गहन विचार-मंथन किया और उनके समाधान प्रस्तुत किए। विवेकानन्द के गुरु रामकृष्ण साधना से सिद्धि प्राप्त दार्शनिक थे तो विवेकानंद उस दर्शन के तत्त्ववाद की व्याख्या। इस व्याख्या में नर्मदा की सहस्र धाराओं की तरह भारतीय संस्कृति का प्रवाह था। विवेकानन्द ने यूरोपीय संस्कृति को भीतर-बाहर से समझा, जो यह भारतीय संस्कृति का प्रवाह उनके भीतर हो गया। पढ़ा तो विवेकानन्द ने स्टुअर्ट मिल तथा हरबर्टस्पेंसर को भी प्रेम से था और वे हीगल, वर्ड्सवर्थ तथा रोली पर भी मुग्ध थे–फ्रांसीसी राज्यक्रांति के सिद्धांतत्रय में उनकी आस्था थी और यूरोपीय संस्कारों की बौद्धिकता से भी आरंभ में यह कितने हैं लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने अपने अनुभव चिंतन से जाना कि भारतीय संस्कृति की विचार गहन क्षमता का विश्व में कोई जवाब नहीं है। भारत में संदेहवादी नास्तिक प्रचंड तर्कवादी भी कम नहीं रहे हैं, लेकिन साधना का साध्य तो मानो 'प्रेम के परम पुरुषार्थ' को पाना ही रहा। भारत के धर्मवाद, अवतारवाद, लीलाकार, भक्तिकार, में मानव कल्याण के अतिरिक्त दूसरी ध्वनि नहीं है। यह धर्म बहुत व्यापक अर्थ संदर्भों के साथ विवेकानन्द में अवतरित हुआ है, जिसे आज भी परिचय का सेकुलरवादी समझने में अक्षम असमर्थ है। विवेकानन्द ने अपनी मेधा-मनीषा से उन सभी का मुँह बंद कर दिया, जो हिंदू धर्म की आलोचना करते थे, क्योंकि उन्हें यूरोपीय विचारधाराओं की गहरी जानकारी थी और वे संस्थागत धर्म पैगंबरी धर्म के एकेश्वरवाद के कमजोर पक्षों से अनभिज्ञ न थे। ईसाई प्रचारकों का भारतीय धर्म पर जो कोप था–वह उनकी अशिक्षित क्रांति धारणा थी, जिसे विवेकानन्द ने बौद्धिकतावाद, तर्कवाद से स्पष्ट किया। यह उनके द्वारा बहुत महत्वपूर्ण कार्य हुआ, इससे भारतीय युवकों के मन में 'आत्माधिकारों' की भावना को हटाकर 'आत्मगौरव' का भाव जाग्रत् किया। विवेकानन्द ने भुजा उठाकर कहा कि जिस दिन पश्चिम के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक संस्कारों को आत्सात् कर लेंगे, उस दिन एक नई शांतिप्रिय दुनिया का जन्म होगा। कोरा भौतिकवाद तो इंद्रियवाद की ओर ले जाकर योगवाद में डूबोकर मानव को पशु बनाता है। यह ठीक है कि पूरब पूरब है और पश्चिम पश्चिम। दो भिन्न अवधारणाओं की संस्कृतियाँ हैं, लेकिन दोनों में आध्यात्मिकता और भौतिकता का मेल मिलन होगा तो वे एक-दूसरे से मिल सकती हैं। विरोधों में सामंजस्य का सौंदर्य एक खास रंगत से पैदा हो सकता है।

इस देश में निवृत्तवादी प्रवृत्ति मार्गी धर्म की राजनीति करते रहे हैं। इस धर्म की राजनीति से देश का बड़ा नुकसान हुआ। धर्म की राजनीति से पंड़ितों, पंडों, पुरोहितों, तिलकधारियों की बन आई। वे संन्यास मार्ग मोक्ष का उपेक्षा देने लगे–इस सामंतवाद को बौद्धों, जैनों ने ज्यादा बढ़ावा दिया। पूरा समाज कर्म सौंदर्य की राह को छोड़कर संन्यास मार्ग के निठल्लेपन की ओर चल पड़ा। वैदिक ऋषियों का मंत्र स्रष्टा समाज श्रमजीवी समाज था, वे मंत्र भी रचते थे, गुरुओं को भी पालते थे, खेती भी करते थे। लेकिन उपनिषद्काल में आकर श्रमदान की कद्र घट गई। मोक्ष के निर्वाण के चक्कर में समाज भटक गया। निगुर्णवादी भक्त काव्य के संत कुछ तो गृहस्थ थे–बाकी सब फुक्कड़ बाबा। भला हो कृष्ण भक्तों का कि उन्होंने कृषि जीवी समाज का सम्मान बढ़ाया। सगुण लीलावादी देवता कृष्ण गऊओं को चराता है, बाँसुरी बजाता है और सत्ताधारी मल्लों को पछाड़ता है। इसलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक कहा है कि प्रवृत्ति मार्गी इन कृष्ण भक्तों में जीवन जीने की चाह बनी रहने दी। वरना निर्गुणवाद की कर्कशता तो जनता के प्राणों पर आमादा थी। कृष्ण भक्तों का शुद्ध द्वैत बड़े काम आया। जिसमें भक्ति, ज्ञान और संगीत त्रिवेणी प्रवाहित है।

विवेकानन्द ने अनुभव किया था कि भारत और यूरोप जैसी दो भिन्न प्रकृति की संस्कृतियाँ संवादोन्मुख हो तो उनके मुखों से निकले शब्द स्वाभाविक रूप से कौतूहल उत्पन करेंगे। यह जिज्ञासा अवश्य होगी कि इनका मिलन कैसे होगा? मिलन होगा भी या नहीं? कारण यह कि शब्द में संस्कृति परंपरा दर्शन, मिथक का निवास होता है। अतीत में जब कभी भिन्न पृष्ठभूमि वाले विचारकों, दार्शनिकों से अपनी-अपनी संस्कृतियों के दर्शन-धर्म-अध्यात्म को लेकर बात की गई तो उसे कहा तो वार्त्तालाप मूलक शास्त्रार्थ गया, लेकिन दर्शन धर्म के अवधारणात्मक शब्द प्रायः दुर्गति को प्राप्त हुए जैसे 'धर्म' को 'रिलीजन' कहा गया, जिसने धर्म की पूरी अवधारणा को चौपट कर दिया। ऐसे ही हजारों अवधाराणात्मक शब्द हैं, जो आज भी भ्रांतियाँ पैदा कर रहे हैं। भारत तथा यूरोप की संस्कृतियों के मध्य हो रहा संवाद ऐसा संवाद है, जो संभवतः तीन हजार वर्षों से पूर्व आरंभ हुआ था और अनेक विषम स्थिति-परिस्थिति के

बीच आज भी जारी है। आधुनिक भारत ने पश्चिम में सक्रिय रुचि ली, लेकिन उपनिवेशीकरण के पश्चात् ही यह संभव हो पाया। भारत ने पाया कि प्राचीन ग्रीस के समय से ही पश्चिम का दृष्टिकोण नितांत भिन्न रहा। ग्रीस ने अपने दर्शन पर धैर्य के साथ 'विमर्श' किया, लेकिन भारत के साथ दर्शन धर्म पर ऐसा संवाद नहीं हुआ। यह संवाद सेतु जो स्वामी विवेकानन्द ने ही निर्मित किया। स्वामीजी का यह अविस्मरणीय प्रदेश है। इस प्रदेश ने हमें पश्चिमी चिंतन परंपराओं में अंतःप्रवेश कराके उन्हें समझने का अवसर दिया। हीगल और मार्क्स, इमर्सन तथा एल्कॉट ने जो दृष्टिकोण गढ़ा और जिसे हुसटेल तथा बेवर ने सशक्त किया यह दृष्टिकोण भारत को लेकर गलत और भ्रामक था। विवेकानन्द ने पश्चिम को खूब मथने के बाद कहा है कि औरतों के गुलाम, शराब के नशे में धुत, जंगली पशुओं की तरह दुर्दांत, इंद्रियवाद के पीछे पागल लोग भारत को सभ्य बनाने की बात कह रहे हैं–वे हमें सभ्य बनाने आए हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि सभ्यता संस्कृति में भारत उनसे बहुत आगे है, उन्हें भारत से सीखने की आवश्यकता है, सिखाने की नहीं, फिर भी आदान-प्रदान से दो संस्कृतियों को निकट आने का अवसर मिलता है। भारत को यह अवसर लुटेरे अंग्रेजों और साम्राज्यवाद की भाषा अंग्रेजी से मिला–जिसने भारतीय संस्कृति, भाषा को विनष्ट करने का कार्य किया। पूरा देश गूँगा हो गया और भारतीय भाषाओं का साहित्य राह में भटक गया। आज के भारत में समस्याएँ आधुनिकता की देन हैं।

स्वामी विवेकानंद ने 'प्रस्थानत्रयी' के अनेक भाष्यों से यह सत्य गढ़ लिया है कि भारतीय चिंतन परंपराएँ अनेक हैं और नर्मदा की हजार-हजार धाराओं की तरह भारतीय संस्कृति में धर्म अनेक रूप हैं। भारतीय चिंतन परंपराएँ, भारतीयता तथा सनातनता, प्रकृति तथा पुरुष के अनेक आयामों पर गहन चिंतन करती है। हमारी चिंतन परंपराओं की एक विशेषता यह है कि वह किसी एक नायक, महापुरुष, धर्म ग्रंथ, दर्शन पर केंद्रित नहीं है, उसमें सभी चिंतन प्रवाहों का जल प्रवाहित है। साथ ही यह परंपराएँ निरंतर बहस, तर्क, संदेह से घिरी रही हैं और उन्हें बार-बार परखा गया है कि उनकी धातु खोली तो नहीं है। बहसों से नए विचार सूझते हैं और परंपराएँ रूढ़ि एवं भौतिकता दोनों से गहन चिंतन के अंतर पर जूझती हैं, ताकि परंपरा बंधन न बने, वह चिंतन की स्वाधीनता से सत्यालेषण को प्रेरित करे।

स्वामी विवेकानन्द के चिंतन को लेकर यह तो पंडित जवाहरलाल नेहरू तक मानते हैं कि समय उन्हें कभी पुराना नहीं बना पाएगा, वह एक कालजयी सदाबद्ध चिंतन हैं। भारत के स्वाधीनता आंदोलन के दिनों में न जाने कितने देशभक्त युवकों को इस चिंतन ने नई सूझ दी थी। सुमित्रानंदन पंत ने बीस वर्ष की आयु में स्वामीजी को अल्मोड़ा में देखा-सुना था और वे विवेकानंदमय हो गए थे। उन्होंने अपनी कविता में उन्हें याद करते हुए लिखा है–"अल्मोड़े में आए थे–माँ जब राजर्षि विवेकानन्द उन्होंने युवकों को नव जीवन छंद दिया था। वेदांत ने उनकी प्रतिभा को धार दी थी और वेदांत की यह उर्वर भूमि है, जैसी उर्वर भूमि और कहीं नहीं है। इसी भूमि से रामकृष्ण परमहंस, अरविंद, महर्षि रमण, स्वामी अखंडानंदजी, करपात्रीजी, कुमार स्वामी तथा तिलक-गांधी ने नए चिंतन के बीज मंत्र पाए हैं। वैदिक धर्म एवं संस्कृति के समान स्वरूपों पर स्वामीजी ने मूलगामी चिंतन किया एवं तिलक को उस चिंतन का नया विमर्श दिया। शास्त्र गुरु तथा मातृभूमि इन तीन स्वरों से उनका संगीत और समाजशास्त्र भरा पड़ा है।" उनका कथन देखिए– "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अंतः प्रवृत्ति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान इनमें से एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस यही धर्म का सर्वस्व है, पर गागर में सागर भरने की कला युवा पीढ़ी, उनके लेखों, काव्यों, कविताओं से सीख सकती है।"

विश्वधर्म महासभा, शिकागो के 11 सिंतम्बर 1893 के भाषण में स्वामीजी ने कहा, "हम लोग (भारतीय) सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, परंतु समस्त धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। मुझे एक ऐसे देश के व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों का आश्रय दिया है।" भारत के यहूदियों के विशुद्धतम अंश को स्थान दिया, जिन्होंने दक्षिण भारत आकर उसी वर्ष शरण ली थी, जिस वर्ष उनका पवित्र मंदिर रोमन जाति के अत्याचार अंश को शरण दी और अब तक उसका पालन हो रहा है। भाषण में स्वामीजी को कभी तो स्तोत्र याद आते हैं, कभी गीता। कारण, इस तरह के अध्ययन ने उनके मानस का संस्कार किया है। धर्मांधता, सांप्रदायिकता तथा तलवार या लेखनी द्वारा की गई हिंसा स्वामीजी को 'अस्वीकार' रही है। आपसी मतभेदों का कारण अज्ञान है–जिसे वे कुएँ और समुद्र के मेढ़क की कहानी से स्पष्ट करते हैं। "मैं हिंदू हूँ! मैं अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा यही समझता हूँ कि मेरा कुआँ ही संपूर्ण संसार है, ईसाई भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा यही समझता है कि सारा संसार उसी के कुएँ में है और मुसलमान भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा उसी को सारा ब्रह्मांड मानता है।" इस मामले में अमेरिका धन्य है, जिसने क्षुद्रता का अतिक्रमण किया है।

संसार के पुराने धर्म–हिंदू धर्म, पारसी धर्म और यहूदी धर्म ने अनेकानेक प्रचंड आघात सहे हैं, किंतु फिर भी जीवित रहे हैं। यह इनकी आतंरिक शक्ति का प्रमाण है। भारत में एक के बाद एक न जाने कितने संप्रदायों का उदय हुआ है, जिन्होंने वैदिक धर्म को जड़ से हिला दिया, किंतु कोलाहल थमते ही वह फिर शक्तिशाली हो गया। समस्त धर्म संप्रदायों को उनकी धर्ममाता हिंदू धर्म की विराट् काया में चूसकर अपने में आत्मसात् कर लिया। मूर्तिपूजा, पौराणिक दंत कथाएँ, बौद्धों का अज्ञेयवाद तथा जैनियों के निरीश्वरवाद–प्रत्येक के लिए हिंदू धर्म में स्थान है। हिंदू धर्म ने अपना धर्म वेदों (श्रुति) से प्राप्त किया। वेद एक पुस्तक नहीं है, अलग-अलग समयों के सत्य का संचित कोष है। यह ज्ञान भंडार ऋषियों ने हमें दिया है, इनमें कुछ स्त्रियाँ भी थीं–वे महान् ऋषि थीं। इस सृष्टि का न आदि है, न अंत। ईश्वर नित्य क्रियाशील है। वेद कहते हैं–मैं शरीर नहीं हूँ आत्मा हूँ आत्मा अमर है। इस तरह स्वामीजी आध्यात्मिक अद्वैतवाद में आस्था रखते हैं। इस ओर संकेत करते हैं कि मैं आत्मा हूँ, जिसे अग्नि जला नहीं सकती। पानी गला नहीं सकता। गीता के साथ प्रकृति-दर्शन का सिद्धांत स्वामीजी को भाता रहा है। इस माता की पूजा किस प्रकार करें? प्रेम से! अर्थात् प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। यही प्रेम ईश्वर है, यही प्रेम गांधीजी की अहिंसा है। पूरे संत दर्शन का यही सार सर्वस्व है, कोई अन्य नहीं है, सभी अपने हैं–उनसे प्रेम करो। श्रीकृष्ण प्रेमावतार है, प्रेम से ही पूर्णावतार है। यह प्रेम ही भक्ति है, जिसमें रामानंद ने सभी को स्थान दिया है। हिंदू शब्दों, शास्त्रों, धर्मों-सिद्धांतों के जाल में जीना नहीं चाहता। उसका धर्म जीवमात्र से प्रेम है और सबकी स्वाधीनता की रक्षा करना ही महान् धर्म है। यहाँ छल-प्रपंचवाला मानवाद नहीं है।

हिंदू मानते हैं कि अनेकता में एकता प्रकृति का विधान है? इस विधान से अनेक प्रतीक निकले हैं–मूर्तिपूजा के प्रतीक, अज्ञान भाव नहीं है, उनमें जीवन के अर्थ की लय समाहित रहती है, जैसे-गणेश, हनुमान। पूरा भारत इनमें समाया हुआ है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं–सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ। मैं प्रत्येक धर्म में मोती की माला में सूत्र की तरह पिरोया हुआ हूँ। बौद्ध, जैन ईश्वर पर निर्भर धर्म नहीं है। किंतु मनुष्य में ईश्वर तत्त्व की ओर उन्मुख धर्म है। प्रकृति न ब्राह्मण है, न शूद्र, न बौद्ध, न जैन–वह तो जल रूप है, सृष्टि है, सृजन रूप है, माता है। ईसाई प्रचारक भूलते रहे हैं कि भारत को धर्म की प्रधान आवश्यकता नहीं। क्योंकि हमारा धर्म भूखों को अन्न दान करना सिखाता है, मनुष्य को लूटना नहीं। हम पुरोहिवाद, पंडावाद, कुलीनतावाद के पक्षधर कभी नहीं रहे। दरिद्र को नारायण–दरिद्रनारायण का हमने दर्शन पाया है। जो सबसे पीछे है, उसे आगे बढ़ाने के लिए हमारे धर्म के संकल्प रहे हैं। बौद्ध धर्म अलग नहीं है, करुणा दया का धर्म है और हिंदू धर्म की ही निष्पत्ति है। ईसा यहूदी थे और शाक्य मुनि हिंदू। ईसाईयों ने ईसा को स्वीकार नहीं किया, जबकि हिंदू धर्म में शाक्य मुनि के प्रति 'अन्य' का भाव लेश मात्र भी नहीं है। बुद्ध ने ब्राह्मण शिष्यों से कहा, "मैं दरिद्र और साधारण जनों के लिए आया हूँ, अत: जन भाषा में ही बोलने दो।" उन्होंने जनभाषा को तोड़ने के लिए धरती-आसमान के बहुत बुलावे मिलाए पर वे उसे तोड़ नहीं सके। बौद्ध धर्म ने ईश्वर को हटाया तो उसे स्वयं इस देश से हट जाना पड़ा। यह उसकी स्वाभाविक मृत्यु है, जबकि जरूरत ब्राह्मण धर्म के साथ बौद्ध धर्म को मिलाने की है। इन दोनों का अलगाव हमारे पतन का कारण बना है। यह मानकर चालिए कि हिंदू धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं चल सकता। दोनों में अद्वैत हो जाना ही लोकमंगलकारी है।

वेदांत धर्म का अमृत तत्त्व यह है कि हम भिन्न-भिन्न मार्गों से एक ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। इन मार्गों के चार वर्ग स्वामीजी ने 'कर्मयोग का आदर्श' लेख में बताए हैं–वे हैं कर्ममार्ग, युक्तिमार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग। ध्यान रहे ये चारों मार्ग भिन्न दिखाई देने पर भी एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं, उनमें एक अंतर्योजन का सूक्ष्म तार मौजूद है। हमारा परम लक्ष्य है–मोक्ष! पूरा विश्व मोक्ष के लिए संघर्ष कर रहा है। धर्म पवित्रता, व नैतिकता को ईश्वर से जोड़कर जो विचार व्यक्त किए जाते हैं, वे भी तो मुक्ति पथ की ही खोज है। समता-स्वाधीनता, बंधुता के सिद्धांत में समता की बात भ्रम है, असंभव या विचार। जगत् गतिशील, परिवर्तनशील है और हर वस्तु बदल रही है–यह आद्यावस्था तक होगा। ध्यान में रखना होगा कि विषमता सृष्टि की नींव है। संसार 'चक्र के भीतर चक्र' प्रकृति की भीषण यंत्र-रचना है।

विवेकानन्द को मैं उन्नीसवीं सदी में हिंदू धर्म के आधुनिकीकरण, आधुनिकता और आधुनिक-बोध की प्रक्रिया पर निर्णायक प्रभाव डालने वाले भारतीय राष्ट्रीयता जातीय अस्मिता का आदि सिद्धांतकार मानता हूँ। उनका राष्ट्रवाद पश्चिम का सत्यानाशी सताया राष्ट्रवाद नहीं है–वह मूलत: मातृभूमि पूजा एवं देश भक्तिवाद है। यह अलग बात है कि आज हम देशभक्ति को गाली समझते हैं और उससे ऐसे बिदकते हैं जैसे पागल पानी से। स्वामीजी ने उस जमाने में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया जन साधारण के संदर्भ में संकल्पित की और उसे वर्चस्ववाद, कुलीनतावाद, प्रभुतावाद के हाथों में सौंपने से इनकार किया। भौतिक समृद्धि के साथ आध्यात्मिक समृद्धि की शर्त लगाकर स्वामी विवेकानन्द ने धार्मिक ज्ञान के भक्तियोग के दरवाजे सभी के लिए खोलने का अभियान

चलाया। उन्होंने धर्म सुधारों तथा समाज-सुधारों के प्रश्नों को सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में देखा। फलत: भारतीय नवजागरण में उनके विचारों से नया आलोक पाया और फटती हुई नई पौ के जनता ने दर्शन किए। हमने पाया कि हिंदू धर्म और दर्शन को विश्व धर्म के रूप में यूरोप अमेरिका में प्रतिष्ठित करना, उनकी अद्‌भुत योगकला का चमत्कार है।

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन में पारंगत स्वामीजी ने राजनीति को अपने विचारों का वाहक नहीं बनाया, लेकिन इतिहास विधाता की गति देखिए कि बीसवीं शताब्दी में उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में सक्रिय समाज-सुधारकों बौद्धिकों, राजनेताओं ने उनके विचारों से प्रवाहित होकर अपने कदम आगे बढ़ाए। हम पाते हैं कि महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, अरविंद, सर्वपल्ली राधाकृष्णन तथा विश्वकवि रवींद्रनाथ ने विवेकानन्द को प्रेरणानायक, राष्ट्र निर्माताओं में स्थान दिया। विवेकानन्द की विवेक वयस्कता ने वेदांत के राष्ट्रीय चिंतन को आधार बनाया। वह मूलत: सांस्कृतिक है, धार्मिक नहीं। वे प्राय: हिंदू धर्म से बाहर निकलकर नए विचारों का सृजन करते हैं, जिसमें 'आत्म' का अनंत विस्तार होता है। सच बात तो यह है कि वे पूर्व की मूल्य चेतना तथा पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियों में योग चाहते हैं। वे ब्राह्मणवाद तथा शंकराचार्य आलोचना करते हैं और एक व्यापक संदर्भों अर्थों वाले सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की ओर कदम उठाते हैं। एक पुराणपंथी लकीर के फकीर हिंदू की तरह कोई शुद्धतावाद नहीं मानते और शूद्रों के भविष्य का सपना देखते हैं। उनका यह सपना लोहिया अंबेडकर दोनों में दिखाई देता है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि उनमें आज भी हिंदुत्ववादी राजनीति की कोई आहट नहीं है, वे 'प्रस्थानत्रयी' का नया भाव प्रस्तुत करते हैं। इसी ज्ञान से उन्होंने धर्म परिवर्तन की मुहिम चलाने वाले हिंदुओं की गरीबी का लाभ उठाकर झूठ का हाथी खड़ा करनेवाले 'इंजीली उत्साह' की जमकर निंदा की। मुगलकाल की सांस्कृतिक उपलब्धियों पर उनके मन में सराहना का भाव रहा है।

विवेकानन्द अपने रुढ़िभंजक विचारों के कारण भारतीय जन-जागरण को दिशा-दृष्टि देनेवाले संत योद्धा हैं। हिन्दी का आधुनिक साहित्य मैथिलीशरण गुप्त हो, पंत-निराला हों या प्रसाद; महादेवी वर्मा हों या दिनकर अज्ञेय हों या निर्मल वर्मा; इन सभी पर विवेकानन्द के विचारों की अमिट छाप है।

□□□

स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित मनुष्य-निर्मात्री शिक्षा

-डॉ॰ राजलक्ष्मी वर्मा

(6 अक्टूबर 2001 को विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर, में आयोजित 'स्वामी आत्मानन्द व्याख्यानमाला' में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्राध्यापिका डॉ॰ राजलक्ष्मी वर्मा के विचारोत्तेजक व्याख्यान का श्री वीरेन्द्र वर्मा द्वारा अनुलेखन।)

जहाँ तक आँकड़ों का प्रश्न है, हम आज पहले से अधिक शिक्षित हैं। शिक्षा का प्रचार-प्रसार भी बढ़ा है। जिन अंचलों में शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी, वहाँ शिक्षा की व्यवस्था हुई है। प्रतिदिन ही अनेक स्कूल-कॉलेज खुल रहे हैं और प्राथमिक स्तर से उच्च शिक्षा तक की सुविधाएँ और अवसर लोगों को उपलब्ध कराये जा रहे हैं। लेकिन जो एक चिन्तनीय विषय है–वह यह है कि शिक्षा के इस बढ़ते प्रचार-प्रसार के बावजूद, हमारे समाज में जिस प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन होना चाहिए था, जिस प्रकार का विकास होना चाहिए था, वह नहीं हो रहा है। कई बार तो ऐसा लगता है कि हम संस्कृत होने के बजाय असंस्कृत हो रहे हैं और पीछे की ओर चल रहे हैं। आज समाज में जिस प्रकार जीवन के सुन्दर और उदात्त मूल्यों का ह्रास हो रहा है, नैतिक मूल्यों में कमी आ रही है, समाज जिस प्रकार उच्छृंखल हो रहा है, जो भ्रष्टाचार का बोलबाला दिखाई देता है, अपराध और हिंसा की वृत्ति दिखाई देती है, स्वार्थ का जो नग्न नृत्य दिखाई देता है–यह सब देखकर एक सहज प्रश्न मन में उठता है कि क्या हम सही दिशा में जा रहे हैं? और बड़ा आवश्यक हो गया है कि अब इस देश के प्रबुद्ध व्यक्ति मिलकर बैठें और सोचें कि हमारी शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए?

प्रत्येक मनुष्य जब जन्म लेता है, तो किसी विकृति के साथ जन्म नहीं लेता। उसमें अनन्त सम्भावनाएँ होती हैं, अनन्त प्रतिभाएँ होती हैं। किस प्रकार उसे एक दिशा दी जाय, किस प्रकार से उसे सकारात्मक दिशा की ओर ले जाया जाय–इसका उत्तरदायित्व शिक्षा पर होता है। आज जो समाज और व्यक्ति की स्थिति है, उसे देखकर लगता है कि समाज के निर्माण में शिक्षा की जो रचनात्मक भूमिका होनी चाहिए, वह उसे नहीं निभा रहा है। इसलिए आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व इस देश को अपने युगान्तरकारी चिन्तन के द्वारा दिशा प्रदान करनेवाले स्वामी विवेकानन्द के विचारों पर हम एक बार पुन: चिन्तन करें और यथासम्भव उनसे लाभ उठाएँ।

स्वामीजी की शिक्षा-विषयक जो अवधारणा है, उस पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। उसका एक सैद्धान्तिक तथा भावनात्मक पक्ष है और उसका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। दोनों ही दृष्टियों से विचार करने पर उनकी धारणा सुस्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है। उनकी शिक्षा-नीति पर विचार करते समय इस विषय को यदि हम इन तीन वर्गों के अन्तर्गत बाँटकर विचार करें, तो सहूलियत होगी– (1) शिक्षा का प्रयोजन क्या है? (2) शिक्षा का स्वरूप क्या है? और (3) शिक्षा का विषय क्या है?

सबसे पहली बात है कि शिक्षा का प्रयोजन क्या है? इस पर विचार करना आवश्यक है। स्वामीजी की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन है–मनुष्य की पूर्णता की अभिव्यक्ति। वे कहते हैं– 'Education is the manifestation of perfection already in man.' –व्यक्ति के भीतर जो उदात्तता निहित है, जो पूर्णता निहित है, उसे प्रकट करने में जो सहायक हो, वही शिक्षा है। अब प्रश्न उठता है कि यह पूर्णता क्या है? यह पूर्णता किसी प्रकार की प्रतिभा नहीं है, न ही यह किसी प्रकार की दक्षता है। यह पूर्णता व्यक्ति का अपना स्वभाव है, अपना स्वरूप है। व्यक्ति का स्वरूप यह है कि वह ईश्वर का अंश है। वह स्वभाव में ईश्वर जैसा ही है। उसकी यह जो दिव्यता है, उसकी यह जो inherent divinity है–इस दिव्यता का, इस आत्मरूपता का प्रकाशन ही शिक्षा का उद्देश्य है। मनुष्य का व्यक्तित्व चेतना के प्रत्येक स्तर पर विकसित हो सके, चाहे वह शारीरिक स्तर पर हो, या बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक स्तर पर। इन तीनों स्तरों पर उसके व्यक्तित्व में कहीं कोई गाँठ न हो।

उसके व्यक्तित्व में एकरूपता हो, समरसता हो और वह अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से किए जानेवाले कार्यों को कुशलता से कर सके, यही शिक्षा का प्रयोजन है। इसलिए स्वामीजी कहते हैं कि मनुष्य की दिव्यता या पूर्णता या आत्मरूपता के प्रकाशन का यह अर्थ नहीं है कि उसके व्यक्तित्व के जो अन्य भौतिक पक्ष हैं, उनकी उपेक्षा की जाय। इसी कारण स्वामीजी शारीरिक स्वास्थ्य-रक्षण के प्रति भी बड़े सजग थे। वे प्राय: ही कहते थे–**नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:**– जो शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ है, बलशाली है, वही साधना करने में समर्थ हो सकता है। चाहे वह साधना अध्यात्म की हो, या फिर जीवन के विभिन्न पक्षों में विभिन्न उपलब्धियों के लिए किया जानेवाला संघर्ष हो। शारीरिक स्वास्थ्य के बाद आता है बुद्धि का विकास। बुद्धि का विकास सही दिशा में हो, जिससे व्यक्ति अपनी प्रतिभा तथा सामर्थ्य का पूर्णतया उपयोग कर सके और उसके बाद व्यक्ति की अपनी आध्यात्मिक पहचान–मैं शरीर नहीं हूँ, मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ, मैं बुद्धि नहीं हूँ, मैं मन और अहंकार नहीं हूँ, मैं इन सबके परे शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मतत्त्व हूँ–हर व्यक्ति को इस आध्यात्मिकता का अनुभव होना चाहिए, ऐसा स्वामीजी मानते थे। जब इस प्रकार की आध्यात्मिकता का अनुभव होता है, तो व्यक्ति के भीतर एक ऊर्जा उत्पन्न होती है, उसमें एक अद्‌भुत सामर्थ्य उत्पन्न होता है, उसे अपनी शक्ति का अनुभव होता है, उसके भीतर से दैन्य और कायरता जैसे दोष दूर हो जाते हैं और वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अप्रतिहत गति से, अबाध गति से आगे बढ़ सकता है। इस प्रकार शिक्षा का प्रयोजन यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में चारों पुरुषार्थों का भलिभाँति रूपायन कर सके। चाहे वह अर्थ हो, या धर्म हो, या काम हो, या मोक्ष हो। अत: इस पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिए जमीन तैयार करना, भूमिका प्रस्तुत करना, यही शिक्षा का प्रयोजन है–जैसा स्वामीजी मानते हैं।

वे शिक्षा की जिन पद्धतियों को भारत के लिए उपयुक्त समझते थे, उन्हें यदि हम विश्लेषित करें, तो फिर कई बातें हमारे सामने आती हैं। (क) उस शिक्षा का आधार क्या हो? (ख) उस शिक्षा की संरचना क्या हो? स्वामीजी ने शिक्षा को धर्म से जोड़कर देखा। इसलिए उनकी दृष्टि में धर्म और शिक्षा दो भिन्न चीजें नहीं है और जो उद्देश्य धर्म का है, वही उद्देश्य शिक्षा का भी होना चाहिए। धर्म से स्वामीजी का तात्पर्य यह नहीं था कि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के मतानुसार शिक्षा दी जाय, किसी विशेष पूजन-पद्धति के द्वारा, किसी विशेष उपासना के द्वारा या चिन्तन के किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के द्वारा शिक्षा दी जाय–ऐसा उनका भाव नहीं था। धर्म का जो वास्तविक अर्थ है, वह यह नहीं है, क्योंकि यह सारा अभिचार या कर्मकाण्ड, ये सारे मत-मतान्तर, ये तो धर्म के एक अंग मात्र हैं, धर्म के अंश मात्र है। यह धर्म का कलेवर है, धर्म की आत्मा नहीं है। धर्म की आत्मा तो वे शाश्वत जीवन-मूल्य हैं, जो व्यक्ति के आत्मा को सार्थकता प्रदान करते हैं और उसे अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा के समायोजन में शक्ति देते हैं, दिशा देते हैं, मार्ग-निर्देशन करते हैं। धर्म कुछ ऐसे नियम हैं, जिनका पालन करके व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने उत्कर्ष की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को उपस्थित कर सकता है, उनका रूपायन कर सकता है। इसीलिए हमारे यहाँ जब चार पुरुषार्थों की बात की जाती है, तो सर्वप्रथम उनमें धर्म आता है। धर्मपूर्वक अर्थ, धर्मपूर्वक काम–इस प्रकार आचरण होना चाहिए। अर्थ यदि धर्म से रहित हो गया, तो उस प्रकार की डकैतियाँ और लूट-पाट होने लगती है, जैसी आज हमारे समाज में हो रही है। काम अगर धर्म से रहित हो जाय, तो उस तरह का अनाचार या भ्रष्टाचार दिखने लगता है, जैसा आज हमारे यहाँ हो रहा है। तो धर्म का बहुत अधिक महत्त्व है। स्वामीजी की दृष्टि में धर्म का अर्थ है आध्यात्मिकता। धर्म का अर्थ है वेदान्त। उपनिषदों में प्रतिपादित जो एक तत्त्व है, वह आत्मतत्त्व ही इस सम्पूर्ण सृष्टि के रूप में व्यक्त हो रहा है, वही मैं हूँ, वही आप हैं, यह सारी सृष्टि भी वही है–इस तत्त्व की अनुभूति ही धर्म है।

यह जो आध्यात्मिक प्रवणता है, यह जो आध्यात्मिकता है–यही धर्म है। इस आध्यात्मिकता की अनुभूति ही धर्म का प्रयोजन है, धर्म का लक्ष्य है। इसलिए स्वामीजी ने शिक्षा को धर्म में रोपा। शिक्षा का जो उत्स है, शिक्षा की जो प्रेरणा है, वह धर्मपूर्वक होना चाहिए। धर्म का कार्य है–चरित्र-निमार्ण। इसलिए स्वामीजी की जो शिक्षा-पद्धति है, वह कहलाती है– Man-making, Nation-building Education का अर्थ है Man-making (मनुष्य-निर्मात्री) और Nation-building Education (राष्ट्र-निर्मात्री शिक्षा) का?–ऐसी शिक्षा जो व्यक्ति के चरित्र का विकास करे, ऐसी शिक्षा जो उसके दोषों को दूर करे, उसके दोषों का परिमार्जन करे और उसमें सद्‌गुणों का, सकारात्मक मूल्यों का आधान करे; उसे नैतिक मूल्य दे, उसे सामाजिक मूल्य दे, उसे धार्मिक मूल्य दे, उसे आध्यात्मिक मूल्य दे, उसके चरित्र में जितनी कमियाँ हैं, उन्हें दूर करके, उसे परिष्कृत करने का कार्य करे–धर्म का यही कार्य है और यही कार्य शिक्षा का भी है। अत: स्वामीजी ने शिक्षा और धर्म–इन दोनों को विपरीत ध्रुव नहीं माना, जैसा कि आज समझा जा रहा है, धर्म के इस स्वरूप को ही अप-व्याख्यायित किया जा रहा है और इसकी वजह से समाज में कई विकृतियाँ आ रही हैं। परन्तु स्वामीजी ने यह अनुभव किया कि धर्म से विरहित शिक्षा के ऊपर सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए स्वामीजी ने अपने विद्यार्थियों के लिए जिन मूल्यों

की, जिस चरित्र की आवश्यकता बताई, वे थे–श्रद्धा, विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा और ब्रह्मचर्य। ये सारे जो जीवन-मूल्य हैं, उनमें से ब्रह्मचर्य का अर्थ है कामनाओं, वासनाओं तथा इच्छाओं का संयम। और इस ब्रह्मचर्य-पालन के फलस्वरूप ही चित का एकाग्रीकरण या उसे किसी विषय में लगाना सम्भव हो सकता है। और श्रद्धा! श्रद्धा वह मूलभूत पाथेय है, जिसको लेकर व्यक्ति अपने जीवन में चलता है। गुरु के वाक्यों में श्रद्धा, शास्त्र के वाक्यों में श्रद्धा, सत्पुरुषों के वाक्यों में श्रद्धा, यह श्रद्धा व्यक्ति को एक सम्बल देती है। उसमें साहस को जन्म देती है। साहस एक अद्‌भुत नैतिक गुण है, जिसे अँगरेजी में courage कहते हैं। यह जो साहस है, यह एक मानसिक धर्म है, जो न केवल व्यक्ति को बाहरी विषय परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में सहायक होता है, अपितु स्वयं अपनी कमियों और अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने में भी सहायक होता है। यह श्रद्धा, यह साहस, सत्य के प्रति एकनिष्ठा, आत्मसंयम– ये सारे गुण यदि व्यक्ति के अन्दर शिक्षा विकसित नहीं करती, तो वह शिक्षा व्यर्थ है। जीवन के भीतर किसी सार्थकता को लाना, उसका प्रयोजन कदापि नहीं हो सकता।

एक बात और स्वामीजी ने कही, जो शायद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है और उसके बड़े दूरगामी गहरे मनोवैज्ञानिक अर्थ हैं। उन्होंने कहा कि शिक्षा दी नहीं जा सकती। जानने की प्रक्रिया में व्यक्ति कोई नई चीज नहीं जानता, बल्कि वह आविष्कार करता है। सारा ज्ञान व्यक्ति के भीतर स्थित होता है। अध्यापक, पुस्तक और विषय उसका आलम्बन बनते हैं यानी इनकी सहायता से वह उस ज्ञान को अपने भीतर अनुभव कर पाता है। एक छोटा-सा उदाहरण लें–किसी व्यक्ति को देखकर आपके मन में स्नेह उमड़ता है, किसी को देखकर आपके मन में श्रद्धा जागती है और किसी को देखकर आपके मन में द्वेष भी उत्पन्न होता है। अब यह स्नेह, श्रद्धा तथा द्वेष आपकी अपनी संरचना का विषय है, ये आपके भीतर हैं, ये आपके बाहर कभी नहीं हैं। लेकिन सामने उपस्थित व्यक्ति इसका उद्दीपक बन जाता है, इनका आलम्बन बन जाता है और उसके सहारे ये मनोभाव आपके भीतर व्यक्त हो जाते हैं, जो आपके भीतर सुप्त रूप से मौजूद थे, विद्यमान थे। स्वामीजी कहते हैं कि ठीक वैसे ही सारा ज्ञान आपके अपने भीतर है, वह केवल व्यक्त होता है और शिक्षा उसी को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया है, जो वह चरित्र-निर्माण के द्वारा सम्पन्न करती है। इसीलिए स्वामीजी ने गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को जो व्याख्यायित किया, वह कुछ इस प्रकार से किया। जैसे हम किसी पौधे को रोपते हैं, उसमें पानी देते हैं, खाद देते हैं। यदि वह ज्यादा सुकोमल है, तो उसके ऊपर छाया कर देते हैं। कोई उसे चोट न पहुँचाए, इसलिए हम उसके चारों ओर एक बाड़ बना देते हैं। लेकिन उस पौधे का विकास उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति संरचना और प्रकृति के अनुसार ही होता है। उसे जितना बढ़ना होगा, जैसा बढ़ना होगा, वह वैसा ही बढ़ेगा। इस प्रकार हम किसी भी विद्यार्थी को इस प्रकार का चरित्र दे सकते हैं, इस तरह का वातावरण दे सकते हैं कि वह अपनी विकास-यात्रा जल्दी-से-जल्दी और सरलतापूर्वक पूरी कर ले। हम केवल उस विद्या की अभिव्यक्ति के लिए एक परिवेश तैयार कर सकते हैं। इससे अधिक हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं है। यदि हमने वह वातावरण अपने बच्चों को दिया, अपने छात्रों को दिया, तो वह स्वयं अपने भीतर के ज्ञान का आविष्कार कर लेगा। यह बात सुनने में थोड़ी-सी अव्यावहारिक लग सकती है, पर यह एक सच्ची बात है।

स्वामीजी जब कहते हैं कि शिक्षा या शिक्षण-पद्धति एक सहायिका है, अनुकूल वातावरण दिए जाने पर व्यक्ति अपने भीतर के ज्ञान को आविष्कृत करता है, तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शिक्षा एक आन्तरिक, एक अन्तरंग प्रक्रिया है। वह शिक्षार्थी के अन्दर घटती है। जो उसके अन्दर घटती है, वह उसके अपने स्वरूप का एक हिस्सा होती है। आज हमारी शिक्षण-पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह पूरी तौर से एक ऐसी व्यवस्था है, जिसका व्यक्ति के अन्तःकरण से कुछ भी लेना-देना नहीं है। हम इसे एक कोट की तरह पहन सकते हैं और एक कोट की तरह उतारकर रख सकते हैं। यह हमारे जीवन में, हमारे भीतर हमारे मन में, किसी प्रकार का कोई परिवर्तन और सुधार नहीं ला सकती, क्योंकि यह हमारी मानसिक प्रक्रिया का अंग नहीं है। यह शिक्षा हमारे भीतर घटती नहीं है, यह हमारे स्वरूप का हिस्सा नहीं बनती। स्वामीजी के शब्दों में–वह केवल जानकारियों के स्तर पर आकर रुक जाती है। इसलिए पढ़-लिखकर भी, शिक्षा के इतने अवसर लेकर भी, यदि व्यक्ति और समाज के भीतर कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो पा रहा है, तो इसका कारण केवल यह है कि आज शिक्षा एक बाहरी व्यवस्था हो गयी है। वह आन्तरिक प्रक्रिया नहीं है। इसलिए इसके द्वारा व्यक्ति के चरित्र में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो पाता। शिक्षा के लिए हमारी अर्हता इतनी है कि हमने आठवीं की परीक्षा पास कर ली है। किसी भी तरह, चाहे नकल करके किया हो, या रटकर किया हो, हमें नवीं में प्रवेश मिल जाएगा। यदि हमने बी॰ए॰ कर लिया, तो हम एम॰ए॰ करेंगे ही और यदि एम॰ए॰ कर लिया है, तो रिसर्च करेंगे ही। क्यों करेंगे? कभी भी कोई व्यक्ति रुककर यह सवाल नहीं करता कि हम जिस दिशा में जा रहे हैं, क्या यह दिशा हमारी है?

हमारी प्राचीन शिक्षण-पद्धति में अधिकारी-भेद का बहुत अधिक महत्त्व था। हर व्यक्ति हर तरह की शिक्षा के अनुकूल नहीं होता। सम्भव है कोई व्यक्ति बहुत अच्छा चित्रकार हो

सकता है, अध्यापक हो सकता है, गायक हो सकता है, हो सकता है कोई व्यक्ति सैनिक बन सकता है, परन्तु हमने उस अधिकारी भेद की सर्वथा उपेक्षा कर दी। आज हमने 'सब धान बाइस पसेरी' की तरह एक पाठ्यक्रम बना दिया है और हर व्यक्ति आज उसके अनुसार पढ़ रहा है। वह शिक्षा उसके मन के आन्तरिक वातावरण के लिए अनुकूल है या नहीं, इस पर कोई विचार नहीं करता।

आखिरी बात जो मुझ कहनी है वह यह है कि स्वामीजी की शिक्षा-पद्धति का कई प्रकार से विश्लेषण किया जा सकता है। व्यवहारिक दृष्टि से यह विश्लेषण एक प्रकार का होगा और तात्त्विक दृष्टि से वह बिल्कुल अलग प्रकार का। तात्त्विक दृष्टि से वे केवल अद्वैत और अध्यात्म की शिक्षा देते हैं। व्यावहारिक स्तर पर, सामाजिक जीवन के स्तर पर भी स्वामीजी ने बड़ी विस्तृत शिक्षा-योजना दी है। व्यक्ति को क्या पढ़ना चाहिए, क्या नहीं पढ़ना चाहिए और अन्त में उन्होंने कहा कि यदि व्यक्ति को सर्वांग सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है, तो इसके लिए जरूरी है कि उसके विषयों को इस तरह से बाँटा जाय कि मनुष्य की बुद्धि द्वारा स्पर्श किए जानेवाले जीवन के सारे पक्ष उसमें आ जाएँ। साहित्य के एक वर्ग को वे अँगरेजी में classics कहते हैं, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को भारत के शाश्वत चिन्तन-मूल्यों का परिचय करानेवाले वेद, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थ आते हैं। दूसरे वर्ग में विज्ञान आता है। तीसरा वर्ग तकनीकी का है, चौथे वर्ग में साहित्यिक विषय है और पाँचवां वर्ग ललित कलाओं का है, क्योंकि स्वामीजी मानते हैं कि ललित कलाओं के बिना व्यक्ति में कोमलता तथा संवेदना के स्तर पर, वह परिष्कृति तथा सुरुचि उत्पन्न नहीं हो पाती, जो उसे एक अच्छा इन्सान बना दे।

स्वामीजी की शिक्षा के जो व्यावहारिक पक्ष हैं, उस पर मुझे ज्यादा कुछ नहीं कहना है। आखिरी बात कहकर अब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगी। सामान्यतः आजकल के लोगों को यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि शिक्षा को अध्यात्म से भी कुछ लेना-देना है। सामाजिक विज्ञानों को पढ़ने के लिए क्या आवश्यक है कि हमें अपनी आत्मरूपता का ज्ञान हो? जब स्वामीजी कहते हैं कि व्यक्ति में अन्तर्निहित दिव्यता और पूर्णता का प्रकाशन ही शिक्षा का उद्देश्य है, उस समय वे इतनी गहरी बात कह रहे होते हैं जिसके सामाजिक प्रभाव अद्‌भुत रूप से दूरगामी हैं। जिस समय व्यक्ति को अनुभव होता है कि मैं केवल शरीर, केवल मन, केवल इन्द्रिय, या केवल बुद्धि नहीं हूँ, मेरा संसार केवल सम्बन्धों का संसार नहीं है, मैं इन सभी मर्यादाओं के बाहर, इन सीमाओं के परे, एक शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मतत्त्व हूँ, तब दो क्रान्तियाँ घटती हैं। एक वैचारिक क्रान्ति जो व्यष्टि के स्तर पर घटती है और दूसरी वैचारिक क्रान्ति जो समष्टि के स्तर पर घटती है, यानि व्यक्ति के स्तर पर भी कुछ परिवर्तन होता है और समाज के स्तर पर भी परिवर्तन होता है। जब व्यक्ति अपनी दिव्यता का अनुभव करता है, जब वह अपने भौतिक व्यक्तित्व की सीमाओं से आजाद होता है, तब उसके अन्दर की क्रान्ति घटती है, वह उसें अनासक्त तथा अपराजेय बना देती है। व्यक्ति जब भी हारता है, आसक्ति के कारण हारता है, व्यक्ति सदैव अपने कारण हारता है, क्योंकि पराजय एक मनःस्थिति है, इसकी कोई अपनी स्थिति नहीं है। सम्पूर्ण गीता का सरांश केवल इतना ही है कि अनासक्त व्यक्ति ही विजयी होता है। वह व्यक्ति के स्तर पर अनासक्त होता है और समाज के स्तर पर शिव-स्वरूप हो जाता है। हमारी सारी कामनाएँ, सारी इच्छाएँ और सारे स्वार्थ कहाँ से उत्पन्न होते हैं? ये हमारे इस भौतिक व्यक्तित्व की देन हैं और इसी के क्षेत्र में रहते हैं। जब हम यह अनुभव कर लेते हैं कि मैं कोई भौतिक पदार्थ नहीं हूँ, मैं सम्बन्धित हूँ, मैं दिव्य हूँ, तब हमारी भौतिक इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और वासनाएँ बहुत संयमित एवं नियंत्रित हो जाती हैं, बहुत कम हो जाती हैं। तथा हम दूसरों के लिए जीना शुरू कर देते हैं, क्योंकि हमें यह बोध हो जाता है कि जो मैं हूँ, वही ईश्वर है और वही विश्व है। जो मैं हूँ, वही तुम हो। एक बड़ा सुन्दर शेर है–

वजहे बेगानगी नहीं मालूम,
तुम जहाँ के, वहीं के हम भी हैं।

क्यों हम इतने अपने पराये में बँट गए? दरअसल तो तुम जो हो वही मैं भी हूँ। जब व्यक्ति संवदेना के स्तर पर ऐसा अनुभव कर लेता है, तो उसके द्वारा किसी का अहित सम्भव नहीं है। फिर समाज में जो हिंसा है, जो भ्रष्टाचार है, जो अपराध है, जो उत्पीड़न हे, ये सब स्वतः समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भावनात्मक स्तर पर वैश्विक एकता का अनुभव कर लेता है। इसलिए स्वामीजी ने कहा कि यदि शिक्षा व्यक्ति की अपनी आध्यात्मिकता का अनुभव नहीं दे रही है, यदि इसका पर्यवसान अपनी पूर्णता की पहचान में नहीं है, तो वह शिक्षा व्यर्थ है।

आज हम जिस संकट और संक्रमण के काल से गुजर रहे हैं, जहाँ अस्तित्व का संकट है, जीवन-मूल्यों का संकट है, अपनी पहचान का संकट है, वहाँ यह बहुत जरूरी है कि एक बार हम स्वयं को जानने के लिए, अपने राष्ट्र को जानने के लिए, स्वामीजी के विचारों का मन्थन करें और उससे जो अमृत निकले, उसे अपनी नई पीढ़ियों को वितरित करके उनके व्यक्तित्व को एक सार्थक और सकारात्मक दिशा देने में समर्थ हो सकें।

विवेकानंदत्व : वेदांत आधारित जीवन व मूल्य

-बृजकिशोर कुठियाला

अनंत काल से मानव जीवन के प्रयोजन का विचार हो रहा है। दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और चिंतकों के अतिरिक्त आम व्यक्ति भी मनुष्य जीवन क्यों और कैसे पर चिंतन करता है। असंख्य व्याख्याएँ उभरकर आती हैं, जिनमें यहाँ तक कहा गया कि मनुष्य का जन्म पाप से है और पाप से निकलना ही उसके जीवन का ध्येय है। दूसरी ओर यह भी माना गया कि हर संभव साधन से शारीरिक आनंद प्राप्त करना ही मनुष्य का कार्य है। परंतु भारतभूमि पर हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों-मुनियों ने इसी विषय पर तप, तपस्या, चिंतन और विमर्श करके अनेक ग्रंन्थों में इस प्रश्नों के उत्तर दिए हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भी मानव जीवन के उद्देश्यों के विषय में वेदांत आधारित ज्ञान-विज्ञान का विस्तार किया है। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त ज्ञान को विभिन्न आयामों में देखा जा सकता है–

सत्य की खोज

चार पुरुषार्थों पर आधारित जीवन-कार्य को स्वामीजी ने मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया। धर्म आधारित अर्थ-अर्जन, समाजोपयोगी कर्म करते हुए और अनिवार्य भोग करते हुए परमात्मा की अनुभूति करना, ऐसा उद्देश्य है मानव जीवन का। इससे विकास के क्रम में मनुष्य नर से नारायण बनता है। स्वामीजी ने व्यष्टि-समष्टि-सृष्टि-परमेष्टि के रूप में भी मानव जीवन के दर्शन की व्याख्या की। उनके अनुसार मनुष्य जीवन के चार महत्त्वपूर्ण कार्य हैं–स्वयं की अनभूति करते हुए व्यक्ति को समाज का केवल एक घटक मानना और पूरी सृष्टि की ओर समभाव रखना तथा ऐसा करते हुए व्यक्ति समाज एवं संसार की रचना करनेवाली सर्वव्यापक चेतना का अनुभव करे। इस प्रकार से स्वामीजी ने आध्यात्मिक मार्ग से जीवन में अंतिम सत्य को प्राप्त करना ही जीवन का मात्र उद्देश्य माना।

सहभागिता

स्वामीजी ने समाज का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि समाज में कई प्रकार की विषमताएँ हैं और कुछ वर्ग आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न है, जबकि बहुत बड़ी संख्या में मनुष्य अभावग्रस्त, उपेक्षित एवं पीड़ित है। वंचित समूहों को स्वामीजी ने दरिद्र नाम देते हुए उन्हें नारायण रूप समझने का उपदेश दिया। स्वामीजी के अनुसार दरिद्र की सेवा ही नारायण सेवा, अर्थात् भक्तियोग एवं कर्मयोग है। इस प्रकार से मानव जीवन का उद्देश्य यह भी है कि जो कुछ अपने पास है, उसकी सभी के साथ सहभागिता करना एवं हर प्रकार के मनुष्य से भ्रातृभाव रखना। व्यावाहारिक स्तर पर यही मानव जीवन का उद्देश्य है।

राष्ट्रप्रेम

स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्र को भी देव स्वरूप माना और कहा कि सभी देवी-देवताओं को भूलकर राष्ट्र की आराधना करना भी जीवन का एक बड़ा उद्देश्य है। उस समय स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए कार्य करने का आदेश स्वामीजी का था और वर्तमान में राष्ट्र के पुनरुत्थान का कार्य हर भारतीय के जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। स्वामीजी की राष्ट्र की परिकल्पना भी भौगोलिक या जाति आधारित न होकर सांस्कृतिक है। राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पित होना भी मनुष्य जीवन का उद्देश्य है।

वेदांत की पुनरावृत्ति

स्वामीजी का एक और महत्त्वपूर्ण उपदेश ज्ञान और विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार का था। स्वयं ज्ञान प्राप्त करना और प्राप्त ज्ञान को समस्त संसार में बाँटना ऐसा उद्देश्य भी मानव जीवन का स्वामीजी ने बताया। स्वामीजी के अनुसार प्राचीन भारतीय ज्ञान को वर्तमान संदर्भों में समझना एवं शेष विश्व को उसका संप्रेषण करना भारतीय जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। स्वामीजी के अनुसार आधुनिक ज्ञान-विज्ञान कई रूपों में प्राचीन भारतीय मनीषा में पहले से उपलब्ध है। केवल उसको फिर से खोजकर प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। यह कार्य भारतीय समाज का मुख्य उद्देश्य हो, ऐसा स्वामीजी ने बार-बार कहा और लिखा।

विज्ञान व अध्यात्म

स्वामीजी ने बार-बार पश्चिम द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में हुए विकास की चर्चाएँ की हैं। एक ओर तो स्वामीजी का आग्रह था कि भारत राष्ट्र भी पश्चिम के विज्ञान और उसकी खोज की प्रक्रियाओं को ग्रहण करे। दूसरी ओर उनका यह भी मानना था कि हमें साहसपूर्वक वेदांत में छिपे ज्ञान और विज्ञान को शेष विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। उनका मानना था कि प्रकृति की जो समझ आधुनिक वैज्ञानिक प्राप्त कर रहे हैं, वह ज्ञान और विज्ञान प्राचीन भारतीय ग्रंथों में पहले से उपलब्ध है। इसके साथ ही स्वामीजी ने सत्य की खोज को अध्यात्म के साथ जोड़ते हुए यह भी माना कि वैज्ञानिक खोजों का उद्देश्य भी सत्य की खोज है। इस प्रकार से उन्होंने विज्ञान को अध्यात्म से जोड़कर प्रकृति को समझने और समझाने के विचार का प्रतिपादन किया था।

आदर्श जीवन लक्ष्य क्या?

स्वामी विवेकानन्द के पूरे दर्शन को वर्तमान संदर्भ में रखकर राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए कार्य-योजना बनानी होगी। वर्तमान की सबसे बड़ी समस्या यह है कि समाज भौतिकवाद की दौड़ में मस्त है। भारतीय समाज की स्थिति यह है कि भौतिकता की चिति न होने के बावजूद वह समाज पश्चिम के भौतिकवाद का अंधानुकरण करता हुआ दिखता है। फलस्वरूप समाज में विषमताएँ बढ़ती जा रही हैं। ये विषमताएँ आर्थिक रूप से तो प्रमुख हैं ही, परंतु सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से भी समाज का विभाजन खतरे के निशानों से कहीं ऊपर तक पहुँच चुका है। 'मेरा राष्ट्र', 'मेरा समाज' ऐसी भावनाएँ क्षीण हुईं और 'मेरी जाति', 'मेरा राज्य' और 'मैं' की अनुभूतियाँ दृढ़ हो रही हैं। भारतीय समाज ने पंथ-निरपेक्षता को धर्म विहीनता के रूप में स्वीकार कर लिया है। जिसके कारण से आर्थिक एवं सामाजिक शुचिता का विलोप हो गया है और समाज में भ्रष्टाचार, कदाचार एवं दुराचार तीव्र गति से बढ़ रहा है। इसी प्रकार से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय समाज पश्चिम से बहुत पीछे रह गया लगता है। बार-बार यह प्रश्न उठता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् हमने ऐसे वैज्ञानिक और शोधकर्ता क्यों नहीं बनाए, जिन्हें नोबल पुरस्कार जैसा सम्मान प्राप्त हो।

विमर्श के लिए प्रश्न यह उठता है कि वर्तमान स्थितियों में हम अपने बच्चों और युवाओं को किस जीवन उद्देश्य की ओर अग्रसर करें? उनके लिए किस प्रकार के आदर्श जीवन लक्ष्य की परिकल्पनाएँ प्रस्तुत करें? भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था को ध्यान में रखते हुए तय करना होगा कि शिक्षा, विशेषकर उच्च व तकनीकी शिक्षा में क्या सुधार करें कि स्वामी विवेकानंद की कल्पनाओं के अनुसार राष्ट्र का पुनरुत्थान हो सके।

जीवन-मूल्य

लगभग हर उद्बोधन, लेख और वार्त्ता में स्वामी विवेकानन्द ने किसी-न-किसी रूप में शाश्वत जीवन-मूल्यों की चर्चा की। वैसे तो स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित जीवन-मूल्यों की संख्या बहुत अधिक है फिर भी उन्होंने जिन जीवन-मूल्यों को मानव व्यक्तित्व के लिए अत्यंत अनिवार्य माना, उनमें से कुछ हैं–

सत्य: शाश्वत सत्य पर अडिग विश्वास एवं उसी के आधार पर व्यवहार।

वीरता: अपनी सुरक्षा व निर्बल की सुरक्षा के लिए स्वस्थ एवं सुदृढ़ शरीर।

साहस: धर्म, सत्य, न्याय एवं राष्टप्रेम के लिए जीवन तक न्यौछावर करने का भाव।

ध्येयनिष्ठता: तात्कालिक और दीर्घगामी लक्ष्यों का निर्धारण करना और जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए तब तक प्रयत्नशील रहना।

मानव प्रेम: हर मनुष्य को अपनी ही चेतना का एक अंश मानकर उससे प्रेमभाव रखना।

प्रकृति प्रेम: सृष्टि की रचना के नियमों का पालन करते हुए प्रकृति का सम्मान एवं पोषण करना।

राष्ट्र प्रेम: स्व-राष्ट्र को ही देव-स्वरूप मानकर अपना जीवन उसके लिए समर्पित करना।

सदाचार: हर कार्य में यह ध्यान रखना कि उसमें समाज हित, राष्ट्र हित, मानव हित एवं सृष्टि हित निहित हो।

दायित्व-बोध: काल, स्थान व परिस्थिति के अनुसार अपने सामाजिक दायित्व को समझना एवं उसका निर्वहण।

इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक जीवन-मूल्य चिन्हित किए जा सकते हैं, जिन्हें स्वामी विवेकानन्द ने समय-समय पर समाज के सम्मुख रखा। आवश्यकता यह है कि वर्तमान समाज के मुख्य जीवन-मूल्यों का मूल्यांकन करते हुए इस प्रकार के उपायों पर विचार हो कि स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित मूल्यों को भारतीय समाज में किस प्रकार सुदृढ़ किया जाए। वर्तमान संदर्भ में विभिन्न व्यवस्थाओं की आचार-संहिताओं में संदर्भ में भी विश्लेषणात्मक प्रस्तुतियाँ होनी चाहिए। परंतु महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय यह भी है कि अपेक्षित जीवन-मूल्यों को बच्चों और युवाओं के व्यक्तित्व में किस प्रकार से समाहित किया जाए?

विश्वबंधुत्व

मार्शल मैक्लूहन ने तो 1960 के लगभग वैश्विक ग्राम की चर्चा की और पश्चिम जगत् में अत्यंत प्रसिद्धि पाई। परंतु उससे लगभग छह दशक पूर्व ही स्वामी विवेकानन्द ने 'संसार-ग्राम'

की कल्पना विश्व को दी। स्वामीजी के विचार का स्त्रोत भारतीय संस्कृति में बहुचर्चित 'वसुधैव कुटुंबकम्' की परिकल्पना है। मनुष्य-मनुष्य में किसी प्रकार का कोई भेद-रंग, जाति, देश, काल, अर्थ, संस्कृति आदि के आधार पर नहीं हो सकता। जहाँ पर इस प्रकार की विषमताएँ हैं, वे अप्राकृतिक है एवं उनको दूर करना ही हर मनुष्य का कर्तव्य है। शिकागो के धर्म-सम्मेलन में 'बहनो और भाइयों' के संबोधन ने ही स्वामीजी के इस महान् विचार की व्यावहारिक रूप से स्थापित कर दिया था। स्वामीजी ने विश्व-बंधुत्व के विचार का आध्यात्मिक आधार भी समय-समय पर समझाया है। उनके अनुसार क्योंकि न केवल हर मनुष्य में परंतु सृष्टि के हर अंश में एक ही चेतना का अंश है, इसलिए सबका एकात्म होना अनिवार्य है।

पूरे विश्व में आज वैश्वीकरण की प्रक्रिया तीव्र गति से पाँव फैला रही है। चिन्तन का विषय यह है कि क्या यह वैश्वीकरण वैसा ही है, जैसा वेदांत में है और जिसको स्वामी विवेकानंद ने विश्व के सम्मुख रखा। वसुधैव कुटुंबकम् का आधार आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक है, परंतु वैश्वीकरण मुख्यत: अर्थ और राजनीति आधारित है।

शिक्षाविदों का दायित्व

न केवल भारतीय विद्वान् परंतु पूरे संसार के विद्वानों की सर्वसहमति है कि एक समय था जब शिक्षा के क्षेत्र में भारत सबसे आगे था। भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में पूरे विश्व से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। भारतीय चिंतन, अध्यात्म, सामाजिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, कला ही नहीं परंतु विज्ञान के क्षेत्र में भी भारत में अभूतपूर्व उपलब्धियाँ अर्जित की थीं। समय के अनुसार भारत ने शिक्षा के क्षेत्र में अपना नेतृत्व तो खोया ही, परंतु प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान भी कहीं विस्मरण की स्थिति में चला गया। स्वामी विवेकानन्द लगातार भारतीयों से आग्रह करते रहे कि इस तथाकथित लुप्त ज्ञान-विज्ञान को फिर से जीवित करना होगा। उनका विश्वास था कि यह ज्ञान इतना समृद्ध और सक्षम है कि पूरे विश्व को इसकी आवश्यकता है। मुख्य रूप से स्वामीजी का आग्रह वेदों, पुराणों, उपनिषदों का अध्ययन करके उनकी प्रस्तुतियाँ शिक्षा के वैश्विक क्षेत्र में करने का था, परंतु स्वामीजी ने वर्तमान के पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को भी प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान के साथ समाविष्ट करके समझने का आग्रह किया है। शिक्षाविदों के सामने यह एक चुनौती है कि किस प्रकार से ऐसे आधारभूत ढाँचे तैयार किए जाएँ कि प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन निरंतरता से चले और उसको वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा जगत् में प्रसारित किया जाए। इस कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न करने के लिए कार्य-योजना क्या हो? श्रेष्ठतम ज्ञान वह प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध हो या आधुनिक वैज्ञानिकों के पास, उसको मानव जाति को देना शिक्षाविदों का दायित्व होना ही चाहिए।

विज्ञान एवं अध्यात्म

स्वामी विवेकानन्द की अद्वितीय विशेषता यह थी कि वे न केवल वेदांत को पूर्ण रूप से समझ चुके थे अपितु आधुनिक विज्ञान को भी समझने की शिक्षा उनके पास थी। यही कारण है कि स्वामीजी ने अध्यात्म और विज्ञान के भेद का सफलापूर्वक खंडन किया और बताया कि न केवल अध्यात्म का अपना विज्ञान है, परंतु हर वैज्ञानिक खोज अध्यात्म पर ही समाप्त होती है। अनेक नोबल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिकों ने अध्यात्म को विज्ञान की अंतिम सीढ़ी माना है। स्वामीजी का आग्रह यही था कि भारतीय विद्वानों को अध्यात्म और विज्ञान की एकरूपता को विश्व के सामने रखना होगा। पश्चिम के वैज्ञानिकों को भारतीय ग्रंथों में प्राप्त ज्ञान की जानकारी नहीं है। परंतु भारतीय वैज्ञानिकों को तो यह मालूम है, इसलिए भारत में शिक्षा का यह कर्तव्य हो सकता है कि वे इस विषय में साहसिक कदम उठाएँ। उच्च शिक्षा व तकनीकी शिक्षा का यह ध्येय हो सकता है कि हर प्रकार के शोध में न केवल पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को समझा जाए, परंतु प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी संबंधित विषयों की खोज की जाए। यह कार्य करना तो विमर्श का विषय है ही, परंतु कैसे और किसे करना, इस विषय पर सामूहिक विमर्श करने से ही उचित नीति का निर्धारण करना होगा।

दरिद्र एवं वंचित

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में जिस प्रकार से भारतीय समाज पूरी तरह से विभाजित था, उसकी पीड़ा स्वामीजी के मन में थी। केरल के 'छुओ मतवाद' को तो स्वामीजी ने समाज का पागलपन तक घोषित कर दिया था। इसीलिए स्वामीजी ने कई बार कहा कि समाज का जो अंतिम व्यक्ति है, उसको भी शिक्षित करना अनिवार्य है, क्योंकि शिक्षा के माध्यम से ही भंयकर विषमताएँ समाप्त हो सकती हैं। स्वामीजी ने न केवल अपने शिष्यों को परंतु सभी भारतीय नागरिकों का आह्वान किया था कि वे दरिद्रता और विषमता को समाप्त करने का संकल्प लें। सौ साल से अधिक के बाद भी सामाजिक विषमताएँ कम नहीं हुई हैं, परंतु आँकड़ों के आधार पर मूल्यांकन किया जाए तो विषमता तो बढ़ी ही है। ऐसा भी मूल्यांकन किया जा सकता है कि कहीं भारतीय समाज की असमानता को दूर करने के उपायों से हमने विषमताओं को और सुदृढ़ तो नहीं किया है। सामूहिक विमर्श के परिणामस्वरूप यह तो निकलना ही चाहिए कि वंचित एवं उपेक्षित वर्गों के युवाओं तक शिक्षा न केवल विद्यालय की शिक्षा, परंतु उच्च शिक्षा भी किस प्रकार पहुँचाई जाए? स्वामीजी ने कहा था कि यदि मूसा पहाड़ तक नहीं आ सकता तो पहाड़ को मूसा तक जाना होगा। ऐसे उपायों पर सामूहिक सहमति बननी चाहिए कि जिन वर्गों में उच्च शिक्षा अभी तक पहुँची ही नहीं है, उन तक जाकर किर प्रकार से उनको राष्ट्र की मुख्यधारा में लाया जाए। इंटरनेट और मोबाइल आधारित प्रौद्योगिकी का प्रयोग करने से यह महान् कार्य सहज व सुगम हो सकता है।

कविता

पुस्तक चौपाई

मुन्ना पाठक

(1)
मिटाती है बुराई को, हटाती विकृति पुस्तक।
जलाती ज्ञान का दीपक, बचाती संस्कृति पुस्तक।
ये पुस्तक देवता देवी, ये पुस्तक मित्र है भाई,
अंधेरा मिटता इनसे, है लाती जागृति पुस्तक।।

(2)
कभी ये कृष्ण बनकर के, हमें गीता सुनाती हैं।
मिटाती दुष्ट रावण को ये रामत्व लाती हैं।
कभी बन बाईबल, कुरान, गुरू ग्रंथ साहिब जी,
ऋचाएँ वेद की बनकर, प्रभु को पास लाती हैं।

(3)
ये पुस्तक एक तरकश है, भरा है जो विचारों से।
विचारों के इन्हीं वाणों से मारो मन के रावण को।
मरेगा मन का रावण तो, विजय श्री राम की होगी।
पुर्नस्थापना कर दो, रामत्व पावन की।

(4)
दहशत, जुल्म, हिंसा से, दुनिया जब बिलखती है।
किताबें बन के पैगम्बर, खुदा की नूर बनती हैं।
विचारों की ही ताकत से, मलाला ने किया क्रांति।
दहशत हारेगा हरदम, जीतेगी अमन और शांति।

किताबें

ए कीर्तिवर्धन

बचपन में
जब नींद नहीं आती थी,
माँ की गोद में
लेट जाता था
माँ
मुझे लोरी सुनाती थी,
मेरे बालों को सहलाती
और
मैं सो जाता।
आज भी
जब मुझे
नींद नहीं आती,
मैं
किताब पढ़ता हूँ
और
कुछ ही देर में
नींद के आगोश में
चला जाता हूँ,
सपनों में खो जाता हूँ
शायद किताबें हीं
माँ का
प्रतिरूप है।

आधुनिक बुद्ध-विवेकानन्द

-स्वामी मुख्यानन्द

(श्री शितिकण्ठ बोधिसत्व द्वारा अँगरेजी से अनूदित होकर यह लेख 'विवेक-शिखा' के जनवरी, 1984 के अंक में मुद्रित और वही से यहाँ संकलित हुआ है।)

कुछ काल पूर्व जिन भगवान बुद्ध की 2500वीं जन्मतिथि के उपलक्ष्य ने इस देश तथा संसार के विभिन्न अंचलों में निवास करनेवाले करोड़ो लोगों के मनों में अद्वितीय उत्साह का संचार किया था, वे भारत के महानतम सपूतों में ही नहीं, बल्कि संसार को ज्ञात कुछ गिने-चुने महापुरुषों में एक हैं। आज संसार में बुद्ध के अनुयाइयों की संख्या सर्वाधिक है। इस अद्‌भुत चमत्कार का क्या रहस्य है? बौद्ध धर्म का प्रचार सैन्य शक्ति के सहारे नहीं हुआ था; कोई दबाव नहीं, कोई रक्तपात नहीं। इसका 'आदि मध्य तथा अन्त में भी मंगलमय' तथा 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की भावना से प्रेरित सन्देश, अग्रत: आशीष एवं पृष्ठत: शान्ति से समन्वित, स्वयं भगवान बुद्ध द्वारा सन्तप्त मानवता को अपने उस अमृत सिद्धान्त का उपदेश प्रदान करने के लिए नियोजित तथा चतुर्दिक प्रेषित साधु-संन्यासियों द्वारा सर्वत्र प्रसारित हुआ। उनके विचार एवं सिद्धान्त महान् थे, उनका व्यावाहारिक नैतिक उपदेश उत्कृष्ट था, उनका व्यक्तिगत चरित्र उदात्त था, जो बुद्धिवादी व्यर्थालाप की शुष्क अस्थिमयता में प्राण संचारित करता था तथा उनकी वायवीय कल्पनाओं को वास्तविकता की भूमि प्रदान करता था। और इससे भी अधिक उत्कृष्ट एवं महान् है उनका प्रेम, जो मानव-आत्मा का उत्थापन कर मानव मात्र को विश्व-भ्रातृत्व के तारों में परस्पर जोड़ देने वाला है।

सन्तप्त मानवता के प्रति प्रेम ही बुद्ध के चरित्र का प्रधान तत्त्व है और यही उनके समग्र जीवन, कर्म एवं उपदेशों में अनुस्यूत और अभिव्यक्त है। प्रेम और सौम्य करुणा के ये दिव्य गुण उनको उस ईश्वरीय प्रभामण्डल से समलंकृत करते हैं, जिससे सम्मोहित और आकर्षित होकर विश्व ने उनके धर्म को स्वीकार किया है। उनके धर्म का इतना व्यापक और असाधारण प्रसार अपने सिद्धान्तों के चमत्कार से उतना नहीं, जितना बुद्ध के चरित्र के आकर्षण एवं सम्मोहन से हुआ। न बौद्ध और न हिन्दू धार्मिक-वाङ्मय में ही बुद्ध को प्रकाण्ड बुद्धिवादी बताया गया है। बौद्ध साहित्य में उनके लिए 'महा-कारुणिक' और 'आर्तबन्धु' जैसे विशेषणों का प्रयोग हुआ है। जयदेव ने अपने 'दशावतार-स्तोत्र' में सदय हृदय और करुणा का प्रसार करने वाले के रूप में बुद्ध की स्तुति की है। उनका हृदय ऐसा महान् था कि उन्होंने मानवीय पीड़ा की समस्या का समाधान खोजने के लिए साम्राज्य एवं समस्त राजकीय सुख-भोगों का त्याग कर दिया। वे एक ऐसे हृदय थे, जिन्होंने निर्वाण के दिव्य घनानन्द में लय होना इसलिए अस्वीकार किया, ताकि वे स्वयं को दूसरों के दु:ख निवारण करने में नियोजित कर सके। इतना ही नहीं, उनका हृदय ऐसा था कि किसी मूक पशु के लिए भी वे अपना जीवन समर्पित करने को तैयार थे। क्या उन्होंने समग्र जीवन की अखण्डता और सारे नाम-रूपी के मिथ्यात्व तथा भ्रमात्मकता का अनुभव नहीं किया था?

स्वामीजी के जीवन-चरित का अध्ययन करके कोई भी इन दो महापुरुषों के जीवन की अतीव समानता परविस्मित रह जाता है। लगता है कि उनका जीवन तथा सन्देश मानों भगवान बुद्ध के जीवन तथा सन्देश की ही प्रतिध्वनि हो, जो मूल को और स्पष्टता के साथ उच्चतर स्वर में पुन: प्रस्तुत करती है, क्योंकि विवेकानन्द हमारे समकालीन हैं। इस सन्दर्भ में स्वामीजी के जीवन के कुछ अंशों का अध्ययन परम उपादेय होगा, क्योंकि वह पच्चीस सदियों से चले आ रहे सुविख्यात भगवान बुद्ध के पौराणिक स्तर के जीवन की झलक प्रदान करता है। क्या यह मात्र संयोग है कि स्वामीजी बुद्ध को परम सम्मान देते थे और प्राय: ही श्रद्धापूर्वक उनका नाम तथा उदाहरण प्रस्तुत करते थे?

लंदन में साधकों की एक कक्षा के समक्ष ध्यान की व्याख्या करते हुए समाधिस्त विवेकानन्द के प्रसिद्ध चित्र का अवलोकन करने पर जो पहली बात हमें आकर्षित करती है, वह उसमें और ध्यानी-बुद्ध की प्रशस्त मूर्तियों में विद्यमान समानता ही है। पद्मासन में स्थित, सिर पर सजी हुई पगड़ी, जो बुद्ध के सिर पर बँधी हुई केश-राशि के ही समान है, सौम्य एवं शान्त मुखमण्डल जिसमें उनकी प्रसिद्ध विशाल आँखें ध्यान में बन्द हैं– परम सत्य की गहराई के आन्तरिक मौन में तादात्म होती हुई, इन्द्रिय-वृत्तियों के पहले से ही पूर्ण सुशान्त हो जाने से उत्पन्न अखण्ड शान्ति एवं सन्तुलन में अन्त:स्थित हैं। रोमाँ रोलाँ का कहना है–विवेकानन्द के इस चित्र का अवलोकन प्राचीन और अत्यन्त उत्तम ध्यानी-बुद्ध की रूपाकृति की याद दिलाता है। 1893 ई॰ के सितम्बर में शिकागो की धर्मसभा के मंच पर उपस्थित स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में 'डेली क्रॉनिकल' के संवाददाता ने लिखा था: "उनकी शारीरिक आकृति ध्यानी बुद्ध के प्रशस्त प्राचीन मुखमण्डल से अत्याधिक आश्चर्यजनक रूप से मिलती-जुलती है।"

प्रसिद्ध उद्योगपति जमशेदजी टाटा ने 1893 ई॰ में स्वामी विवेकानन्द के साथ जहाज में जापान से अमेरिका की यात्रा की थी। उनसे सुनकर भगिनी निवेदिता ने कुमारी मैक्लाउड के नाम अपने 3 अक्टूबर, 1901 के पत्र में स्पष्ट लिखा है– "टाटा ने मुझे बताया था कि जब स्वामीजी जापान में थे तो बुद्ध के साथ उनका साम्य देखकर लोग उनसे तत्काल प्रभावित हो जाते थे।"

क्या यह मात्र भौतिक संयोग है या यह बाह्य साम्य अनिवार्यत: उनकी आन्तरिक स्थिति की अभिव्यक्ति है? स्वामीजी की जीवनी में लिखा है कि बाल्य काल में भी एक बार जब स्वामीजी ध्यान कर रहे थे, तो उनके सामने भगवान बुद्ध की आलोकमय आकृति प्रकट हुई। बुद्ध की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे एक क्षत्रिय के राजकीय साँचे में ढले हुए थे और स्वामीजी भी वैसे ही थे। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर दोनों ही अति-मानवीय थे। दोनों में ही सत्य तथा बोधातीत शान्ति के लिए अदम्य ललक थी। सत्य की उपलब्धि के बाद उन्होंने समाधि-सुख में रमण न करके मानवता की पीड़ा को दूर करने और उसे सुख-शान्ति प्रदान करने की भरपूर चेष्टा की।

हम पाते हैं कि बुद्ध के प्रति स्वामीजी का यह विचित्र आकर्षण उनमें आजीवन बना रहा। "उन्होंने स्वयं को बौद्ध धार्मिक वाङ्मय से संतृप्त कर लिया था। भगवान बुद्ध की उत्कृष्ट प्रज्ञा, उनके प्रख्यात् विवेक-समर्थित विचार, सत्य की दृढ़-एकनिष्ठ माँग, उनका तीव्र वैराग्य तथा कारुणिक हृदय; उनका मधुर, गहन व आलोकमय जीवन, उनकी उदात्त नैतिकता, तत्त्वज्ञान और मानव-चरित्र के बीच सन्तुलन की प्रक्रिया–इन सबने स्वामीजी में प्रबल उत्साह का संचार किया था।" बुद्ध का जीवन और उनके रूप की स्मृति मानो उनमें सदैव बनी रहती थी। उनके बचपन की घटना की चर्चा हम कर चुके हैं। परवर्ती काल में श्रीरामकृष्ण जैसे अवतार गुरु का आश्रय पाने के बाद भी वे चुपके से निकलकर बोध-गया चले गए थे–उसी बोधिवृक्ष की छाया में ध्यान करने, जहाँ बुद्ध को परम-ज्ञान प्राप्त हुआ था। बोध-गया के प्रति उनका आकर्षण प्रबल था और वहाँ उन्हें अद्‌भुत अनुभूतियाँ हुई थीं।

अपने 'कर्मयोग' ग्रन्थ में स्वामीजी ने आदर्श कर्मयोगी के रूप में बुद्ध को उच्चतम सम्मान प्रदान किया है– "सर्वश्रेष्ठ दर्शन का प्रचार करते हुए भी इन महान् दार्शनिक के हृदय में क्षुद्रतम प्राणी के प्रति भी गहरी सहानुभूति थी और फिर भी उन्होंने अपने लिए कोई दावा नहीं किया। वास्तव में वे ही आदर्श कर्मयोगी हैं, पूर्णरूपेण हेतुशून्य होकर भी उन्होंने कर्म किया है; और मानव-जाति का इतिहास यह दिखाता है कि सारे संसार में उनके सदृश श्रेष्ठ महात्मा और कोई पैदा नहीं हुआ। उनके साथ अन्य किसी की तुलना नहीं हो सकती। हृदय तथा मस्तिष्क के पूर्ण सामंजस्य-भाव के वे सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं; आत्मशक्ति का जितना विकास उनमें हुआ, उतना और किसी में नहीं हुआ। संसार में वे सर्वप्रथम श्रेष्ठ सुधारक हैं।" कभी-कभी उन्होंने बुद्ध को अपना आदर्श भी बताया है। बुद्ध के प्रति स्वामीजी का यह महत् आकर्षण तथा उनके और स्वामीजी के जीवन की घनिष्ठ समानता को देखकर कोई भी चकित हो जाता है, मानो बुद्ध ने ही स्वामीजी के रूप में अपना दूसरा अवतार लिया हो। स्वामीजी सदैव अपने साथ बुद्ध की मूर्ति रखते थे, जिसे आज भी हम बेलूड़ मठ के उनके कमरे में देख पाते हैं।

दु:ख के सम्पर्क में आने के बाद बुद्ध ने संसार का त्याग किया था। स्वामीजी ने भी वही किया। पीड़ा के दंश ने उनके हृदय का इतना विस्तार किया कि समग्र मानवता को उन्होंने अपने आलिंगन में समेट लिया था। तरुणाई में ही उन्हें देखकर श्रीरामकृष्ण ने कहा था– "जिस दिन नरेन दु:ख और क्लेश के सम्पर्क में आएगा, उसके चरित्र का अभिमान पिघल कर असीम करुणा के भाव में बदल जाएगा। तब उसका प्रबल आत्म-विश्वास हारी हुई आत्माओं में विश्वास और श्रद्धा जगाएगा और प्रबल आत्म-संयम पर आधारित उनका उन्मुक्त आचरण दूसरों की आँखों में अहंकार से सच्ची मुक्ति के प्रकाश को चमका देगा।"

बोध-गया में बोधि-वृक्ष के नीचे बुद्ध को परम बोध की उपलब्धि हुई थी। स्वामीजी ने भी एक ऐसी ही घटना में अल्मोड़ा के निकट एक वट-वृक्ष के नीचे पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड विषयक एक महान समस्या का हल पाया था।

परम बोध की प्राप्ति के बाद भगवान बुद्ध वाराणसी आए थे और उन्होंने सर्वप्रथम सारनाथ में 'धर्मचक्र' का प्रवर्तन किया था। दूसरी ओर से देखें तो वाराणसी में ही स्वामीजी ने भी सर्वप्रथम अपनी प्रसिद्ध घोषणा की थी– "मैं जा रहा हूँ। मैं तब तक नहीं लौटूँगा, जब तक मैं समाज में बम की तरह फट न पड़ूँ और उसे कुत्ते की तरह अपने पीछे चलने के लिए बाध्य न कर सकूँ।" मानवता को अपना आशा-भरा सन्देश सुनाने के लिए वे भ्रमण करने लगे। अपनी अमेरिका यात्रा के कुछ ही काल पूर्व अपने गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द से कही गयी उनकी प्रसिद्ध उक्ति पर ध्यान दीजिये: (स्वामीजी ने रोते हुए कहा) "हरि भाई! मैं तुम्हारे तथाकथित धर्म को नहीं समझता, पर मेरा हृदय बहुत विशाल हो गया है। मैंने दूसरों के दु:ख का अनुभव करना सीख लिया है।" भावावेश से स्वामीजी का स्वर रुँध गया। वे मौन हो गए। उनके गालों पर अश्रु-प्रवाह हो रहा था। उक्त घटना का उल्लेख करते हुए स्वामी तुरीयानन्द कहते हैं: "जब मैंने वह करुण क्रन्दन सुना और स्वामीजी की वह राजसी उदासी देखी, तो तुम सोच सकते हो कि मुझ पर क्या गुजरी! मैंने सोचा–क्या ये ही बुद्ध के शब्द और भाव नहीं है? मुझे स्मरण हो आया कि जब विवेकानन्द बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे तब उन्हें बुद्ध भगवान का दर्शन हुआ था, जो उनके शरीर में प्रवेश कर गए थे। मैं स्पष्ट देख सका कि सारी मानवता का कष्ट उनके धड़कते दिल में समा गया है।

बुद्ध ने समस्त मानवता को अपनाया था। गणिका अम्बपाली और एक नाई भी उनकी कृपा से धन्य हो गए थे। इसी तरह स्वामीजी का हृदय भी पतितों और पद-दलितों के प्रति विचलित हुआ था। नर्तकी दुर्गा, खेतड़ी का मोची और अल्मोड़ा का दीन-हीन मुसलमान–सबने उनकी स्नेहांजलि पायी थी। उनके करुणाई-हृदय से ये मर्मभेदी वाक्य उच्चरित हुए थे।– "उसी को मैं महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए द्रवीभूत होता है, अन्यथा वह दुरात्मा है। ... जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस आदमी को विश्वासघातक समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परन्तु उन पर तनिक भी ध्यान नहीं देता। ... मेरी अभिलाषा है कि मैं बार-बार जन्म लूँ और हजारों दु:ख भोगता रहूँ, ताकि मैं उस एकमात्र सम्पूर्ण आत्माओं के समष्टिरूप ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है। सर्वोपरि सभी जातियों और वर्णों के पापी, तापी और दरिद्र रूपी ईश्वर ही मेरे विशेष उपास्य है।" अमेरिका में वे भ्रमवश प्राय: नीग्रो समझ लिए जाते थे, लेकिन उन्होंने कभी इसका प्रतिकार नहीं किया और न वे अपना परिचय ही देते थे। जब किसी ने पूछा कि दुर्व्यवहार से बचने के लिए वे क्यों नहीं अपना परिचय देते हैं, तो तत्काल उन्होंने तीखे स्वर में कहा, "क्या? दूसरों की कीमत पर बड़ा बनना।" एक नीग्रो ने उनके साथ इतना तादात्म्य अनुभव किया कि अमेरिका में उनकी सफलता को उसने अपनी ही सफलता के रूप में ग्रहण किया।

दर्शन के बौद्धिक ताने-बानों के सभी महाजालों को तोड़कर बुद्ध ने लोगों को व्यावहारिक नैतिक धर्म उपलब्ध कराने की चेष्टा की और स्वामीजी ने भी लोगों को व्यावहारिक वेदान्त का उपदेश दिया। उन्होंने खेत-कारखाने, दफ्तर, बाजार तथा आम जनता तक वेदान्त का वरदान पहुँचाया। उनकी इस उक्ति पर ध्यान दें– "अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों में नित्यप्रति के जीवन के लिए कविता का रस और जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करनी है; अत्यन्त उलझी हुई पौराणिक कथाओं में से साकार नीति के नियम निकालने हैं; और बुद्धि को भ्रम में डालनेवाली योगविद्या से अत्यन्त वैज्ञानिक और क्रियात्मक मनोविज्ञान का विकास करना है–और इन सबको एक ऐसे रूप में लाना पड़ेगा कि एक बच्चा भी इसे समझ सके। मेरे जीवन का यही कार्य है।"

'समवाय एव साधु:' अर्थात् समन्वय ही हितकर है और स्वर्णिम मध्यम मार्ग ही बुद्ध के उपदेशों का प्राण है। यही बात स्वामी विवेकानन्द में भी है। अपने गुरु श्रीरामकृष्णदेव के पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए उन्होंने एकता और समन्वय का उपदेश दिया। उन्होंने अपने महान् गुरुदेव के नाम से स्थापित संघ के प्रतीक चिन्ह में अपने आदर्श को सन्निविष्ट कर दिया। वे कहते हैं– "प्राचीन आचार्य नि:सन्देह अच्छे थे, परन्तु यह, अर्थात् योग, ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय–इस युग का नया धर्म है–आयु और लिंगभेद के बिना, पतित-से-पतित तक में ज्ञान और भक्ति का प्रचार।" और जो सेवा की भावना बुद्ध ने अपने संघ में प्रवर्तित की– 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'–वही स्वामीजी के संघ के क्रिया-कलापों को भी जीवन्त बनाती है। उनके द्वारा प्रवर्तित आदर्शद्वय हैं: **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**–अर्थात् अपनी मुक्ति तथा संसार के हित के लिए यह संघ नियोजित है।

बुद्ध की शिक्षाओं की प्रमुख विशेषता है सार्वभौमिकता और तर्कप्राणता अर्थात् विवेक-युक्ति का समर्थन। स्वामीजी की भी एक प्रसिद्ध उक्ति है–"सार्वजनीनता के भाव की रक्षा के लिए यदि आवश्यक हो, तो सब कुछ छोड़ना होगा।" और फिर उन्होंने कहा– "यह समन्वय सार्वभौमिक धर्म का अत्यन्त निकटतम आदर्श होगा। भगवान की इच्छा से यदि सब लोगों के मन में इस ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म का प्रत्येक भाव ही पूर्ण मात्रा में और साथ ही सम भाव से विद्यमान रहे, तो मेरे मत से मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श यही होगा। ... इस तरह चारों ओर समभाव से विकास लाभ करना ही मेरे कहे हुए धर्म का आदर्श है।"

बुद्ध ने घोषणा की थी कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही सत्य का परीक्षण तथा उद्यमपूर्वक अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। उन्होंने उन लोगों को मात्र विश्वास करने के लिए नहीं, बल्कि साधन-पथ पर चलकर स्वयं ही अनुभव करने की प्रेरणा दी। उनका आवाहन था–**एहि पश्य**–अर्थात् "आओ और स्वयं अनुभव करो।" स्वामीजी भी इस पर अथक भाव से जोर देते थे, "सच्ची शिक्षा का प्रथम लक्षण यह होना चाहिए कि वह कभी युक्ति-तर्क की विरोधी न हो।" "धर्म अनुभूति की वस्तु है–वह मुख की बात, मतवाद या युक्तिमूलक कल्पना मात्र नहीं है–चाहे वह कितना भी सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्मरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना–उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है–वह केवल सुनने या मान लेने की चीज नहीं है। पूरा मन-प्राण विश्वास की वस्तु के साथ एक हो जाएगा। यह धर्म है।" फिर उन्होंने बताया– "कोई भी योग युक्ति-तर्कों का परित्याग कर आँखों में कपड़ा बाँधकर ढूँढ़ते फिरना या अपने युक्ति-तर्कों को कुछ ऐरे-गैरे पुरिहतों के हाथ समर्पित करने को नहीं कहता। उनमें से कोई भी नहीं कहता कि तुमको किसी मनुष्य को श्रद्धा-भक्ति अर्पित करनी होगी। प्रत्येक ही यह कहता है कि तुम अपनी बुद्धि-शक्ति को दृढ़ भाव से पकड़कर उसी में लगे रहो।"

बड़े पैमाने पर अपने संघ में महिलाओं को संन्यास-जीवन अंगीकार करने का अधिकार देनेवाले सर्वप्रथम बुद्ध ही हैं। स्वामीजी के किसी भी अध्येता को भलीभाँति ज्ञात होगा कि वे नारियों के अधिकार के घोर समर्थक थे और उन्होंने पुरुषों के लिए मठ होने के पूर्व महिलाओं के लिए मठ शुरू करना चाहा था– "इसलिए मेरा पहला प्रयत्न स्त्रियों के मठ को स्थापित करने का है। इस मठ से गार्गी, मैत्रेयी और उनसे भी अधिक योग्यता रखनेवाली स्त्रियों की उत्पत्ति होगी।" विवेकानन्द के कुछ प्रमुख शिष्यों में महिलाएँ भी हैं, जिनमें भगिनी निवेदिता अति विशिष्ट थीं। निवेदिता लिखती हैं कि 'जनसाधारण और महिलाएँ-ये शब्द सदैव स्वामीजी के होठों पर रहते थे।

जातिगत विशेषाधिकार की श्रेष्ठता एवं महत्त्व के प्रचलित तंत्र को ध्वस्त करते हुए बुद्ध ने 'ब्राह्मण' को पुन: परिभाषित करने की भरपूर चेष्टा की। स्वामीजी भी रूढ़-जातिवाद और इनके विशोषाधिकारों के प्रबल विरोधी थे। बुद्ध की तरह उन्होंने भी सच्चे ब्राह्मण को इन शब्दों में परिभाषित किया–"आध्यात्मिक साधना-सम्पन्न ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं। इस ब्राह्मण-आदर्श से मेरा मतलब है? आदर्श ब्राह्मणत्व वही है, जिसमें सांसारिकता एकदम न हो और असली ज्ञान पूर्ण मात्रा में विद्यमान हो।" "भारत का ब्राह्मण ही मनुष्यत्व का चरम आदर्श है। ... इस ब्राह्मण का, इस ब्रह्मज्ञ पुरुष का, इस आदर्श और सिद्ध पुरुष का रहना परमावश्यक है, इसका लोप कदापि नहीं होना चाहिए।" बौद्ध संघ में जातिगत भेदभाव उसी प्रकार गल गए, जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ समुद्र में जाकर अपने पृथक् स्वरूप खो देती हैं। स्वामीजी के द्वारा स्थापित संघ में भी यही बात है।

तो क्या बुद्ध और विवेकानन्द में कोई भेद नहीं है? भेद अवश्य है, परन्तु वे अधिकतर बाह्य-औपचारिक और आकस्मिक है, आन्तरिक और मौलिक नहीं। ऐसे भेद उन दोनों के बीच समय और अन्तराल के कारण है। बुद्ध का आविर्भाव हुए 25 सौ वर्ष से भी अधिक काल बीत गया और इस बीच मानवता की अनेक समस्याओं का रूप बदल गया है, यद्यपि मानव को प्रकृति के बन्धनों में मुक्त करना–इस मौलिक समस्या का रूप आज भी यथावत् है। भाषा और शब्दावली परिवर्तित हो सकती है; रास्ते, ढंग और विवरणों में जहाँ-तहाँ कुछ अन्तर हो सकते हैं, परन्तु इन सभी विभिन्नताओं से बुद्ध का एक समानधर्मी व्यक्तित्व ही झाँकता है–समग्र पीड़ित मानवता के लिए करुणापूर्ण हृदय, जो उसे असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर मार्ग दिखाता है। बुद्ध यदि 19वीं सदी में हुए होते, तो सम्भवत: वे विवेकानन्द से भिन्न नहीं होते। तो क्या विवेकानन्द आधुनिक बुद्ध हैं? निश्चित रूप से हैं।

स्वयं भगवान बुद्ध की भविष्यवाणी के अनुसार उनके उपदेश और सिद्धान्त करीब पाँच सौ वर्षों तक शुद्ध रहे, तत्पश्चात् समय की प्रक्रियाओं से उनमें विकृति आ गयी। तब बारह सौ वर्षों बाद स्वयं भगवान बुद्ध मानों महान् शंकराचार्य के रूप में आए और सकारात्मक ढंग से अपना उपदेश देकर दार्शनिक अभाव की पूर्ति की और इस प्रकार राष्ट्र की समन्वयात्मक संस्कृति तथा उसके आध्यात्मिक मूल्यों को पुनर्जीवित किया। स्वामी विवेकानन्द आधुनिक बुद्ध हैं–शंकराचार्य के बारह सौ वर्षों बाद पुन: एक बार आए हुए बुद्ध हैं, जिनमें भगवान बुद्ध की उदार विशाल-हृदयता और आचार्य शंकर की बौद्धिक-प्रखरता एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के साथ ही 'कर्मयोग' तथा 'राजयोग' का उनका अपना अद्वितीय सन्देश भी है। इस प्रकार उनमें हृदय, मस्तिष्क और हाथों (भाव, विचार और कर्म) का अद्भुत समन्वय था–और ये सब उनके स्थितप्रज्ञ, आत्मसंयम के ध्यान-गर्भित सन्तुलन में एक हो गए। रोमाँ रोलाँ लिखते हैं– "सन्तुलन और समन्वय–इन दो शब्दों में विवेकानन्द की रचनात्मक प्रतिभा को सँजोया जा सकता है। उन्होंने आत्मा के सभी पथों, पूरी समग्रता के साथ चारों योगों को, त्याग और सेवा, कला और विज्ञान, धर्म और कर्म को, सर्वोच्च आध्यात्मिकता में सर्वोच्च व्यावहारिकता तक को ग्रहण किया। उनके सिखाए

प्रत्येक पथ की अपनी सीमाएँ थी, परन्तु वे उन सबसे गुजर चुके थे और सबको ग्रहण कर चुके थे। चार घोड़ेवाले रथ की तरह वे सत्य की चार लगामों को साधे, सबके साथ एकता की ओर अग्रसर थे। वे समस्त मानवीय ऊर्जा के समन्वय के मूर्तिमान आदर्श थे।"

बुद्ध का सन्देश पूरब की ओर गया और प्रकाशित हुआ। विवेकानन्द ने अपना सन्देश पश्चिम में ले जाकर इस कार्य को पूरा किया। उन्होंने घोषणा की– "जैसे बुद्ध का सन्देश पूरब के लिए था, ठीक वैसे ही मेरा सन्देश पश्चिम के लिए है।" यद्यपि उनकी अभिरुचियाँ विश्वव्यापी थी, तथापि उन्होंने न केवल बुद्ध और शंकर के सन्देशों का समन्वय किया, अपितु अपने गुरु श्रीरामकृष्ण देव के सार्वभौमिक ऐक्य के अद्‌भुत व्यावहारिक तथा सक्रिय दिव्य जीवन के प्रकाश में समग्र आध्यात्मिक भारत के सन्देश को सम्पूर्ण मानवता के लिए सार्वभौमिक सन्देश के रूप में ग्रथित व प्रस्तुत किया था, जिनका कहना था– "सभी धर्मपथ एक ही शाश्वत, अनन्त ईश्वरीय सत्य की ओर ले जाते हैं।"

□□□

एक महान् पश्चिम यात्रा और सर्वधर्म सम्मेलन

–रोमाँ रोलाँ

यह यात्रा वस्तुत: आश्चर्यजनक थी। युवा स्वामी एक अनजान पथ पर बेझिझक आँख मूँदकर चल पड़े थे। उन्होंने सिर्फ इतना ही सुना था कि अमरीका में किसी दिन, किसी स्थान पर सर्वधर्म सम्मेलन होने जा रहा है और उन्होंने वहाँ जाने का निश्चय किया। न उन्होंने, न ही भारतीय मित्रों, विद्यार्थियों, पंडितों, मंत्रियों और महाराजाओं ने इसके बारे में जानने का कष्ट उठाया। न उन्हें सही तारीख का पता, न उसमें सम्मिलित होने की शर्तों का। वे अपने साथ एक प्रमाणपत्र तक न ले गए थे। वे सीधे इस विश्वास के साथ चल दिए कि सही समय पर उनका वहाँ उपस्थित होना ही काफी था। खेतड़ी के राजा ने उन्हें जहाज का टिकट दे दिया था और बहुत मना करने पर भी उन्हें एक सुंदर अँगरखा दिलवा दिया था, जिसने अमरीकी ठलुओं को उनकी वाक्‌शक्ति से कम मुग्ध नहीं किया। पर उन्हें और उनके किसी हितैषी को वहाँ की जलवायु और रीति-रिवाज का तनिक भी ज्ञान न था। वे अपनी भव्य भारतीय पोशाक में जब तक कनाडा पहुँचे, तब तक ठंड के मारे जहाज में बर्फ की तरह जम गए थे।

उन्होंने 31 मई, 1893 को बंबई छोड़ा। श्रीलका, पेनांग, सिंगापुर, हांगकांग, फिर कैंटन होते हुए नागासाकी पहुँचे। यहाँ से वे भूमिमार्ग से योकोहामा, ओसाका देखते हुए क्योटो और टोकियो गए। सर्वत्र उनका ध्यान इन बातों की ओर खिंच गया था, जो उनकी इस कल्पना एवं मान्यताओं को पुष्ट करता था कि सुदूर पूर्व के सब धर्मों पर भारतीय प्रभाव है और वह एशिया की धार्मिक एकता का द्योतक है। साथ ही जिन बुराईयों से उनका देश त्रस्त था, उसका विचार उनके मन से नहीं निकला और जापान द्वारा की गई प्रगति ने उनके घावों को हरा कर दिया।

ये योकोहामा से वेंकूवर गए और वहाँ से रेल द्वारा जुलाई के मध्य में बदहवास हालत में शिकागों पहुँचे। सारे रास्ते में लुटेरों द्वारा छिन्न-भिन्न उनके पंख बिखरे थे, क्योंकि वे शिकार थे। उन्हें दूर से पहचाना जा सकता था।

पहले तो वह बच्चे की तरह आँखें फाड़े, मुँहबाए शिकागो की औद्योगिक विश्व प्रदर्शनी में चक्कर काटते रहे। हर वस्तु उन्हें आश्चर्य में डालनेवाली व विस्मयकारी थी। उन्होंने पाश्चात्य जगत् की शक्ति, समृद्धि और आविष्कार क्षमता की ऐसी कल्पना कभी न की थी। रवींद्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी की तुलना में जो यूरोपीय-अमेरिकी विशेष रूप से अमेरिका की विक्षिप्त गति और शोर-शराबे से त्रस्त थे, बलवान विवेकानंद शक्ति के प्रति अधिक आकर्षित थे। इसलिए कम-से-कम प्रारंभ में तो उन्हें यह सहज लगा। वे एक किशोर की भाँति उसके उत्तेजक नशे के प्रभाव में आ गए और उनके प्रशंसात्मक भाव की कोई सीमा न थी। बारह दिनों तक उनकी आँखें इस नई दुनिया को सराहती रहीं। शिकागों पहुँचने के कुछ दिन बाद उन्हें सूझा कि वे विश्व प्रदर्शनी के सूचना केंद्र से सर्वधर्म सम्मेलन की तारीख के बारे में पता करें। ... जब उन्हें मालूम हुआ कि वह सितंबर के प्रथम सप्ताह से पहले न होगा और प्रतिनिधियों के पंजीकरण की तारीख निकल चुकी है और बिना औपाचरिक परिचय के यह न हो सकेगा, तब उन्हें एक आघात लगा। उनके पास कोई परिचय-पत्र न था। वे अजनबी थे। किसी मान्यता प्राप्त दल ने उन्हें परिचय-पत्र नहीं दिया था। उनकी जेब खाली थी। सम्मेलन के उद्‌घाटन तक उनका गुजारा चलना कठिन था ... वे घबरा उठे। उन्होंने अपने मद्रास के मित्रों को तार दिया और एक मान्य धार्मिक संस्था को आवेदन-पत्र भेजा कि वह अनुदान दें, पर मान्य संस्थाएँ स्वाधीनता सहन नहीं करतीं। संस्था के प्रमुख ने उत्तर दिया–"शैतान को ठंड खाकर मरने दो।" शैतान न तो मरा, न ही उसने हिम्मत हारी। उसने अपने को भाग्य के हवाले कर दिया। बचे-खुचे डॉलरों को बेकार रखने के बजाय उसने उन्हें भी बोस्टन जाने में खर्च

कर दिया। भाग्य भी उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता खुद करना चाहते हैं। विवेकानंद कहीं भी अलक्षित नहीं रहे। अनजान होते हुए भी उन्होंने लोगों को आकर्षित किया। बोस्टन की रेलगाड़ी में मैसाचुसेट की एक धनी सहयात्री महिला उनकी बातचीत से प्रभावित हुई, उसने उनसे प्रश्न पूछे। उसे उनमें दिलचस्पी हुई। उसने उन्हें अपने घर आमंत्रित किया और ग्रीक सभ्यता के विद्वान्, हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे॰एच॰ राइट से उनका परिचय कराया। राइट इस हिंदू युवा की प्रतिभा से अभिभूत हो उसकी सेवा के लिए तत्पर हुए। उनका आग्रह था कि विवेकानन्द सर्वधर्म सम्मेलन में हिंदू धर्म का प्रतिनिधित्व करें और उन्होंने इस आशय का एक पत्र सम्मेलन के अध्यक्ष को लिखा। उन्होंने इस कंगाल तीर्थयात्री के लिए शिकागों का टिकट कटा दिया और सम्मेलन की समिति को विवेकानन्द के रहने की व्यवस्था करने के लिए लिखा। संक्षेप में उनकी सारी कठिनाइयों दूर हो गई।

विवेकानन्द शिकागो लौट आए। ट्रेन देर से पहुँची। समिति का पता खोकर वह हैरान युवक नहीं जानता था कि कहाँ जाए।

काले मनुष्य को कौन राह दिखाता। उसने स्टेशन के कोने में एक खाली बक्सा पड़ा देखा और वह उसी में सो गया। अगले दिन वह रास्ता खोजने निकला। संन्यासी की तरह दर-दर भिक्षा माँगी, पर वह ऐसे नगर में था, जहाँ एक व्यक्ति, जो संत फ्रांसिस की तरह भगवान् भरोसे भटकना जानता था, लोग पैसा कमाने के हजारों तरीके जानते थे। कई घरों से उन्हें अपमानित होकर लौटना पड़ा, कई स्थानों पर नौकरों ने उन्हें झिड़का। कइयों के दरवाजे ही बंद कर दिए। काफी देर भटकने के बाद हारा-थका वह तरुण संन्यासी एक गली में बैठ गया। ऊपर से खिड़की से किसी ने देखा और पूछा कि वह सर्वधर्म सम्मेलन का प्रतिनिधि तो नहीं है। उन्हें अंदर बुलाया गया और भाग्य ने उन्हें एक ऐसा अनुयायी दिया, जो उनके अमरीकी शिष्यों में सबसे निष्ठावान सिद्ध हुआ। विश्राम के बाद उन्हें सम्मेलन में ले जाया गया। वहाँ उन्हें सहर्ष प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया गया और उन्हें अन्य प्राच्य प्रतिनिधियों के साथ ठहरा दिया गया।

उनकी साहसिक यात्रा का दु:खमय अंत होते-होते बचा। उन्हें कुछ राहत मिली, किंतु आराम नहीं। दुर्भाग्य अपना पूरा खेल दिखा चुका था; अब कर्म और दृढ़ संकल्प का समय आ गया था। कल का अजनबी भिखारी, जिसके काले रंग के कारण संसार की दर्जनों जातियों के रक्त से बनी भीड़ उससे घृणा कर रही थी, आज वह प्रथम दृष्टि में अपनी सर्वोच्चतम प्रतिभा की धाक जमाना चाहता था।

सोमवार, 11 सितंबर, 1893 को सम्मेलन का पहला सत्र आरंभ हुआ। बीच में कार्डिनल गिबंस बैठे थे। उनके दाएँ-बाएँ प्राच्य प्रतिनिधि, ब्रह्म समाज के प्रमुख और विवेकानन्द के पुराने मित्र प्रतापचंद मजूमदार, ईश्वरवादियों के साथ बंबई के नागरकर, श्रीलंका के बौद्ध प्रतिनिधि धर्मपाल, जैन धर्मी गांधी और ऐनी बेसेंट की थियोसोफिकल सोसाइटी के चक्रवर्ती थे। इन सबके बीच एक युवक बैठा था, जो किसी का प्रतिनिधि नहीं था, किन्तु एक दृष्टि से जो सबका था, वह किसी संप्रदाय का न था। संपूर्ण भारत का था, जिसने हजारों दर्शकों को आकर्षित किया। उसका मनोहारी चेहरा, कुलीन चाल-ढाल और भव्य वेश के रहस्यमय जगत् से अवतरित इस दिव्य व्यक्ति के प्रभाव को और अधिक बढ़ा दिया था तथा उसने अपने भावों को छिपा दिया था। उसने इसे छिपाया नहीं। उसे पहली बार इस प्रकार की सभा को संबोधित करना था। एक के बाद एक प्रतिनिधि का परिचय कराया गया। वे अपनी बारी पर संक्षिप्त वक्तृता देते। विवेकानंद की बारी घंटों बाद, अंत में आई।

पर जब वे बोले तो उनकी वाणी एक ज्वलंत मशाल की तरह थी। शुष्क निबंध पाठों के बाद इसने श्रोताओं को झकझोरकर रख दिया। 'अमरीका के बहनो और भाइयो' मुश्किल से वे ये सरल प्रारंभिक शब्द कह पाए थे कि सैकड़ों लोग अपने स्थानों पर खड़े होकर करतल ध्वनि करने लगे। उन्हें आश्चर्य हुआ, क्या वे वास्तव में उनका अभिनंदन कर रहे हैं? वे सचमुच पहले व्यक्ति थे, जिसने सम्मेलन की औपचारिकता तोड़ फेंकी और जनता से उनकी भाषा में बात की, जिसकी वह प्रतीक्षा कर रही थी। फिर मौन छा गया। उन्होंने धर्मों में सबसे पुरातन वैदिक संन्यासी धर्म की ओर से राष्ट्रों में तरुणतम राष्ट्र का अभिनंदन किया। उन्होंने हिन्दू धर्म को सब धर्मों की जननी के रूप में प्रस्तुत किया, जिसकी शिक्षा थी, "एक-दूसरे को समझो और स्वीकार करे।" उन्होंने पवित्र धर्म ग्रंथों से उदाहरण दिया:

"किसी भी रूप में जो मेरे पास आएगा, उसको मिलूँगा। सब मनुष्य विभिन्न मार्गों से मुझ तक पहुँचने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, सब अंत में मेरे ही पास पहुँचेंगे।"

अन्य सभी वक्ताओं ने अपने ईश्वर और अपने ही संप्रदाय की बात की थी। सिर्फ वे ही अकेल थे, जिन्होंने उन सबके ईश्वर की चर्चा की और उन सबको एक सार्वभौम सत्ता में आबद्ध कर दिया। यह रामकृष्ण की वाणी थी, जो उनके महान् शिष्य के मुँह से नि:सृत हो समस्त बाधाएँ तोड़ रही थी। सर्वधर्म सम्मेलन ने युवक वक्ता की जय-जयकार की।

अगले दिन में वे दस-बारह बार बोले। प्रत्येक बार नई युक्तियों और उसी विश्वास से उन्होंने सार्वभौम धर्म के जाति,

देश कालातीत सिद्धांत का निरुपण किया, जो अंधविश्वासी आदिवासियों की जड़ वस्तुओं की पूजा से लेकर आधुनिक विज्ञान की सृजनात्मक उपलब्धियों को संपूर्ण मानवीय आत्मा के साथ जोड़ता है। उन्होंने इनका भव्य समन्वय किया, जिसने किसी एक भी आशादीप को न बुझाकर, समस्त आशाओं को अपने सहज स्वभाव के अनुरूप बढ़ने का अवसर दिया।

मनुष्य में अंतर्निहित दिव्यता और उसके विकसित होने की अपार क्षमता के अतिरिक्त अन्य कोई सिद्धांत न था।

इस प्रकार का धर्म हो तो समस्त राष्ट्र तुम्हारा अनुसरण करेगा। अशोक की परिषद् बौद्ध धर्म की परिषद् थी। अकबर की दीन-ए-इलाही उद्देश्यपूर्ण होते हुए भी कुलीन गोष्ठी थी। अमरीका के लिए यह सौभाग्य सुरक्षित था कि वह समस्त विश्व को, सब धर्मों में ईश्वर की एकता का संदेश दे।

"हिन्दुओं का ब्रह्म, जोरस्तरों का अहुरमजदा, बौद्धों के बुद्ध, ईसाइयों के स्वर्गवासी पिता आपको शक्ति दें ...। ईसाई को हिंदू या बौद्ध तथा हिंदू या बौद्ध को ईसाई बनने की कोई आवश्यकता नहीं। प्रत्येक को दूसरों की भावना आत्मसात् करनी है और अपनी विशिष्टता को अक्षुण्ण रखते हुए अपने नियमों के अनुसार विकास करना है। सर्वधर्म सम्मेलन ने सिद्ध कर दिया है कि धार्मिकता, पवित्रता और उदारता किसी एक पंथ का विशेषाधिकार नहीं है और प्रत्येक व्यवस्था ने श्रेष्ठ चरित्र के महान् नर-नारी उत्पन्न किए हैं। प्रतिरोध के बावजूद अब प्रत्येक-धर्म पताका पर अंकित होगा, 'सहायता दो, लड़ो नहीं', 'विनाश नहीं सम्मिलन,' 'विग्रह नहीं, मैत्री और शांति'।

इन ओजस्वी शब्दों का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। सम्मेलन के अधिकृत प्रतिनिधियों को छोड़कर ये शब्द सर्वसाधारण को संबोधित किए गए थे और बाह्य जगत् उनसे आकृष्ट हुआ। विवेकानन्द की ख्याति देश-देशांतर में फैली और उससे भारत का भला हुआ। अमेरिकी समाचार-पत्र ने उन्हें सर्वधर्म सम्मेलन में महानतम् व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया। "उन्हें सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि भारत जैसे ज्ञानी राष्ट्र को मिशनरी भेजना कितनी मूर्खता है।"

यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि उक्त स्वीकारोक्ति ईसाई मिशनरियों के कानों को नहीं सुहाई और विवेकानन्द की सफलता ने उनमें कटु विद्वेष जगा दिया, जिसके कारण वे अत्यंत घृणित लांछनों का सहारा लेने से भी न चूके। उन्होंने देखा कि किस प्रकार वे उपाधिहीन स्वतंत्र 'यायावर संन्यासी' के सामने निस्तेज हो गए, उन हिन्दू प्रतिनिधियों की ईर्ष्या भी कम नहीं थी। थियोसोफी मत को विवेकानंद ने नहीं बख्शा था, उसने भी उन्हें कभी क्षमा नहीं किया।

उषाकालीन ख्याति की प्रथम वेला में उगते सूर्य के प्रकाश आलोक ने धूमिल परछाइयों को लुप्त कर दिया। विवेकानन्द युगपुरुष बन गए।

उन्हें अपनी यह जीत कैसी लगी? वे रोए। यायावर संन्यासी ने देखा कि ईश्वर के सान्निध्य में उसका एकांत जीवन अब समाप्ति पर है। क्या कोई ऐसी सच्ची धार्मिक आत्मा है, जिसे उनके क्षोभ से सहानुभूति न हो? स्वयं उन्होंने यही चाहा था या उस अज्ञात शक्ति ने, जो उसके लक्ष्य को निर्धारित कर रही थी, उन्हें यह जानने के लिए बाध्य किया था, किन्तु अंतरात्मा की एक और आवाज भी थी, जो उनसे कहती, "त्यागो! ईश्वर में रमो।" वे एक को संतुष्ट किए बिना दूसरे को संतुष्ट न कर सकते थे।

अतएव इस तूफानी प्रतिभा को समय-समय पर जिस संकट और पीड़ा से गुजरना होता था, जो प्रत्यक्षत: परस्पर विरोधी तथा तर्कसंगत थी, उसे एक लीक पर, एक विचार को लेकर चलनेवाले नहीं समझ सकते। वे अपनी वैचारिक दीनता को भी अनिवार्य गण मान लेते हैं और उन अति समृद्ध बलवान आत्माओं को, जो आत्मिक शांति के लिए करुणा संघर्ष कर रही हैं, भ्रांति या प्रवंचना का दोषी ठहराते हैं। इस प्रकार की दुर्भावनापूर्ण प्रवंचनाओं ने विवेकानंद को छोड़ा नहीं और उनके स्वाभिमान ने इसके लिए उन्हें कैफियत नहीं देने दी।

इस समय की उलझनें मात्र मानसिक न थीं। वे स्वयं तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थीं। सफलता के बाद, पहले की भाँति उनका कार्य कहीं अधिक कठिन था। उस समय वह गरीबी से पराजित हुए थे, आज उन पर अमीरी के हावी होने का खतरा था। अमेरिका की दंभपूर्ण शानो-शौकत ने उन्हें आक्रांत किया और उसके पहले दौर में ऐसा लगा कि विलासिता और आडंबर उनका दम घोंट देंगे। धन की अधिकता से वे शरीर से प्राय: रुग्ण हो गए। रात को शयनकक्ष में लेटे हुए यह ध्यान आने पर कि उनके देशवासी भूख से मर रहे है, वे निराश हो भूमि पर लोटने लगते और करुण क्रंदन करते। वे कराहते, "हे माँ, मैं इस प्रसिद्धि का क्या करूँ, जब मेरे देशवासी गरीबी और कष्टों में पड़े हैं।"

अपने अभागे भारत की सेवा करने और अपने को धनिकों के संरक्षण से मुक्त करने के लिए उन्होंने एक भाषण समिति का यह प्रस्ताव मान लिया कि वे अमेरिका का दौरा करें। पूर्व और मध्य-पश्चिम, शिकागो, इयोवा, दे मानिस, मिनेपोलिस, डेट्रायट, बोस्टन, कैंब्रिज, बाल्टीमोर, वाशिंगटन और न्यूयॉर्क आदि स्थानों पर भाषण दें। यह विधि जोखिम भरी सिद्ध हुई। यह समझना भूल थी कि विवेकानन्द अन्य वक्ताओं की भाँति प्रशंसा और डॉलर कमाने के लिए अमेरिकी श्रोताओं के सामने धूपदीप जलाकर उन्हें रिझाऐंगे।

तरुण गणतंत्र की अपार शक्ति के प्रति उनका प्रथम आकर्षण और प्रशंसा भाव मुरझा गया था। उसकी क्रूरता, अमानुषिकता, लघुता, संकीर्ण मदांधता, असीम अज्ञान के प्रति उनके मन में अचानक घृणा जाग उठी कि मानव जाति में अपने को आदर्श समझनेवाला यह राष्ट्र दूसरों के विचारों और विश्वासों का आदर करने में असमर्थ है और अपने को ही सदा सही समझता है। उनका धैर्य चुक गया। उन्होंने कुछ नहीं छिपाया। वे पाश्चात्य सभ्यता की बुराइयों और अपराधों, हिंसा, लूटपाट और विनाश की निंदा करने लगे। एक बार उन्हें बोस्टन में अपने विशेष प्रिय धार्मिक विषय रामकृष्ण पर बोलना था, पर वहाँ के कृत्रिम, क्रूर, संसारी श्रोतावर्ग को देखकर उन्हें इतनी वितृष्णा हुई कि उन्होंने उनको अपनी आत्मा का रहस्य बताने से इनकार कर दिया और अचानक उस सभ्यता पर टूट पड़े, जिसने ऐसे गीदड़ों और भेड़ियों को जन्म दिया था। भंयकर बदनामी हुई। सैकड़ों श्रोता सभा भवन छोड़कर चल दिए और समाचार-पत्र खूब बिगड़े।

वह झूठी ईसाइयत और धार्मिक पाखंड से विशेषकर क्रुद्ध थे। "आप कितनी ही डींग हाँकें, क्या बिना तलवार के कहीं आपकी ईसाइयत सफल हुई? आपका धर्म विलासिता का लोभ दिखाकर प्रसारित किया जाता है। इस देश में मैंने पाखंड ही देखा-सुना है। यह सब अय्याशी ईसा के नाम पर। जो ईसा की शरण का ढोंग करते हैं, वे सिर्फ पैसा बटोरते हैं। ईसा को यहाँ एक ऐसा पत्थर भी न मिलेगा, जिसका तकिया बना वह लेट सके ... तुम ईसाई नहीं हो। ईसा की शरण में लौटो।"

इस तिरस्कारपूर्ण वक्तव्य के विरोध में क्रोध का विस्फोट हुआ। इसी क्षण से पादरियों की एक टोली उनके पीछे पड़ गई। वे जहाँ जाते, उनके पीछे पहुँचकर वे उनके विरुद्ध अपशब्दों की बौछार करते, आक्षेप लगाते, यहाँ तक कि अमेरिका और भारत में उनके आचार के विरुद्ध कलंकपूर्ण मनगढ़ंत किस्से प्रचारित करते। कुछ प्रतिद्वंद्वी हिन्दू संगठनों के प्रतिनिधियों के कारनामे कम शर्मनाक न थे। वे विवेकानन्द की ख्याति से चिढ़े हुए थे और उन्हें द्वेषी पादरियों ने ईर्ष्यालु हिन्दुओं के आरोपों का उपयोग किया और भारत में इस संन्यासी ही हास्यास्पद रीति से निंदा की कि वह अमरीका में कट्टर हिन्दू धर्म द्वारा निर्धारित नियमों का पालन नहीं कर रहे हैं। विवेकानन्द ने लहरों पर तैरती इस कुत्सित कीच को तिरस्कारपूर्वक देखा, जो भारत से उनके शिष्यों और भक्तों के पत्रों के माध्यम से उनके पास पहुँच रही थी। उन्होंने क्रोध से उसे उन्हीं पर दे मारा, जिन्होंने उसे उन पर फेंका था।

कृपानंद नामक एक अमेरिकी शिष्य ल्योन लेंड्रसबर्ग ने उस समय अमेरिका में विवेकानन्द के मानसिक क्लेश को इस प्रकार चित्रित किया–

"छद्म-धार्मिक विकृतियों का अड्डा, असामान्य, रहस्यपूर्ण और असाधारण के लिए पगलाया हुआ देश, जिसके फलस्वरूप मूर्खतापूर्ण सहज विश्वास वहाँ सैकड़ों सभा-सोसाइटियों को भूत-प्रेत, महात्माओं और कपटी पैगंबरों को पालता है। सब रंगों के अजनबियों का यह आश्रय-स्थल विवेकानंद के लिए असह्य था। उन्होंने आरंभ में ही वहाँ का कूड़ा-कचरा साफ करने की ठानी।"

उन्होंने अपने प्रारंभिक भाषणों में भीड़ लगाने वाले उल्लुओं, मसखरों और स्वार्थी बगुलों पर शैतान की फटकार लगाई। तुरंत उनके पास फालतू लोगों, धूर्तों और धार्मिक प्रपंचियों से धमकी भरे या प्रशंसापूर्ण पत्र आने लगे, जिसमें सहयोग का प्रस्ताव लिखा जाता था। उनका विवेकानन्द जैसे व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा, यह सहज ही समझा जा सकता है। उन्होंने किसी भी संप्रदाय का विरोध करने के लिए दूसरे से गठबंधन करना अस्वीकार किया। अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करने के इच्छुक सभी गठबंधनों के विरुद्ध वे खुलेआम उनके सामने आए।

फिर भी अमेरिका को यह श्रेय और सम्मान देना पड़ेगा कि विवेकानन्द की नैतिक स्वाधीनता, तेजस्वी आदर्शवाद, निर्भय निष्ठा के चारों ओर उनके समर्थकों और प्रशंसकों की एक टोली खड़ी कर दी। इन्हीं में से उनके प्रथम पाश्चात्य शिष्य बने, जो मानवीय पुनरुत्थान के कार्य में उनके सक्रिय सहयोगी सिद्ध हुए।

□□□

विवेकानन्द-एक अद्‌भुत जीवन

-लक्ष्मीनिवास झुंझुनवाला

स्वामी विवेकानन्द ने ईसाई पादरियों के हिंदू-धर्म के विरुद्ध किए प्रचार को, उनके व्यक्तिगत चरित्र पर झूठे लांछन लगाकर प्रचार का हृदय-विदारक वर्णन किया है। गाँधीजी ने और भी विस्तृत वर्णन हिन्दू-धर्म के विरुद्ध प्रचार का किया है।

भीषण अकाल पड़ा हुआ है। लोग भूख से तड़प रहे हैं। क्रिश्चियन पादरियों से सहायता माँगी तो उन्होंने सहायता की पहली शर्त धर्मांतरण की रखी। मैकाले का उद्देश्य भारत में राजनैतिक शासन तक सीमित नहीं था। उसका उद्देश्य भारतीयों की हिंदू-धर्म से रक्षा। अंग्रेजों ने पार्लियामेंट में जोर से कहा–यदि हम नहीं होते तो लोग धर्म के नाम पर पति की मृत्यु पर स्त्री को पति के साथ आग में जलने के लिए बाध्य करते–बच्चों को मगरमच्छ के मुँह में फेंक देते। बड़े गर्व से मैकाले ने कहा था कि तीस साल में कोई भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हिंदू नहीं रहेगा–सब ईसाई हो जाएँगे। हमें कुछ प्रयास नहीं करना पड़ेगा। अकाल पड़ा तो ईसाई पादरियों ने कहा–ईश्वर ने हमें यह स्वर्ण अवसर दिया है, इनकी सहायता करने के पहले इन्हें ईसाई बना लो। सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने कहा, 'ईसाई धर्म सारे संसार में फैल जाएगा, पृथ्वी स्वर्ग बन जाएगी, युद्ध हमेशा के लिए समाप्त हो जाएँगें, सैनिक खर्च बंद हो जाएगा।' सर रिचर्ड टेंपल ने लंदन में अप्रैल 83 में कहा, 'बंगाल में लेफ्टिनेंट गवर्नर था–मैंने श्रीरामपुर कॉलेज का प्रचार देखा है, किस प्रकार वे हिंदुओं को अपनी कुप्रथाएँ छोड़ने के लिए उत्साहित कर रहे हैं।' विल्बरफोर्स ने 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में अपने भाषण में कहा–भारतीय नीच, दुश्चरित्र व निर्दय-प्रकृति के लोग हैं-झूठे व चोर हैं। वे कमजोर प्रकृति के हैं। मुसलमान शासकों ने हिंदुओं का धर्मांतरण किया, पर हिंदुओं ने विरोध नहीं किया। हमारे पादरी भी सैकड़ों वर्षों से ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्यों के बाहर भी धर्मांतरण कर रहे हैं, पर ये इतने नपुंसक हैं कि **इन्हें क्रोध आता ही नहीं है।**

इस पृष्ठभूमि में विवेकानन्द ने उल्लेख किया कि आदरणीय डब्ल्यू॰ डब्ल्यू॰ होलड्सबर्थ ने कहा कि अकाल पीड़ित लोगों की किसी प्रकार की सहायता करने से पहले उनका धर्मांतरण करवा लेना अनुचित नहीं है। एक महिला पादरी भगवान् को धन्यवाद देती है कि अकाल ने उनको आध्यात्मिक फसल काटने का सुअवसर दिया है। अकाल पड़ने पर ईसाई पादरियों के चेहरे पर एक तरह की दानवीय मुसकराहट फूट पड़ती है। वे कहते थे 'अकाल ईसाई-जगत् के लिए भगवत्कृपा है ताकि असभ्य भारतीयों को ईसाई बनाया जा सके। गाँव-के-गाँव ईसाई-धर्म स्वीकार कर रहे हैं।' इस पृष्ठभूमि में विवेकानन्द ने अमेरिका में ही कहा, "ये अंग्रेज कल तक तो जंगली थे अभी भी उनका जंगलीपन पूरा गया नहीं है। वहाँ की भंयकर सर्दी ने उन्हें जंगली बना दिया है, वे केवल हत्याएँ करना ही जानते हैं–उनकी भूख ने उन्हें थोड़ा सभ्य बनाया है ... उनके भगवान् ने ही .... भाइयों का गला काटते हैं ... उनके हाथ रक्त से रँगे हैं ... भगवान् अवश्य उनको दंड देंगे। उन्होंने अपने सुख भोग के लिए हमारे खून की अन्तिम बूँद भी चूस ली है। हमारी अरबों की संपत्ति लूट ले गए हैं। उस समय मेरे देशवासी गाँवों व शहरों में भूख से तड़प-तड़पकर मर रहे थे। ... मैंने अंग्रेजों की पार्लियमेंट, उनकी सीनेट, उनका वोट, उनके बहुमत देखे हैं। प्रत्येक देश में कुछ शक्तिशाली लोग समाज को अपने हिसाब से ले जाते हैं, बाकी लोग भेड़ की तरह उनका अनुसरण करते हैं। जिनके पास धन है, वे शासकों को अपनी मुट्ठी में रखते हैं, लोगों को लूटते हैं, सिपाहियों का युद्ध-क्षेत्र में कत्ल करवा देते हैं तथा विजय प्राप्त कर पराजित जाति से लूटे हुए धन से अपनी तिजोरियाँ भर लेते हैं। पाश्चात्य देशों पर कुछ शाइलोकों का राज्य है। विधान, स्वाधीनता, पार्लियामेंट यह सब अद्‌भुत मजाक है।"

विवेकानन्द बोलते जाते थे– "तुम ईसाई नही हो। तुम

ईसाई हो ही नहीं सकते। जाओ, ईसा के पास लौट जाओ, जिसको इस सारी पृथ्वी पर सिर ढकने के लिए भी स्थान नहीं था। पक्षी का भी घोंसला होता है, पशुओं का भी रहने का स्थान होता है; किंतु इस मानव-पुत्र के लिए कोई रहने का स्थान नहीं। तुम्हारा धर्म विलासिता में डूबा है, भाग्य की क्या विडंबना है। अपने ये तौर-तरीके छोड़ दो, यदि बचना चाहते हों तो उसके पास जाओ। ईश्वर व कुबेर की उपासना एक साथ नहीं हो सकती। कुबेर से जो मिलेगा, वह क्षणभंगुर होगा; प्रभु के साथ रहने में ही यथार्थ गौरव है। ... फटे कपड़े भी अच्छे हैं, यदि ईसा साथ हो; महल भी अध:पतन करते हैं, यदि ईसा साथ न हो। ... मैं तुम्हारी निर्दय आलोचना करना नहीं चाहता। फिर भी एक बात अवश्य कहूँगा, तुम एक ईसाई को शिक्षा देकर, ठोक-पीटकर, सुंदर कपड़ों से सजाकर, मासिक वेतन देकर मेरे देश भेजते हो। वह मेरे देश में आकर, मेरे पूर्वजों की, मेरे धर्म की आलोचना करता है। ...

"मंदिर के पास खड़े होकर बोलता है, 'तुम लोग निर्जीव मूर्तियों की पूजा करते हो, तुम लोग नरक में जाओगे।...' यदि कोई बदले में एक आलोचनात्मक वाक्य का भी उच्चारण करता है तो तुम चिल्ला उठते हो–हमें छुओ मत, हम अमेरिकन हैं। पर मैं तुम्हारे पादरियों से कहता हूँ कि यह मत भूलना कि यदि सारे भारतवासी हिंद महासागर से कीचड़ उठाकर पश्चिमी देशों पर फेंक दें तो तुम हमारे विरुद्ध जो कर रहे हो, उसके लक्षांश से भी कम होगा। तुम्हारा देश सारी सीमाएँ तोड़ रहा है। किन्तु क्या बता सकते हो कि शस्त्रों की सहायता के बिना ईसाई-धर्म कहीं सफल हुआ है। सारी पृथ्वी पर ऐसा एक स्थान तो दिखाओ; मैं दो की तो बात ही नहीं करता ... जब रोम जल रहा था तो नीरो निश्चिंत बाँसुरी बजा रहा था। ... भारतवर्ष ने इस जगत् को क्या नहीं दिया–विज्ञान, दर्शन, संगीत, साहित्य–सब तो खुले हाथ से दिया ... बदले में क्या मिला। उसे मिला प्लासी की भूमि का श्मशान में परिवर्तन ... धिक्कार, अभिशाप व घृणा। ... पर भारत भयभीत नहीं है। अन्य किसी जाति का कृपाभिलाषी नहीं है। हमारी एकमात्र कमजोरी है कि हम विजय के लिए युद्ध नहीं करते। भारत का विश्वास है कि सत्य, धैर्य, माधुर्य की ही अंतिम विजय होती है। ... कहाँ गया रोम, जिसके पाँवों के तले पृथ्वी डगमग करने लगती थी, कहाँ गए अरब, कहाँ गए निर्दयी स्पेन के सिपाही, जिन्होंने लाखों निरपराध लोगों की हत्या की। पर सत्य की विजय होती है– 'पृथ्वी एक दिन सत्य का विजयोत्सव मनाएगी।"

ऐसी बातें सुन अमेरिकावासी उनके घोर शत्रु हो जाने चाहिए थे, पर इतनी आध्यात्मिक उपलब्धि थी इस महामानव की कि अमेरिका के समृद्ध परिवारों ने उसे पुत्रवत् स्नेह दियां अमेरिकन वृद्ध महिलाएँ उन्हें पुत्र मानती थीं। भारतवर्ष अद्‌भुत देश है। विश्व का प्राचीनतम साहित्य का सर्जक। महाभारत, रामायण जैसे साहित्य की रचना इस देश ने की। ऐसी कौन सी भाषा विश्व में है, जिसमें इनका अनुवाद न हुआ हो; सारा जगत् उनसे प्रेरणा लेता है। मूल संस्कृत में पढ़ने का आनंद लेने के लिए विदेशी इस देश में आते हैं, वर्षों वाराणसी रहकर संस्कृत सीखते हैं ताकि इन महाकाव्यों का आनंद ले सकें। अमेरिका के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में संस्कृत पढ़ाई जाती है, संस्कृत पर शोध होता है, यहाँ हम संस्कृत को भूल रहे हैं। श्री अरविंद आश्रम के आश्रमवासी विजय पोद्‌दार की लिखी एक पुस्तक देखी 'वंडर देट इज संस्कृत' और उससे ज्ञात हुआ कि संस्कृत कितनी साधन-संपन्न है। विवेकानंद ने जिस दिन महासमाधि ली, उस दिन प्रात:काल अपने गुरुभाइयों से कहा था कि तुम लोग संस्कृत व वेद की एक पाठशाला अवश्य खोलना।

ऐसी परिस्थितियों में यहाँ भगवान् ने रामकृष्ण परमहंस को भारत में 1836 ई॰ में भेजा-1886 ई॰ में उनकी महासमाधि हुई। 1881 ई॰ में विवेकानंद पहली बार उनसे मिले, पर उनसे प्रभावित नहीं हुए।

दूसरी बार जब उन्होंने स्पर्श कर उन्हें अनुभूति करवाई, तब वे सोचने पर बाध्य हुए कि यह व्यक्ति साधारण तो नहीं है।

पिता विश्वनाथ अत्यंत सफल वकील थे। बहुत पैसा वकालत से उपार्जन करते थे। इतनी ख्याति थी कि एक बार मुकदमा ले लें तो लोग विजय निश्चित मानते थे। माँ भुवनेश्वरी दु:खी थीं कि पुत्र प्राप्त नहीं हो रहा है। वाराणसी में अपनी एक सखी को लिखा कि रोज बाबा विश्वनाथ के मंदिर पर मेरे नाम से जल अर्पण करो। माँ को दृढ़ विश्वास था कि विश्वनाथ की कृपा से ही उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ है। पैसों की कमी नहीं थी। विवेकानन्द पर खूब खर्च करते थे–घर पर चिड़ियाखाना, घोड़ागाड़ी–घर पर ही शिक्षक रखकर उसे पढ़ाते थे। स्कॉटिश चर्च कॉलेज से बी॰ए॰ की परीक्षा पास की। पढ़ने का अत्यंत शौक था। उस समय राम साम्राज्य का उत्थान और पतन तथा हीगल, हयूम और स्पिनोजा का सारा साहित्य पढ़ डाला–अध्यात्म में रुचि थी–यह प्रश्न मित्रों से करते थे कि किसी ने भगवान् को देखा है क्या? ऐसा व्यक्ति मुझे नहीं मिल रहा है।

इस पृष्ठभूमि में कॉलेज में एक बार प्रोफेसर हेस्टी वड्‌र्सवर्थ की कविता Excursion पढ़ा रहे थे, जिसमें ट्रांस (भाव-समाधि) का उल्लेख था। जिज्ञासु विवेकानन्द ने प्रश्न किया, 'महाशय! क्या ऐसे किसी व्यक्ति को आप जानते हैं, जिसे भावसमाधि का व्यक्तिगत अनुभव है?' हेस्टी ने उत्तर दिया, 'हाँ! दक्षिणेश्वर मन्दिर में एक पुजारी रामकृष्ण है जिसे भाव-समाधि लगती है। तुम चाहो तो जाकर देख सकते हों।' यहाँ तक तो सब लोग जानते

हैं, पर दूसरी बात बहुत कम लोग जानते हैं। हेस्टी हिन्दू धर्म के घोर विरोधी थे। स्टेट्‌समैन पत्रिका में 1882 वर्ष के सितम्बर-अक्टूबर माह में हेस्टी-बंकिम का कटु पत्र-व्यवहार छपा है। शोभा बाजार, राजबाड़ी में एक वृद्ध महिला के आडंबरपूर्ण श्राद्ध का विवरण छपा था। इस श्राद्ध उत्सव में अंग्रेजी शिक्षित अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। डॉक्टर राजेंद्र लाल मित्र, कृष्णदास पाल तथा यतींद्र मोहन ठाकुर आदि। हेस्टी को इतने महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की उपस्थिति बहुत बुरी लगी। उन्होंने स्टेट्‌समैन को पत्र लिखे। बंकिम चटर्जी अपना नाम नहीं बताकर, गुमनाम से उत्तर देते रहे। हेस्टी साहेब ने पत्रों में हिन्दू देवी-देवताओं के लिए अत्यंत अभद्र भाषा का उपयोग किया। 'रक्तपिपासु विकट काली', 'हस्तीमुंड गणपति', 'कामुक कृष्ण'। पाप की प्रतिमूर्ति देवी-देवताओं का आश्रयदाता दानवी हिंदू धर्म, जो गहरे गर्त में गिर चुका है–वेश्या जननी का स्थान ले चुका है, उसका उद्धार केवल ईसाई धर्म ही कर सकता है। फिर भी हेस्टी पर विवेकानन्द को एक हिन्दू पुजारी रामकृष्ण के पास भेजने का अभियोग लगाया गया। यदि हेस्टी ऐसा नहीं करते तो न विवेकानन्द को धर्म सम्मेलन में जाने का अवसर मिलता, न हिन्दू धर्म का इतना विश्वव्यापी प्रचार होता। साधारणत: हेस्टी का यह रूप हमें बताया नहीं जाता। बंकिम साहित्य में यह सारा पत्र-व्यवहार पूरा उपलब्ध है। आगे चलते हैं। पिता विश्वनाथ को भाइयों ने धोखा दियां अपना पैतृक मकान छोड़ना पड़ा। विवेकानन्द ने कभी आर्थिक कष्ट का अनुभव नहीं किया था। विश्वनाथ के पास विवेकानन्द के विवाह का प्रस्ताव आया जिसमें दस हजार रुपए उन्हें दहेज में मिल जाते। आर्थिक कठिनाई में विश्वनाथ ने प्रस्ताव का स्वागत किया, पर विवेकानन्द से चर्चा कर अत्यंत निराश हुए। पिता-पुत्र के संबंधों में कड़वाहट आई। 25 फरवरी, 84 को विश्वनाथ की मृत्यु मध्यरात्रि में हुई। विवेकानन्द घर पर नहीं थे, अपनी मित्र-मंडली के साथ थ। उनको ढूँढकर घर लाया गया। दाह संस्कार के बाद घर लौटे तो मालूम हुआ कि घर पर खाने लायक अन्न भी नहीं है। कर्जदार बैठे हैं। पिता कर्ज छोड़कर गए हैं। पिता की मृत्यु के एक दिन बाद ही नौकरी की तलाश में निकलते हैं। दस रुपए माह की नौकरी भी नहीं मिलती है। निराश हो रामकृष्ण के पास आते हैं–पाँव पकड़कर कहते हैं कि माँ काली से मेरा आर्थिक संकट दूर करने का अनुरोध करें। ठाकुर उन्हें उलाहना देते हैं कि तू तो काली को मानता नहीं, मैं क्या करूँ? फिर भी आज शुभ दिन है, तू स्वयं मंदिर जा और माँ से प्रार्थना कर। विवेकानंद मंदिर गए–माँ का भव्य-दर्शन प्राप्त हुआ, पर माँ से पैसा माँग नहीं पाए–ज्ञान, भक्ति, विवेक माँगकर ठाकुर के पास लौट आए। ठाकुर ने डाँटकर पुन: भेजा, फिर नहीं माँग पाए, तीसरी बार भेजा, फिर भी नहीं माँग पाए।

आखिर ठाकुर ने कहा, 'ठीक है तुम्हारे परिवार को खाने-पीने की कोई कठिनाई नहीं होगी।' प्रत्येक माह कोई 15 रुपये उनकी माँ को दे जाता। कौन देता, इसका आज भी पता नहीं है।

सन् 1886 में ठाकुर की महासमाधि हुई, विवेकानन्द व उनके गुरुभाइयों ने अद्‌भुत सेवा की।

कलकत्ता का सर्वश्रेष्ठ उद्यान काशीपुर में लिया। गुरुभाइयों में यह भ्रांति फैल गई कि यह छूत का रोग है, पर विवेकानन्द ने ठाकुर की रक्तभरी उलटी पीकर उन्हें आश्वस्त किया कि वे भय न करें।

गुरु की सेवा का स्वर्णिम अवसर न खोएँ। ऐसी सेवा ठाकुर की हुई, जो राजा-महाराजाओं को भी उपलब्ध नहीं होती। पैसे देनेवालों ने फिजूलखर्ची वगैरह की भी चर्चा की, पर मैं इसका उल्लेख यहाँ नहीं करूँगा।

काशीपुर में विवेकानंद घंटों साधना करते रहते। शरीर की जरा भी सुधि नहीं थी। काशीपुर के उद्यान-भवन में एक संध्या गुरुभाई कुछ ध्यानरत थे, कुछ कमरे में ध्यानरत थे, बूढ़े गोपाल भी उसी कमरे में थे। अचानक सुना–गोपाल दा, गोपाल दा, मेरा शरीर कहाँ है, मेरा शरीर कहाँ है? गोपाल दा दौड़कर आए–नरेंद्र का शरीर काष्ठवत् हो गया था। क्या विवेकानन्द अब नहीं रहे? गोपाल चिल्लाए, सारे गुरुभाई दौड़कर आए। विवेकानन्द के शरीर पर मालिश करने लगे। कुछ भी चेतना नहीं आई। दौड़कर ठाकुर के पास ऊपर आए। ठाकुर शांत मुद्रा में बैठे थे, मानों उन्हें सब ज्ञात हो। पर वे एक साथ घरबराकर सबकुछ सुनाने लग गए। ठाकुर ने हँसकर कहा–उसे कुछ देर ऐसे ही रहने दो। मुझे कई दिनों से हैरान कर रहा था कि मुझे निर्विकल्प समाधि का अनुभव करवाइए, वही मैंने करवाया है। गुरुभाई लौट आए। अचानक थोड़ी चेतना विवेकानन्द में आई। वे पूछने लगे, क्या हो गया? चेतना तो आ गई। पर समाधि के आनंद का अनुभव अभी भी हो रहा था। वे दौड़कर ठाकुर के पास गए और कहा कि मुझे समाधि में अत्यंत आनंद आया, मुझे कुछ समय के लिए इसी अवस्था में रहने दीजिए। पर ठाकुर ने उसे डाँटा कि तू इतना स्वार्थी है–मैंने तो सोचा था कि तू विशाल वटवृक्ष होगा, जिसके नीचे थके-माँदे यात्री विश्राम करेंगे। इस अनुभव को मैं ताले में बंद रखूँगा। तुझे बहुत काम करना है।

विवेकानन्द का जीवन रामकृष्ण का इच्छाओं की पूर्ति का जीवन था। कम-से-कम तीन बार उनको इस समाधि का अनुभव अमेरिका प्रवास में हुआ।

ठाकुर ने महासमाधि के पहले विवेकानंद को आदेश दिया था कि तुम गुरुभाइयों का नेतृत्व करोगे। वाराहनगर में एक

टूटा-फूटा, पर विशाल भवन था। लोग मानते थे कि रात को इसमें भूत आते हैं। मकान का नाम भी भूत-कोठी पड़ गया था। दस रुपए मासिक भाड़े पर मिल गया, उसमें रहने लगे। पैसों का अभाव था। पेड़ के पत्ते नमक लगाकर कभी-कभी खाकर रहते, कभी उपवास करते। वस्त्र नहीं थे, केवल कौपीन पहनकर रहते। एक धोती-कुरता था तो एक भाई वह पहनकर बाजार जाता था। पर सब आनंदमग्न भगवत् चर्चा में मग्न रहते। कभी भवभूति-वेद-पुराण पर चर्चा तो कभी ईसा मसीह-मोहम्मद की चर्चा। इस वातावरण में उन्होंने निर्णय लिया कि हमें औपचारिक रूप में संन्यास ले लेना चाहिए। गुरुभाई काली (अभेदानंद) ने बताया कि वे विरजाहोम के मंत्र व विधि जानते हैं। विरजाहोम का दिन तय हुआ तथा काली ने पहले विवेकानंद को, फिर सब को संन्यास दिलवाया। सबने अपने-अपने संन्यास नाम रख लिये। गुरुभाइयों में अब परिव्राजक बन तीर्थयात्राओं की उत्कट अभिलाषा हो रही थी। विवेकानंद 1888 ई० के शेष में वाराहनगर छोड़ वाराणासी, सारनाथ, गाजीपुर, प्रयाग, अयोध्या, वृंदावन, हाथरस से अपने प्रथम शिष्य, हाथरस के स्टेशन मास्टर शरद को लेकर हिमालय यात्रा पर निकल गए। इस बीच गाजीपुर में पवहारी बाबा के यहाँ दो महीने रहे। वापस वाराहनगर लौट आए। पुन: 1890 ई० में वाराहनगर मठ छोड़ तीन साल भारत-भ्रमण किया। कन्याकुमारी की शिला पर पहुँच क्रिसमस के दिनों में तीन दिन तक ध्यानरत रहे तथा वहाँ उन्हें प्रेरणा मिली। पश्चिम के देशों में जाने की।

31 मई 1893 को बंबई से जहाज में बैठ रवाना हुए अमेरिका के लिए। खेतड़ी नरेश ने सारी व्यवस्था की–उन्हें वस्त्र सिलवाकर दिए, प्रथम कक्षा की टिकट खरीदने का हठ किया। खर्च के लिए पैसे दिए।

अमेरिका पहुँच तो गए। वहाँ जाकर पता चला कि विश्वधर्म सम्मेलन में जो आधिकारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि हैं, वे ही भाग ले सकेंगे। भाग लेनेवालों के आवेदन देने की तिथि भी समाप्त हो चुकी है। धर्म सम्मेलन दो महीने बाद है, पैसे समाप्त हो चुके हैं। अमेरिका इतना महँगा देश है–यह कल्पना भी इस संन्यासी को नहीं थी। पर ईश्वर अपनी लीला कर रहा था। सारी समस्याएँ एक के बाद एक सुलझती गई।

धर्म सम्मेलन प्रारंभ हुआ। स्वामीजी ने आज तक किसी औपचारिक सभा में भाषण नहीं दिया था। मित्रों की मंडली में चर्चा करते थे। फिर ऐसा बड़ा सम्मेलन–सात हजार आदमियों की उपस्थिति।

एक-से-एक विद्वान् आए थे। उन्होंने कहा कुछ देर बाद बोलूँगा। मध्यकालीन सत्र में भी दो बार बोलने का अनुरोध किया, पर वे टाल गए। 20 भाषण हो चुके थे, चार भाषण होने बाकी थे। अभी भी स्वामीजी असमंजस में थे, पर एक ईसाई पादरी श्री बानेट भावरी ने उन्हें प्रेरणा दी कि आप भय छोड़ें। बोलने के लिए खड़े हों। ईश्वर पर भरोसा करें। स्वामीजी बोलने के लिए खड़े हुए। ठाकुर का स्मरण किया। आठ मिनट के भाषण के बाद श्रोताओं की श्रद्धा उमड़ रही थी। सब खड़े होकर करतल ध्वनि कर रहे थे, पूरा सभागार कुछ समय तक गूँजता रहा।

स्वामीजी ने कहा कि मुझे कुछ पता नहीं, मैं क्या बोला, मैं तो ठाकुर का ही स्मरण कर रहा था।

अद्‌भुत है, यह सब समझ के परे की बातें हैं।

उसके बाद का विवरण मैंने अपनी पुस्तक 'विश्वधर्म सम्मेलन' में किया है। जिन पाठकों को रुचि हो, वे वहाँ पढ़ने का कष्ट करें।

एक बात और कहकर यह लेख समाप्त करता हूँ। प्रताप चंद्र मजुमदार विवेकानन्द से ईर्ष्यावश उनके व्यक्तिगत चरित्र के पतन का झूठा प्रचार कर रहे थे, 'यह नरेंद्र छोकरा जो गुंडों की तरह रास्तों में घूमता फिरता था, एक लंबा अँगरखा पहन, सिर पर पगड़ी बाँध शिकागो धर्म सम्मेलन पहुँच गया। वहाँ भाषण देने लगा। वेद-वेदांत की बात करने लगा, मूर्ति-पूजा का समर्थन करने लगा। इस सब बातों का क्या आज के युग में कोई अर्थ है–सब बेकार की बातें। इतना असभ्य लड़का कि महिलाओं के बीच बैठकर चुरूट पी रहा था और बिना सिर-पैर का भाषण।' ऐसे वातावरण में स्वामीजी अमेरिका गए थे। अनंत है उनकी कथा, पर अंत तो करना ही पड़ेगा।

□□□

खेतड़ी नरेश और विवेकानन्द

–पं० झाबरमल्ल शर्मा

राजपूतानेवालों का शिमला, मसूरी या दार्जिलंग–आबू का पहाड़ है। वह शीतल और स्वास्थप्रद प्रसिद्ध स्थान है। राजा, महाराजा, रईस वहाँ आते-जाते रहते हैं। गरमी का मौसम प्राय: वहीं बिताते हैं। गर्वनर जनरल के राजपूताना स्थित एजेंट का ऑफिस भी आबू में ही रहता है। खेतड़ी नरेश राजा अजीत सिंहजी ने आबू में एक कोठी खरीद ली थी, जो 'खेतड़ी हाउस' के नाम से प्रसिद्ध है। जिस समय का हम वर्णन लिख रहे हैं, उस समय राजाजी आबू में अवस्थान कर रहे थे। सन् 1891 का अप्रैल महीना था। इसी सन् की 14वीं अप्रैल को स्वामी विवेकानंद भी वहाँ पहुँचे। आबू में वे ठाकुर मुकुंदसिंहजी के यहाँ ठहरे हुए थे। उनकी प्रसिद्धि का डंका विशेष नहीं बजा था।

एक दिन राजाजी के प्राइवेट सेक्रेटरी मुंशी जगमोहन लालजी का अपने एक मित्र के साथ स्वामीजी के पास जाना हो गया। मध्याह्न काल था। स्वामीजी आराम कर रहे थे। लेटे-लेटे उनकी आँखें लग गई थीं। थोड़ी देर उन लोगों को प्रतीक्षा करनी पड़ी। इतने में स्वामीजी उठे और बातें हुईं। स्वामीजी के ज्ञान-गर्भ कथनोपकथन से मुंशीजी मुग्ध हो गए और अपने स्थान पर लौटकर उन्होंने राजाजी बहादुर को स्वामीजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। तदनुसार स्वामीजी का सादर आह्वान किया गया और उन्होंने कृपाकर दर्शन दिया। शिष्टाचार के प्रश्नोत्तरों के पश्चात् राजाजी और स्वामीजी में इस प्रकार वार्त्तालाप हुआ–

राजाजी ने पूछा–स्वामीजी, जीवन क्या है?

स्वामीजी ने कहा–प्रतिकूल अवस्था चक्र में जीव के आत्मस्वरूप दिखलाने का नाम जीवन है।

राजाजी ने फिर प्रश्न किया–अच्छा महाराज, शिक्षा क्या है?

स्वामीजी ने उत्तर दिया–विचारों का स्नायु से घनिष्ठ संबंध करने का नाम शिक्षा है। जब तक कोई भाव मन में ऐसे दृढ़ संस्कार के रूप में स्थापित न हो जाए कि जिससे प्रत्येक शिरा और स्नायु में उसका कार्य विकसित हो, तब तक वह भाव वास्तव में मन की अपनी संपत्ति नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए हम परमहंसदेव के जीवन की घटनाओं को ले सकते हैं। किसी धातु के एक टुकड़े के स्पर्श से ही परमहंसदेव का शरीर निद्रावस्था में भी काँप जाता था। यह उनके कांचन-त्याग की सिद्धि थी। उनका संपूर्ण जीवन मानो पवित्रता का विकास और मानव-मन के लिए सर्वोत्कृष्ट शिक्षा के आदर्श का दृष्टांत था।

पहले दिन की मुलाकात में ही स्वामीजी से वार्त्तालाप कर राजाजी बहुत प्रसन्न हुए। खासकर उनके प्रश्नोत्तर के ढंग, धर्मज्ञान और स्वदेशभक्ति आदि का राजाजी पर विशेष प्रभाव पड़ा। इसके बाद वे जब तक आबू में रहे, तब तक स्वामीजी से बराबर मिलना-जुलना होता रहा। धार्मिक तथा अन्यान्य विषयों की बातें होती रहती थीं।

स्वामीजी को पढ़ने का अभ्यास विलक्षण था। पुस्तक पढ़ते समय 10-12 सेकेंड में से एक पृष्ठ उलट देते थे और इसी प्रकार दूसरा, तीसरा, जहाँ तक पढ़ते उलटते जाते थे। उनके पढ़ने का यही क्रम था। एक दिन राजाजी ने पूछा–स्वामीजी, आप इतनी जल्दी पृष्ठ उलट कैसे देते हैं, क्या इतनी देर में समूचा पृष्ठ पढ़ डालते हैं? स्वामीजी ने कहा–राजन्, आपने देखा होगा कि जब कोई लड़का पहले-पहल पढ़ना सीखने लगता है, तब वह एक-एक अक्षर को ध्यान से देखकर कई बार उच्चारण करता है। इस प्रकाश शब्द तक पहुँचता है। फिर एक-एक शब्द को कई बार कहता हुआ पूरा वाक्य पढ़ पाता है। पुन: धीरे-धीरे जब उसका अभ्यास बढ़ने लगता है, तब शब्द, शब्द के पश्चात् पूरे वाक्य पर उसकी दृष्टि पड़ती है। इसी प्रकार जिस मनुष्य में भाव ग्रहण करने की शक्ति हो जाती हे, वह पूरा पृष्ठ एक साथ ही पढ़ सकता है और उसे पृष्ठ की सभी बातें एक साथ ही मालूम हो जा सकती हैं। इसमें कोई

विचित्रता या असंभवता नहीं है। यह केवल अभ्यास, ब्रह्मचर्य और एकाग्रता का फल है। इन तीनों की सहायता से कोई भी ऐसा अभ्यास कर सकता है। यदि आप चाहें तो आप भी कोशिश करें। शीघ्र ही आपको भी ऐसा अभ्यास हो जाएगा।

एक अवसर पर राजाजी ने प्रश्न किया–स्वामीजी महाराज, विधान या नियम क्या है? स्वामीजी ने उत्तर दिया–मन जिस प्रणाली से कतिपय वस्तुओं को धारण करता है वही विधान है, वही नियम है। बाह्य जगत् में नियम की कोई सत्ता नहीं है। घटनाओं का ज्ञान हम लोगों के मन में जिस प्रकार होता है, उसी ज्ञान को नियम कहते हैं। मन अपने संस्कारों को विभिन्न किंतु सजातीय श्रेणी में विभक्त करता है। प्रत्येक श्रेणी के अंतर्गत विषयों के साधारण लक्षण एक-एक नियम के आकार में प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार बाह्य वस्तु के संस्कारों पर बुद्धि की प्रतिक्रिया से प्रत्येक नियम की उत्पत्ति होती है।

आबू से चलते समय अपने साथ ही आग्रहपूर्वक राजाजी, स्वामीजी को खेतड़ी लिवा लाए थे। खेतड़ी में उनका बड़ा स्वागत किया गया। स्वामीजी, राजाजी के आतिथ्य में रहे। प्रतिदिन धर्म चर्चा होती थी। एक दिन राजाजी ने स्वामीजी से प्रश्न किया–स्वामीजी, सत्य क्या है? उत्तर में स्वामीजी ने कहा–पूर्ण सत्य एक और अद्वितीय है। परंतु साधारणत: जिसको हम लोग सत्य समझते हैं, वह आपेक्षिक रूप में सत्य है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में ज्ञान की वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों वह एक सत्य को छोड़कर दूसरे सत्य को ग्रहण करता जाता है। मनुष्य जिसको त्याग देता है वह मिथ्या नहीं है, किंतु जिसको ग्रहण करता है, वह और श्रेष्ठतर सत्य है। इस अवस्था में चरम-सत्य की प्राप्ति नहीं होती। चरम-सत्य की प्राप्ति हो जाने पर आपेक्षिक सत्य-ज्ञान का लोप हो जाता है।

स्वामीजी का उत्तर मार्मिक होता था। राजाजी का प्रेम उन पर दिनों-दिन बढ़ता गया। राजाजी ने स्वामीजी से पदार्थ-विज्ञान का अध्ययन करना आरंभ किया। स्वामीजी की सम्मति से खेतड़ी में लेबोरेटरी भी स्थापित की गई थी। लेबोरेटरी थी तो छोटी परंतु उसमें आवश्यक सभी उत्तमोत्तम यंत्र एकत्र किए गए थे। राजाजी के महल की छत पर एक टेलीस्कोप भी लगाया गया था।

खेतड़ी में आने से स्वामी विवेकानन्दजी को भी एक सुअवसर प्राप्त हुआ। खेतड़ी के राजपंडित नारायणदासजी को पूर्ण वैयाकरण देखकर उनसे स्वामीजी ने अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि का अध्ययन किया। स्वामीजी पंडितजी का गुरुवत् आदर करते थे और सुदूरवर्ती अमेरिका तक से पत्र लिखते समय 'मेरे अध्यापक' कहकर उनका स्मरण करते थे।

एक दिन की घटना है। मौसम गरमी का था। सूर्य भगवान् के अस्ताचल गामी होने के अनंतर निस्तब्धता धीरे-धीरे बढ़ रही थी। आकाश में तारों की चमक रात्रि के निविड़ अंधकार में अपूर्व शोभा पा रही थी। सुगंधयुक्त मंद वायु के झीने झकोरे पसीने में तरबतर लोगों के शरीरों को शीतल बन रहे थे। खेतड़ी-नरेश अपने सहचरों सहित उद्यान स्थित बँगले में बैठे हुए थे। उस समय राजाजी ने स्वामीजी को भी वहाँ बुलाने की इच्छा प्रकट की। आज्ञा पाते ही एक सेवक दौड़ गया और आदर के साथ स्वामीजी को लिवा लाया। आसनासीन होने पर थोड़ी देर धर्म-चर्चा होती रही। इतने में नर्तकियों का एक दल 'सलाम मालूम' करने के लिए उपस्थित हुआ। राज्य के आश्रितों, सेवकों और किसी पद के आकांक्षी उम्मीदवारों के लिए प्रात: एवं सायंकाल राजाजी की सेवा में अभिवादन करने के निमित्त उपस्थित होने का साधारण नियम चला आता है। इस अभिवादन का नाम ही 'सलाम मालूम करना' है।

समागत नर्तकियों के दल की एक सुगायिका ने जिसका यौवन सुलभ चांचल्य प्रौढ़ता की गंभीरता के रूप में बदल चुका था, गाना सुनाने की आज्ञा माँगी। गाना शुरू होने को था कि स्वामी विवेकानन्द अपने स्थान पर जाने के लिए उठे। वेश्या ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि महाराज, आप अवश्य विराजिए, मैं एक भजन सुनाना चाहती हूँ। वह यह ताड़ गई थी कि मुझे नीच-वेश्या समझकर स्वामीजी यहाँ से उठकर जा रहे हैं। इसलिए उसके निवेदन में कातर-भाव की स्पष्ट झलक दिखलाई दे रही थी। उधर राजाजी ने भी आग्रहपूर्वक बैठने का अनुरोध करते हुए कहा, "स्वामीजी, इसका गाना सुनकर सभी प्रसन्न होते हैं। आप भी सुनने की कृपा कीजिए। यह भजन सुनावेगी।" स्वामीजी राजाजी के अनुरोध को टाल न सके और अन्यमनस्क होकर बैठ गए। रात के समय गाना खूब जमता है। स्वामीजी स्वयं संगीत निपुण सुगायक भी थे। एकांत में जब कभी मौज आती थी, वे भगवद्गुणानुवाद कीर्तन किया करते थे। उनके सुमधुर आलाप से सुननेवालों को मंत्रमुग्ध हो जाना पड़ता था। जो हो, गाना आरंभ हुआ। गायिका ने ताल-स्वर के साथ भक्त कवि सूरदास का एक पद गया। गाने में वह तन्मय हो गई। सुननेवाले भी चित्रवत् बन गए। विलक्षण बिजली सी दौड़ गई। भक्त हृदय की आत्म-निवेदन-भावना-संपुटित वह पद इस प्रकार है–

'हमारे प्रभु औगुन चित न धरो,
समदरसी है नाम तिहारो, अब मोहि पार करो॥
हमारे प्रभु॥
इक लोहा पूजा में राखत, इस घर बधिक परो,
पारस गुन औगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो॥
हमारे प्रभु॥
एक नदिया इक नार कहावत, मैलो हि नीर भरो,
जब दोऊ मिलि एक वरन भये सुरसरि नाम परो॥
हमारे प्रभु॥
यह माया भ्रम जाल निवारो, सूरदास सगरो,
अबकी बेर मोहि पार उतारो नहि प्रन जात टरो॥
हमारे प्रभु॥

गाना समाप्त हुआ। स्वामीजी गद्गद हो गए। उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। स्वामीजी के मुँह से तत्काल निकल पड़ा–ओह इस पतिता स्त्री ने एक भक्ति का पद गाकर 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के तत्व को हृदयंगम करा दिया है। स्वामीजी ने स्वयं लिखा है–वह गाना सुनकर मैं समझा कि क्या सही मेरा संन्यास है? मैं संन्यासी हूँ और यह एक पतिता नारी है, यह ऊँच-नीच की भावना, यह भेद-बुद्धि आज भी दूर नहीं हुई? सब प्राणियों में, ब्रह्मानुभूति बड़ा ही कठिन कार्य है। चंडाल की बातें सुनकर भगवान् शंकराचार्य के मन में भेद-बुद्धि लुप्त हो गई थी। ऐसी तुच्छ-तुच्छ घटनाओं से कितने महान् फल उत्पन्न होते हैं, इसकी गणना कौन कर सकता है?

उस वेश्या को संबोधन कर स्वामीजी ने कहा–माता, मैंने अपराध किया है। क्षमा करो। मैं तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखकर यहाँ से उठा जाता था। परंतु तुम्हारा ज्ञान-गर्भ गान सुनकर मेरी आँख खुल गई हैं। इसके बाद उस गायिका को स्वामीजी माता कहकर संबोधन किया करते थे।

राजाजी ने स्वामीजी से पदार्थ-विज्ञान के साथ-साथ कानून का अध्ययन भी किया था। स्वामीजी के पढ़ाने की उत्तम शैली और अपनी बुद्धि की प्रखरता से उन्होंने थोड़े समय में ही अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी। इसी प्रकार जब तक स्वामीजी खेतड़ी में रहे तब तक प्रतिदिन ज्ञानवर्द्धक आलोचना होती रही। राजाजी अपनी ज्ञानपिपासा शांत करने का प्रयत्न करते रहे।

यह बात शायद बहुत कम लोग जानते होंगे कि स्वामीजी का सर्वजन-विदित विवेकानन्द नाम रखनेलवाले राजाजी बहादुर ही थे। स्वामीजी अपना नाम विविदिषानंद लिखा करते थे। यह बात उनके पुराने पत्रों से भी प्रमाणित है। खेतड़ी की प्रथम यात्रा में एक दिन स्वामी के पास राजाजी बैठे हुए थे। उन्होंने हँसते-हँसते कहा–महाराज! आपका नाम बड़ा कठिन है। बिना टीकाकार की सहायता के साधारण लोगों की समझ में इसका मतलब नहीं आ सकता। उच्चारण करना भी सहज नहीं। इसके अतिरिक्त अब तो आपका विविदिषा-काल (विविदिषा का अर्थ है–जानने की इच्छा) भी समाप्त हो चुका। स्वामीजी ने राजाजी के युक्ति युक्त परामर्श को सुनकर पूछा–आप किस नाम को पसंद करते हैं? राजाजी ने कहा–मेरी समझ से आपके योग्य नाम है–'विवेकानंद'। स्वामीजी ने परमानुरक्त राजाजी की इच्छा के अनुसार उस दिन से अपना नाम विवेकानन्द मानकर उसका ही व्यवहार आरंभ कर दिया। यह नाम कितना प्रसिद्ध हुआ, भारतवासियों को कितना प्रिय हुआ–यह लिखकर बतलाने की आवश्यकता नहीं है। हमारा यह कथन नहीं है, कि स्वामीजी की कीर्ति का कारण उनका यह नया नाम ही था। किन्तु इस घटना के लिखने से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि इससे यह जानने में सुगमता होगी कि स्वामीजी का राजाजी पर कितना प्रेम था और राजाजी उनका कितना प्रेमपूर्ण आदर करते थे।

यों ही कई महीने बीत गए। राजाजी चाहते थे कि स्वामीजी कुछ दिन और ठहरें, किन्तु स्वामीजी ने जाना ही निश्चित कर लिया। खेतड़ी से विदा होकर जयपुर होते हुए स्वामीजी गुजरात की ओर चले गए। प्रवासकाल से उन्होंने अपने स्थान को कोई सूचना नहीं दी थी, इसलिए उनके साथी बड़े चिंतित थे। उनके अन्यतम गुरुभाई स्वामी अखंडानंदजी उन्हें तलाश करते-करते जयपुर पहुँचे। जयपुर स्थित खेतड़ी-भवन से उन्हें कुशल संवाद के साथ स्वामीजी के चले जाने की सूचना मिली। उन्होंने फिर पीछा किया और गुजरात के मांडवी स्थान में स्वामीजी को पाया। कुछ दिनों दोनों गुरुभाई साथ रहे। पश्चात् अखंडानंदजी लौट आए। उन्हें उदर-रोग हो गया था। अपने साथियों की सलाह से रोग की निवृत्ति के लिए स्वामी अखंडानंदजी खेतड़ी पहुँचे और प्राय: डेढ़ महीने वहाँ रहे। राजाजी ने उनके लिए सब प्रबंध कर दिया था। शेखावाटी की जलवायु ने स्वामीजी के स्वास्थ्य को सुधार दिया। निरोग होकर स्वामी अखंडानंदजी खेतड़ी से स्वस्थान बंगाल को चले गए।

□□□

पत्र-पत्रिकाओं के प्रवर्तक-स्वामी विवेकानन्द

-स्वामी निखिलेश्वरानन्द

(विस्मयजनक लगता है कि स्वामीजी एक पत्रकार भी थे, उन्होंने कई पत्रिकाएँ आरम्भ की थीं और उनमें से कई अपनी शताब्दी मनाने के बाद अब भी अबाध गति से चल रही हैं। यह लेख 'विवेक-ज्योति' के रजत-जयन्ती विशेषांक के लिए लिखा गया था।)

(1)

स्वामी विवेकानन्द की बहुमुखी प्रतिभा तथा विराट् व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर अनेकों ने चर्चा की है–किसी ने महान् सन्त के रूप में, किसी ने महान् देशभक्त के रूप में, तो किसी ने समाज-सुधारक के रूप में। किन्तु उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का पत्रकारिता का पक्ष प्राय: अज्ञात ही है। कई लोगों को शायद स्वामीजी को एक पत्रकार के रूप में चित्रित करना हास्यास्पद भी लगे, परन्तु यह एक सच्चाई है कि स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में ही कम-से-कम छह पत्रिकाएँ आरम्भ की थीं तथा कई अन्य पत्रिकाओं के भी प्रकाशन में सहायता एवं प्रेरणा प्रदान की थी। उनके देहत्याग के बाद भी, उन्हीं की प्रेरणा से, उनकी भावधारा को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए देश-विदेश में विभिन्न भाषाओं में अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई और आज भी हो रही हैं। इतिहास में ऐसा दृष्टान्त विरल है कि एक आध्यात्मिक महापुरुष ने पत्र-पत्रिकाओं के प्रवर्तन में अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश तथा शक्ति खर्च की हो और अपना तथा अपने अनुयायियों के कठोर परिश्रम का रक्त डालकर उन्हें सिंचित किया हो। एक सन्त होकर भी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में उनका कितना आग्रह था; किस प्रकार उन्होंने पत्रिकाओं के प्रवर्तन के लिए कठोर परिश्रम किया; अपने लेखों द्वारा, आर्थिक सहायता द्वारा और सर्वोपरि प्रचण्ड उत्साह एवं प्रेरणा द्वारा इनके प्रकाशन में कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और पत्रकारिता-विषयक उनके मौलिक विचार आज भी कितने अर्थपूर्ण हैं–यहाँ इन्हीं पक्षों के उद्घाटन का प्रयास किया जा रहा है।

(2)

तरुणावस्था से ही स्वामीजी की पत्रकारिता में रुचि थी। नरेन्द्रनाथ दत्त के रूप में उन्होंने श्रीरामकृष्ण के गृही शिष्य उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को एक पत्रिका प्रकाशित करने के लिए प्रोत्साहित किया था। अमेरिका जाने के बाद उनमें पत्रिकाओं के प्रर्वतन का विचार और भी प्रबल हुआ था। अमेरिका में उनकी प्रसिद्धि के बाद पूरे भारतवर्ष में जो उत्साह की विशाल तरंग उठी थी, स्वामीजी उसका उपयोग श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के प्रचार में करना चाहते थे। बिना किसी समझौते के सत्य का प्रचार, उनके अपने बारे में कुछ संस्थाओं द्वारा किए जा रहे भ्रामक प्रचार का विरोध, अपने आदर्शों के प्रचार तथा अन्य कई कारणों से उनका मन इस ओर विशेष उन्मुख हुआ था।

उन दिनों स्वामीजी का मन पत्र-पत्रिकाएँ निकालने के विचारों से कितना ओतप्रोत था, इसका कुछ अनुमान उनके कुछ पत्रों से हो जाता है। वे केवल अँगरेजी में ही नहीं, बँगला, हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं में भी पत्रिकाएँ निकालना चाहते थे। 29 सितम्बर 1894 को उन्होंने अपने शिष्य आलासिंगा पेरुमल को लिखा था, "यदि हो सके तो समाचार-पत्र और मासिक पत्रिका दोनों ही निकालो। मेरे जो भाई चारों तरफ घूम-फिर रहे हैं, वे ग्राहक बनाएँगे। मैं भी बहुत ग्राहक बनाऊँगा और बीच-बीच में कुछ रुपये भेजूँगा। पल भर के लिए भी विचलित न होना–सब ठीक हो जाएगा।" यद्यपि समाचार-पत्र प्रकाशित करने की स्वामीजी की इच्छा कभी फलीभूत न हो पायी, तथापि उनके जीवनकाल में तथा बाद में भी उनकी प्रेरणा से देश-विदेश में विभिन्न भाषाओं में अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई तथा हो रही हैं।

(3)

स्वामीजी ने 25 सितम्बर, 1894 के दिन अपने एक गुरुभाई स्वामी ब्रह्मानन्द जी के नाम एक अत्यन्त प्रेरक पत्र में लिखा था, "तुम लोगों को एक मासिक पत्रिका का सम्पादन करना होगा। उसमें आधी बँगला रहेगी और आधी हिन्दी–हो सके तो एक अँगरेजी में भी।" एक अन्य गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी को उन्होंने एक पत्र (1895) में लिखा था, "यज्ञेश्वर बाबू ने मेरठ में कोई सभा स्थापित की है। वे हम लोगों के साथ मिलकर काम करना चाहते हैं। सुना है कि उनकी कोई पत्रिका भी है। काली (स्वामी अभेदानन्द) को वहाँ भेज दो। वह वहाँ जाकर यदि हो सके तो एक केन्द्र स्थापित करे और जिससे हिन्दी में उस पत्रिका का प्रकाशन हो, ऐसा प्रयत्न करे। बीच-बीच में मैं कुछ रुपये भेजता रहूँगा।" भले ही स्वामीजी की यह इच्छा उनके जीवनकाल में फलीभूत न हो पायी, किन्तु सन् 1921 में अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष स्वामी माधवानन्द जी (बाद में रामकृष्ण संघ के नवम अध्यक्ष) द्वारा 'समन्वय' नामक एक मासिक पत्रिका हिन्दी में प्रकाशित की गयी थी। इसमें प्रसिद्ध साहित्यकार सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का भी सक्रिय सहयोग था। इसका प्रथम अंक जनवरी, 1921 ई॰ (सौर माघ विक्रम संवत् 1978) में प्रकाशित हुआ (वार्षिक मूल्य 3 रुपये, प्रति संख्या पांच आना)। इसकी प्रस्तावना में स्वामीजी द्वारा बँगला पत्रिका 'उद्बोधन' की प्रस्तावना के रूप में लिखित सम्पूर्ण लेख को उद्धृत करने के बाद कहा गया था–"तेईस वर्ष हुए पूर्वोक्त लेख स्वामी विवेकानन्द जी महाराज ने श्रीरामकृष्ण संघ के बँगला मुखपत्र 'उद्बोधन' की प्रस्तावना में लिखा था। 'समन्वय' का भी यह उद्देश्य है कि इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'समन्वय' चेष्टा भी करेगा।"

'समन्वय' के पुराने अंकों के पर्यवेक्षण से पता चलता है कि इसमें दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा हिन्दी भाषा से सम्बन्धित प्रसिद्ध साहित्यकारों के लेख रहा करते थे। समाचारों के लिए एक अलग स्तम्भ था तथा विभिन्न प्रकार की अन्य रोचक सामग्री रहा करती थी, जिससे पत्रिका ने अपने उद्देश्य को फलीभूत करने में यथार्थ सफलता प्राप्त की थी। किन्तु खेद! किन्हीं कारणों से आठ वर्षों बाद इसका प्रकाशन बन्द हो गया।

इसके बाद हिन्दी के रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा-जगत् में कई वर्षों तक अन्धकार ही बना रहा, जब तक कि 'विवेक-ज्योति' के आलोक ने प्रकट होकर उसे दूर नहीं किया। सन् 1963 ई॰ में स्वामी आत्मानन्द के भगीरथ प्रयत्न से विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, द्वारा यह हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका शुरू हुई। उत्तरोत्तर लोकप्रियता प्राप्त करते हुए यह पत्रिका रजत जयन्ती वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। (सन् 1999 ई॰ से यह 'मासिक' के रूप में निकलने लगी है। आज इसके करीब 3,000 आजीवन ग्राहक, कुल प्रसार-संख्या लगभग 11,250 है और यही इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।)

हिन्दी जगत् के इस अन्धकार को दूर करने के लिए एक 'विवेक-दीप' का भी प्रार्दुभाव हुआ। स्वामीजी से ही प्रेरणा पाकर 1982 ई॰ से छपरा (बिहार) से डॉ॰ केदारनाथ लाभ 'विवेक-शिखा' नामक हिन्दी मासिक निकाल रहे हैं। फिलहाल इसके सदस्यों की संख्या कम होने के बावजूद यह उच्च-स्तरीय पत्रिका उत्तरोत्तर लोकप्रियता को प्राप्त हो रही है। और रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दे रही है।

कुछ वर्षों पूर्व विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी, की दिल्ली शाखा द्वारा 'केन्द्र-भारती' नाम से एक हिन्दी मासिक पत्रिका शुरू की गयी है, पर कुछ काल बाद किन्हीं कारणों से इसका प्रकाशन बन्द हो गया। (अब 1998 ई॰ से राजस्थान के जोधपुर नगर से यह फिर प्रकाशित होने लगी है।)

(4)

स्वामीजी की पत्रिका-प्रवर्तन की इच्छा को फलीभूत करने वाले प्रथम व्यक्ति थे उनके शिष्य आलासिंगा पेरुमल। धन्य हो आलासिंगा। इतिहास में तुम्हारा नाम अमर रहेगा। स्वामीजी के अग्निमंत्रयुक्त प्रेरणादायी अधिकांश पत्र इन्हीं को सम्बोधित कर लिखे गए थे। 11 जुलाई 1894 के पत्र में स्वामीजी ने आलासिंगा को चेन्नई से अँगरेजी में एक पत्रिका प्रकाशित करने की उनकी इच्छा का अनुमोदन करते हुए लिखा, "ऐसी व्यवस्था करो कि पत्रिका शीघ्र प्रकाशित हो सके; मैं बीच-बीच में लेख भेजता रहूँगा।" 31 अगस्त 1894 के पत्र में उन्होंने पत्रिका की आर्थिक व्यवस्था का भार भी अपने कन्धों पर लेते हुए फिर लिखा, "एक छोटी-सी समिति स्थापित करो और उसके मुखपत्र-स्वरूप एक नियतकालिक पत्रिका निकालो–तुम उसके सम्पादक बनो। पत्रिका-प्रकाशन तथा प्रारम्भिक कार्य के लिए कम-से-कम कितना व्यय होगा, इसका विवरण मुझे भेजना तथा समिति का नाम एवं पता भी लिखना। इस कार्य के लिए न केवल मैं स्वयं सहायता करूँगा, अपितु यहाँ के और लोगों से भी अधिक-से-अधिक वार्षिक चन्दा भिजवाने की व्यवस्था करूँगा।" 29 सितम्बर 1894 को पुन: उन्होंने लिखा, "मासिक पत्रिका निकालने का अपना संकल्प मत छोड़ना।" 6 मई 1895 के पत्र में उन्होंने पत्रिका की आर्थिक सहायता का आश्वासन और अन्य उपयोगी सुझाव भी दिए, "वत्स, अब काम करो, एक माह के भीतर मैं पत्रिका के लिए कुछ धन भेज सकूँगा। हिन्दू भिखारियों से भिक्षा मत माँगो। मैं अपने मस्तिष्क और बाहुबल से ही सब करूँगा। ... पत्रिका को बकवादी नहीं, बल्कि शान्त, स्थिर तथा उच्च आदर्शयुक्त होना

चाहिए। ... उत्तम और नियमित रूप से लिखनेवाले लेखकों का दल ढूँढ़ लो।"

एक माह के भीतर ही स्वामीजी ने पत्रिका हेतु धन भिजवाया। 28 मई 1895 को उन्होंने आलासिंगा को लिखा, "इस पत्र के साथ मैं सौ डॉलर भेज रहा हूँ। आशा है इसके द्वारा पत्र-प्रकाशन में तुम्हें कुछ सहायता मिलेगी, फिर क्रमशः कुछ और भी सहायता कर सकूँगा।" इतने पर भी मिशनरियों के भय से जब आलासिंगा पत्रिका प्रकाशित करने में विलम्ब करने लगे, तब स्वामीजी ने 1 जुलाई 1895 को पुनः लिखा, "तुम जल्दी पत्रिका प्रकाशित कर डालो। जैसे भी हो मैं बहुत शीघ्र तुम लोगों को और रुपये भेज रहा हूँ तथा बीच-बीच में भेजता रहूँगा। कार्य करते चलो। अपने देश के लिए कुछ करो, इससे वे लोग तुम्हारी सहायता करेंगे। पहले मिशनरियों के विरुद्ध चाबुक लेकर उनकी खबर लो। तब समग्र जाति तुम्हारे साथ होगी।"

आलासिंगा ने चेन्नई के अपने अन्य सहयोगियों के साथ मिलकर इस पत्रिका का नाम 'ब्रह्मवादिन्' तथा ध्येय-वाक्य 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' चुना। स्वामीजी ने इसका अनुमोदन करते हुए तथा उत्साह देते हुए 30 जुलाई 1895 के पत्र में आलासिंगा को लिखा, "तुमने ठीक किया है। नाम तथा ध्येय-वाक्य दोनों ही ठीक हैं। ... तुम्हारे पत्र के लिए 'सन्यासी का गीत' ही मेरा पहला लेख है। निरुत्साहित न होना और अपने गुरु तथा ईश्वर में विश्वास न खोना। ... हे साहसी बालको, कार्य करते रहो।"

पर इतना सब होने पर भी जब पत्रिका नहीं निकली, तो स्वामीजी अधीर हो उठे। 4 अक्टूबर 1895 को ब्रह्मानन्दजी के नाम पत्र में उन्होंने लिखा, "जान पड़ता है चेन्नईवाले पत्रिका नहीं निकाल सके। हिन्दू जाति में व्यवहार-कुशलता जरा भी नहीं है। जिस समय काम के लिए प्रतिज्ञा करो, ठीक उसी समय उसे करना चाहिए, नहीं तो लोगों का विश्वास उठ जाता है।" स्वामीजी को क्या मालूम कि इस बीच 14 सितम्बर को पाक्षिक 'ब्रह्मवादिन्' का पहला अंक प्रकाशित हो चुका था और उस समय जहाज में यात्रा कर रहा था। 24 अक्टूबर को उन्होंने आलासिंगा को लिखा, 'ब्रह्मवादिन्' के दो अंक मिले। बहुत अच्छा, इसी प्रकार किए जाओ। पत्रिका के मुखपृष्ठ को कुछ अच्छा करने का प्रयत्न करो और संक्षिप्त सम्पादकीय मन्तव्यों की भाषा को कुछ सरल किन्तु भावों को उज्ज्वल करने का प्रयत्न करो। क्लिष्ट भाषा और छन्दों को केवल मुख्य लेखों के लिए रख छोड़ो।"

स्वामीजी की तीक्ष्ण दृष्टि सदा 'ब्रह्मवादिन्' की ओर थी। अनेक पत्रों के द्वारा उन्होंने पत्रिका के बारे में व्यावहारिक सुझाव दिए, आर्थिक सहायता भेजी और अपने मित्रों को इसकी सदस्यता के लिए अनुरोध भी किया। आलासिंगा को उन्होंने यह सलाह दी कि विज्ञापन के द्वारा पत्रिका की आर्थिक स्थिर सुधर सकती है। 6 अगस्त 1896 को स्वामीजी ने आलासिंगा को उत्साहित करते हुए स्विट्जरलैंड से लिखा, "तुम्हारे पत्र से 'ब्रह्मवादिन्' की आर्थिक दुर्दशा का समाचार मिला। लन्दन लौटने पर तुम्हें सहायता भेजने की चेष्टा करूँगा। अपनी गति धीमी न करना, पत्र का प्रकाशन जारी रखना; डरने की कोई बात नहीं, महान् कार्य सम्पन्न होंगे। वत्स! साहस का अवलम्बन करो। 'ब्रह्मवादिन्' एक रत्न है, इसे कभी भी नष्ट नहीं होने दिया जाएगा। यह ठीक है कि ऐसी पत्रिकाओं को सदा निजी दान से ही जीवित रखना पड़ता है, हम भी वैसा ही करेंगे। कार्य करते रहो। तुम्हारी सहायता के लिए प्रभु तुम्हारे पीछे खड़े हैं।" पुनः स्वामीजी ने आलासिंगा को सफलता का रहस्य बताते हुए लिखा, "अपने कार्य के प्रति पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। यह जानकर कि 'ब्रह्मवादिन्' की सफलता से ही तुम्हें मुक्ति मिलेगी, इस पत्रिका को अपना इष्टदेव बना लो और तब देखोगे कि तुम्हें सफलता कैसे मिल रही है।"

एक वर्ष तक 'बह्मवादिन्' को पाक्षिक के रूप में प्रकाशित करने के बाद आलासिंगा ने उसे मासिक पत्रिका में बदलना चाहा, पर स्वामीजी ने इसका अनुमोदन नहीं किया। 22 सितम्बर 1916 के पत्र में उन्होंने आलासिंगा को लिखा, "प्रचुर लेखों द्वारा पत्रिका का आकार बड़ा कर सकोगे? ऐसा भरोसा यदि न हो, तो उसे अभी मासिक पत्रिका के रूप में रूपान्तरित करना मुझे उचित नहीं लगता। अब तक तो पत्रिका का आकार या लेख आशानुरूप नहीं है। अभी भी एक बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है, जो छुआ तक नहीं गया है, और वह है तुलसीदास, कबीर, नानक और दक्षिण भारत के सन्तों के जीवन-चरित्र। और ये जीवन चरित्र विद्वतापूर्ण तथा अच्छे ढंग से लिखे जाने चाहिए, न कि ऐसे ही मामूली तौर से अव्यवस्थित रूप से।" किन्तु कुछ काल बाद यह पत्रिका मासिक में परिणत हो गयी और आलासिंगा की मृत्यु के बाद सन् 1914 में बन्द भी हो गयी।

यह है 'ब्रह्मवादिन' की जीवनकथा—ज्वलन्त आदर्शवाद, आत्मप्रकाश और आत्मविस्तार का कठोर संघर्ष। पर उसका बाह्य कलेवर अजस्त्र प्रशंसा प्राप्त कर सका था। प्रो॰ मैक्समूलर ने भी इसकी प्रशंसा की थी। 'मद्रास टाइम्स' (20 फरवरी, 1916) नामक संवाद-पत्र ने मत दिया था– "It is a scholarly exponent of philosophical Hinduism, and is of considerable literary merit. It has largely met with commendation from high quarters, none other than professor Max Muller." –"यह पत्रिका दार्शनिक हिन्दूधर्म का विद्वत्तापूर्ण भाष्य करनेवाली है और साहित्यिक गरिमा से

युक्त है। हाल में कई विद्वानों से इसे प्रशंसा मिली है, जिसमें प्रोफेसर मैक्समूलर का नाम उल्लेखनीय है।"

'मद्रास मेल' (7 जुलाई 1902) ने इसे भारत की अग्रणी पत्रिका के रूप में मान्य करते हुए लिखा था–"He (Swami Vivekanand) was instrumental in establishing 'Brahmavadin' in Madras, which is an enlightened exponent of the Vedanta, and is the leading magazine in India." –अर्थात् "मद्रास (अब चेन्नई) की 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के पीछे उन्हीं का (स्वामी विवेकानन्द का) हाथ था; वह वेदान्त की प्रबुद्ध व्याख्या करने वाली भारत की अग्रणी पत्रिका है।"

(5)

'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका का स्तर इतना ऊँचा था कि भारत या विदेश की आम जनता में इसका लोकप्रिय होना कठिन था। अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण लेख, क्लिष्ट भाषा, संस्कृत का अत्याधिक प्रयोग आदि के बारे में आलासिंगा को सतर्क करते हुए स्वामीजी ने 23 मार्च 1896 को लिखा, "मेरी सफलता का कारण मेरी लोकप्रिय शैली है–एक आचार्य की महानता उसकी सरल भाषा में होती है।" एक और पत्र में इसी वर्ष उन्होंने अमेरिका से लिखा, "मैं तुम लोगों को पुनः बता देना चाहता हूँ कि वह पत्र (ब्रह्मवादिन्) इतना अधिक विशेषज्ञप्रिय बन चुका है कि यहाँ पर उसकी ग्राहक-संख्या की आशा नहीं है। ... किसी मतविशेष का समर्थन भी किया जा रहा हो, ऐसी एक भी बात उसके सम्पादकीय में नहीं होनी चाहिए।"

अतः आलासिंगा तथा उनके नंजुन्दा राव मद्रासी मित्रों ने मिलकर जनसाधारण, विशेषकर युवावर्ग के लिए एक अन्य अँगरेजी पत्रिका निकालने का विचार किया। स्वामीजी ने डॉ॰ नंजुन्दा राव को एक अत्यन्त प्रेरणादायी पत्र में लिखा था (14 अप्रैल 1916), "लड़कों के लिए पत्रिका प्रकाशित करने का जो तुम विचार कर रहे हो, उससे मुझे पूर्ण सहानुभूति है और मैं उसकी सहायता करने का पूरा प्रयत्न करूँगा। इसमें स्वाधीनता होनी चाहिए, 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका पद्धति का अनुसरण करो, केवल तुम्हारी पत्रिका की लेखन-शैली तथा विषय उससे अधिक लोकप्रिय होने चाहिए। उदाहरणार्थ, संस्कृत साहित्य की बिखरी हुई अद्भुत कहानियों को ले लो। उन्हें फिर से लोकप्रिय ढंग से लिखने का यह इतना बड़ा सुअवसर है कि जिसके महत्त्व को तुम स्वप्न में भी नहीं समझ सकते।"

'ब्रह्मवादिन्' शुरू होने के दस माह बाद ही 'प्रबुद्ध भारत' नाम से उक्त पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हो गया। यह नाम सम्भवतः स्वामीजी का ही दिया हुआ था। स्वामीजी कई पत्रों द्वारा इस पत्रिका के लिए व्यावहारिक सुझाव तथा प्रेरणा देते रहे। 26 अगस्त 1916 को उन्होंने डॉ॰ नंजुन्दा राव को लिखा, "जो कुछ तुम करते हो, उस समय के लिए उसे अपनी पूजा समझो। इस समय इस पत्रिका को अपना ईश्वर बना लो और तुम्हें सफलता प्राप्त होगी।" विद्वान् युवक राजम् अय्यर के सम्पादन में यह पत्रिका एक वर्ष में भारत की 'सर्वाधिक प्रचारित मासिक पत्रिका' हो गयी। प्रथम वर्ष के अन्त में इसके 3,500 ग्राहक थे। चारों ओर से काफी प्रशंसा प्राप्त करने के बावजूद प्रारम्भ होने के ठीक दो वर्षों बाद ही (जून 1989 ई॰ में) इसके सम्पादकीय में लिखा गया– 'विदाई'; कारण–विद्वान् सम्पादक श्री राजम् अय्यर का आकस्मिक निधन। किन्तु दो माह के भीतर ही इसे नवीन उत्साह से पुनः प्रकाशित किया गया–इस बार रामकृष्ण मिशन के मुखपत्र के रूप में, क्योंकि इस बीच स्वामी विवेकानन्द ने विदेश से भारत लौटकर सन् 1897 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर दी थी। स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित यह पत्रिका आज 90 वर्षों बाद भी देश भर में धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी श्रेष्ठ अँगरेजी पत्रिका मानी जाती है। फिलहाल इसके लगभग 7,000 वार्षिक तथा 800 आजीवन सदस्य हैं।

(6)

'ब्रह्मवादिन्' तथा 'प्रबुद्ध भारत' के अलावा भी कुछ अँगरेजी पत्रिकाओं का प्रवर्तन स्वामीजी द्वारा इंग्लैंड तथा अमेरिका में हुआ था। 9 सितम्बर 1895 को स्वामीजी के आलासिंगा को लिखा था, "इंग्लैंड तथा अमेरिका दोनों ही जगहों से पत्रिका निकालने का मेरा विचार है। अतः अपने पत्र के लिए तुम लोगों को पूर्णतया मुझ पर निर्भरशील नहीं होना चाहिए।"

इंग्लैंड में स्वामीजी के शिष्य श्री ई॰टी॰ स्टर्डी ने वेदान्त पर एक पत्रिका आरम्भ करने की योजना बनायी थी, स्वामीजी भी उन्हें उत्साह देते थे। 10 सितम्बर 1896 को स्वामीजी ने कील (यूरोप) से स्टर्डी को लिखा, "आखिर प्राध्यापक डायसन महोदय से मेरी भेंट हुई ...। मासिक पत्रिका सम्बन्धी तुम्हारी योजना से वे अत्यन्त आनन्दित हैं तथा इस बारे में तुम्हारे साथ लन्दन में चर्चा करना चाहते हैं, शीघ्र ही वे वहाँ जा रहे हैं।"

इंग्लैंड में वेदान्त पर यह पत्रिका कब, किस नाम से, कितने समय तक प्रकाशित हुई थी इसकी ठीक जानकारी अब तक मिल नहीं सकी है, परन्तु प्रकाशित हुई थी अवश्य। इसका पता चलता है स्वामीजी द्वारा आलासिंगा को लिखे पत्र (20 नवम्बर, 1896) से, "ऐसी पत्रिकाओं को अनुयाइयों के छोटे से समुदाय द्वारा ही सहायता मिलती है। एक ही समय में उनसे अनेक कार्य करने की आशा नहीं करनी चाहिए। उन्हें पुस्तकें खरीदनी पड़ती है, इंग्लैंड का कार्य चलाने के लिए पैसे एकत्र करने पड़ते हैं; यहाँ की पत्रिका के लिए ग्राहक ढूँढ़ने पड़ते हैं; और फिर भारतीय पत्रिकाएँ खरीदनी पड़ती है।"

अमेरिका में भी स्वामीजी गुडविन की सहायता से एक मासिक पत्र निकालना चाहते थे। 5 जून 1896 को उन्होंने श्रीमती ओली बुल को लन्दन में लिखा था, "गुडविन अमेरिका से एक मासिक पत्रिका प्रकाशित करने के सम्बन्ध में तुम्हें इस डाक से एक पत्र भेज रहा है। मुझे ऐसा लग रहा है कि कार्य को जारी रखने के लिए इस प्रकार का आयोजन करना आवश्यक है। जिस रूप से वह कार्य करना चाहता है, मैं भी उसी रूप से उसमें सहायता प्रदान करने की यथासाध्य चेष्टा करूँगा।" गुडविन की यह पत्रिका प्रकाशित हुई थी या नहीं पता नहीं, किन्तु स्वामीजी के जीवनकाल में अमेरिका से कम-से-कम दो पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई थी, ऐसा प्रतीत होता है। 'इण्डियन मिरर' (जुलाई 1896) में अमेरिका से एक पत्रिका के प्रकाशन की सम्भावना की बात है; उसका प्रकाशन स्थान बताया गया था– 168 ब्रेटल स्ट्रीट, कैम्ब्रिज, मेसाचुसेट्स (संयुक्त राज्य अमेरिका)। स्वामीजी के देहत्याग के कुछ वर्ष पूर्व सन् 1902 में कैलिफोर्निया से 'पेसिफिक वेदान्तिन' (Pacific Vedantin) नामक पत्रिका प्रकाशित हुई थी।

स्वामीजी के देहत्याग के बाद भी उनकी भावधारा से अनुप्राणित होकर अँगरेजी में कई पत्रिकाओं का प्रवर्तन अमेरिका से हुआ था, जिनमें 'वायस ऑफ फ्रीडम' (Voice of Freedom, सन् 1909 से 1916 तक), 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट, (Vedanta and West, द्विमासिक 1938 से 1970 तक), 'दि वॉयस ऑफ इण्डिया' (The Voice of India, मासिक, 1931 से 1946 तक) तथा 'मेसेज ऑफ दि ईस्ट' (Message of the East, त्रैमासिक 1912 से 1955 तक) उल्लेखनीय है। रामकृष्ण मठ के लन्दन केन्द्र द्वारा इंग्लैंड से भी सन् 1952 से एक अँगरेजी द्विमासिक पत्रिका 'वेदान्त फॉर ईस्ट एण्ड वेस्ट' (Vedanta for East and West) प्रकाशित हो रही है, जो आज भी काफी लोकप्रिय है। (अमेरिका के सिएटल नगर में स्थित वेदान्त समिति द्वारा 1996 ई॰ से 'ग्लोबल वेदान्त' (Global Vedanta) नाम से एक नयी त्रैमासिक पत्रिका आरम्भ हो गयी है।)

रामकृष्ण मठ के फ्रांस स्थित केन्द्र ग्रेट्ज (पेरिस) से सन् 1962 से 'वेदान्त' नामक त्रैमासिक पत्रिका फ्रेंच में प्रकाशित हो रही है। उसी प्रकार रामकृष्ण मठ के जापान स्थित केन्द्र द्वारा जापानी भाषा में एक द्विमासिक 'फुमेत्सु नो कोताबा' (अर्थात् 'सार्वभौमिक सन्देश') निकाली जा रही है। जर्मन भाषा में भी 'वेदान्त' नामक त्रैमासिक पत्रिका सन् 1978 से प्रकाशित हो रही है। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका आदि कई देशों से विभिन्न भाषाओं में वेदान्त सम्बन्धी पत्रिकाएँ रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित होकर निकल रही है।

स्वामीजी के देहत्याग के बाद भारत में भी उनकी प्रेरणा से 'ब्रह्मवादिन्' और 'प्रबुद्ध भारत' के अलावा कई अँगरेजी पत्रिकाएँ प्रारम्भ हुई, जिनमें चेन्नई के रामकृष्ण मठ द्वारा सन् 1914 से प्रकाशित हो रही मासिक 'वेदान्त केसरी' (ग्राहक संख्या 6,000) तथा सन् 1950 से कोलकाता से निकल रही 'बुलेटिन ऑफ दि रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर' (Bulletin of the Ramakrishna Mission of Culture, ग्राहक संख्या 3,000) उल्लेखनीय हैं।

(7)

अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अँगरेजी पत्रिकाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी स्वामीजी देशी भाषाओं में पत्रिकाएँ प्रकाशित करने के लिए उद्विग्न थे, क्योंकि वे मानते थे कि जनसाधारण में भावों का प्रचार करने के लिए देशी भाषाओं में ही पत्रिकाएँ आवश्यक हैं। 'ब्रह्मवादिन्' प्रारम्भ होने के पहले ही उन्होंने अपने गुरुभाइयों को एक पत्रिका आधी हिन्दी और आधी बँगला भाषा में प्रकाशित करने को कहा था। यह पत्र (25 सितम्बर 1894) पहले ही उद्धृत हुआ है। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों की सहायता से कोलकाता से बँगला भाषा में एक पत्रिका निकालने को उत्सुक थे। सन् 1895 में उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द जी को एक बँगला पत्रिका के प्रकाशन के लिए पुनः तगादा किया। 11 अप्रैल 1895 को उन्होंने अपने एक अन्य गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द जी को लिखा, "एक पत्रिका को निकालने के लिए अपनी शक्ति को काम में लाओ। लज्जा से काम नहीं चलेगा।" उसी वर्ष उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द जी को पुनः लिखा, "सुना था कि हरमोहन एक पत्रिका प्रकाशित करने में लगा है। वह कार्य कहाँ तक अग्रसर हुआ? काली, शरत्, हरि, मास्टर, जी॰सी॰ घोष आदि सब मिलकर यदि व्यवस्था कर सकें तो अच्छा हो।" श्री हरमोहन मित्र (कई पुस्तकों के प्रकाशक), मास्टर महाशय (श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक), श्री जी॰सी॰ घोष (बंगाल के प्रख्यात कवि तथा नाटककार)– श्रीरामकृष्ण के ये सभी अन्तरंग गृही शिष्यगण एक पत्रिका निकालने में सक्षम थे। वैसे ही स्वामीजी के गुरुभाई काली महाराज (स्वामी अभेदानन्द), हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) तथा शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) भी इस कार्य के लिए समर्थ थे (ये तीनों वेदान्त प्रचार के लिए विदेश भी गए)। इन सभी से निराश हो जाने पर स्वामीजी ने अपना ध्यान अँगरेजी पत्रिकाओं पर केन्द्रित किया। इस बीच अप्रत्याशित रूप से एक युवक पर पत्रिका का भूत सवार हुआ। वे थे स्वामीजी के गुरुभाई सारदा-प्रसन्न (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द)। अपनी कम उम्र के कारण इस प्रकार के कार्य के लिए वे गणना में ही नहीं

थे। अतः जब उन्होंने अपने गुरुभाइयों के समीप पत्रिका निकालने का अपना निश्चय व्यक्त किया, तब उन लोगों ने इसे हँसकर उड़ा दिया। तथापि हिम्मत न हार उन्होंने स्वामीजी को इस बारे में पत्र लिखा। पत्र पाने के बाद स्वामीजी की प्रसन्नता का अनुमान हम सहज ही कर सकते हैं। उन्होंने तत्काल स्वामी ब्रह्मानन्द जी को लिखा (1895), "सारदा बँगला में एक पत्रिका निकालने की बात कर रहा है। अपनी पूरी शक्ति के साथ इसमें मदद देना। यह कोई बुरा विचार नहीं है। किसी को उसकी योजनाओं में निरुत्साहित नहीं करना चाहिए।"

स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी को भी स्वामीजी ने अत्यन्त प्रेरणादायी पत्र (जनवरी 1896) लिखा, जो इस बात का साक्षी है कि इतिहास में स्वामीजी के समान प्रेरणादायी पत्र-लेखक कोई नहीं। उन्होंने लिखा था, "पत्रिका के बारे में तुम्हारा विचार अति उत्तम है। पूरी शक्ति के साथ जुट जाओ, कोई चिन्ता मत करो। तुम्हारा पत्र मिलने पर मैं 500 रुपये तत्काल भेज दूँगा–ईसाई तथा इस्लाम धर्म का प्रचार करनेवाले बहुत-से लोग हैं, अब तुम भी अपने देश के धर्म-प्रचार में जुट जाओ। ... अनेक लेखकों की जरूरत है। साथ ही ग्राहकों की भी समस्या है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि तुम विभिन्न स्थानों में पर्यटन करते रहो, जहाँ कहीं भी बँगला भाषा का प्रचलन हो, वहाँ पर लोगों के माथे पत्रिका मढ़ देना। ... पत्रिका का प्रकाशन होना चाहिए, आगे बढ़े चलो। शशी, शरत्, काली आदि सब कोई अध्ययन कर लिखने में जुट जाएँ। घर बैठे-बैठे क्या हो सकता है? तुमने बहुत बहादुरी की है। शाबास! हिचकनेवाले पीछे रह जाएँगे और तुम कूदकर सबके आगे पहुँच जाओगे। ... ऐसा शोरगुल मचाओं कि उसकी आवाज दुनिया के कोने-कोन में फैल जाए। ... तूफान मचा दो, तूफान! किसी को चीन भेज दो, किसी को जापान। यह कार्य गृहस्थों द्वारा नहीं हो सकता। ... संन्यासियों को हुंकार के साथ गरजना होगा। हर हर शम्भो!"

इसके बाद स्वामीजी कई पत्रों द्वारा पत्रिका के प्रकाशन के लिए तगादा देते रहे, पर पत्रिका का प्रकाशन पिछड़ता रहा। मूल कारण था अर्थाभाव। तब स्वामीजी ने मिस मैक्लाउड से आर्थिक सहायता के लिए अनुरोध करते हुए पत्र लिखा (29 अप्रैल 1898), "कोलकाता से मैं एक पत्रिका प्रकाशित करूँगा। यदि तुम पत्रिका चालू करने में मेरी सहायता करो, तो मैं तुम्हारा विशेष कृतज्ञ रहूँगा।" ऐसा लगता है कि मिस मैक्लाउड इसके लिए सहर्ष राजी हुई थीं, क्योंकि 20 मई 1898 को स्वामीजी ने कुछ रुपये भेजकर स्वामी ब्रह्मानन्द जी को लिखा, "पत्रिका के लिए अर्थ-संग्रह की चेष्टा हो रही है। 1200 रुपये पत्रिका के लिए मैंने जो भेजे हैं, उनको उसी कार्य के लिए रख देना।"

इसके बाद भी समस्या का समाधान नहीं हुआ। 17 जुलाई 1898 को स्वामीजी ने स्वामी ब्रह्मानन्द जी को पुनः लिखा– "तुमने जो लिखा है, उसमें मेरा वाक्य इतना ही है कि बँगला भाषा में पत्रिका को आत्मनिर्भर बनाना कठिन है, किन्तु यदि सब मिलकर घर-घर जाकर ग्राहक बनाएँ तो ऐसा करना सम्भव है। इस विषय में तुम्हें जो उचित प्रतीत हो करना। बेचारा सारदा एक बार निराश हो चुका है। जो व्यक्ति इतना कर्मठ और निःस्वार्थ हो, उसके लिए यदि एक हजार रुपये पर पानी भी फिर जाय, तो क्या नुकसान है।"

अन्ततः 'उद्बोधन' के नाम से जनवरी 1899 में (बंगाब्द 1305 के 1 माघ को) पत्रिका प्रकाशित हुई। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त एक हजार रुपये के अतिरिक्त एक हजार रुपये श्री हरमोहन मित्र से ऋण के रूप में लिए गए थे। यद्यपि स्वामीजी इसे दैनिक पत्र के रूप में प्रकाशित करना चाहते थे, पर अर्थाभाव के कारण वह पाक्षिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित हुई। प्रारम्भ होने के दस वर्ष के बाद से आज तक यह मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित हो रही है। आज यह बँगला की न केवल धर्म तथा संस्कृति सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है, वरन् बँगला की प्राचीनतम पत्रिकाओं में से एक है। प्रथम चार वर्षों तक इसके प्रकाशक और सम्पादक थे स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी। तब यह अपने निजी प्रेस (उद्बोधन) प्रेस में छपी थी, पर बाद में इस प्रेस को अर्थभाव के कारण बेच देना पड़ा। प्रेस खरीदने के लिए धन स्वामीजी की अमेरिकन शिष्या मिस मैक्लाउड ने दिया था।

इस पत्रिका का नाम स्वामीजी ने ही दिया था और इसकी उन्नति के लिए अनेकानेक आशीर्वाद दिए थे। इसकी प्रस्तावना भी स्वामीजी ने ही लिखी थी तथा समय-समय पर इसमें कई लेख भी लिखे थे। स्वामीजी इस पत्रिका से कितना प्रेम करते थे, इसका कुछ अनुमान श्री शरत् चन्द्र चक्रवर्ती से हुए उनके वार्तालाप को पढ़कर होता है। इस वार्तालाप से यह भी पता चलता है कि स्वामीजी के इस पत्रिका की सफलता, उसकी भाषा तथा उद्देश्य के बारे में क्या विचार थे। अतः इसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना उचित होगा।

स्वामीजी– (पत्र के नाम को विकृत करके)– 'उद्बन्धन' देखा है?

शिष्य– जी, हाँ। सुन्दर है।

स्वामीजी– इस पत्र के भाव-भाषा सभी कुछ नये ढाँचे में गढ़ने होंगे।

शिष्य– कैसे?

स्वामीजी– श्रीरामकृष्ण का भाव तो सबको देना ही होगा,

साथ ही बँगला भाषा में नया जोश लाना होगा। उदाहरणार्थ, बार-बार केवल क्रियापद का प्रयोग करने से भाषा की शक्ति घट जाती है, विशेषण देकर क्रियापदों का प्रयोग घटा देना होगा। तू ऐसी भाषा में निबन्ध लिखना शुरू कर दें। पहले मुझे दिखाकर फिर 'उद्बोधन' में प्रकाशित होने के लिए भेजते जाना।

शिष्य– महाराज, ... यह पत्र हर पन्द्रह दिन के बाद प्रकाशित होगा, हमारी इच्छा है कि यह साप्ताहिक हो।

स्वामीजी– यह तो ठीक है, परन्तु उतना धन कहाँ है? श्रीरामकृष्ण की इच्छा से यदि रुपये की व्यवस्था हो गयी, तो कुछ समय पश्चात् इसे दैनिक भी किया जा सकता है और प्रतिदिन इसकी लाखों प्रतियाँ छापकर कोलकाता की गली-गली में बिना मूल्य बाँटी जा सकती है।

जिस दिन यह वार्तालाप हुआ, उसी दिन रात में स्वामीजी ने 'उद्बोधन' के बारे में शिष्य से अनेक चर्चाएँ कीं और कहा, "'उद्बोधन' के द्वारा आम जनता के सामने भावात्मक आदर्श रखने होंगे। 'नहीं', 'नहीं' की भावना जनता को दुर्बल बना डालती है। ... तुम्हारे इतिहास, पुराण आदि सभी शास्त्र मनुष्य को केवल डराने का ही कार्य करते हैं। मनुष्य से केवल कह रहे हैं– 'तू नरक में जाएगा, तेरी रक्षा का कोई उपाय नहीं है।' इसलिए भारत की नस-नस में इतनी असवन्नता आ गयी है। अत: वेद-वेदान्त के उच्च भावों को सरल भाषा में लोगों को समझा देना होगा। सदाचार, सद्-व्यवहार और शिक्षा का प्रचार कर ब्राह्मण और चण्डाल को एक ही भूमि पर खड़ा करना होगा। 'उद्बोधन' में इन्हीं विषयों पर लिखकर बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी को उठा दे तो देखूँ। तभी जानूँगा तेरा वेद-वेदान्त पढ़ना सफल हुआ।"

'उद्बोधन' के लिए स्वामीजी ने जो प्रस्तावना लिखी थी, उसमें भी इन्हीं भावात्मक तथा बलप्रद विचारों के प्रसार पर जोर दिया गया था। भारतवर्ष में वे चाहते थे रजोगुण तथा सत्त्वगुण का मिश्रण, प्राच्य और पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों का मिलन तथा निर्भीक रूप से सत्य-मिथ्या का विचार। इन्हीं सब विषयों की मीमांसा को 'उद्बोधन' का उद्देश्य बताते हुए उस अमर रचना में स्वामीजी ने अत्यन्त तेजस्वी भाषा में अपने विचारों को लिपिबद्ध किया था तथा इस कार्य हेतु 'सहृदय, प्रेमी, विद्वत् समाज का आह्वान' करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया था कि 'उद्बोधन' "द्वेष-बुद्धि छोड़, व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक कुवाक्य-प्रयोग से विमुख होकर सब सम्प्रदायों की सेवा के लिए ही अपना शरीर अर्पण करता है।"

उपर्युक्त प्रस्तावना स्वामीजी ने सम्भवत: अक्टूबर 1897 में लिखी थी, पर 'उद्बोधन' का प्रथम अंक प्रकाशित होते और भी एक वर्ष से अधिक लग गया था। पत्रिका-प्रकाशन में ढील होते देख स्वामीजी ने स्वामी ब्रह्मानन्द जी को 11 अक्टूबर 1897 को लिखा था, "सारदा (स्वामी त्रिगुणतीतानन्द) बेचारे को मैंने बहुत खरी-खरी सुनाई है। क्या करूँ ... मैं डाँटता हूँ, पर मुझे भी तो बहुत कुछ कहना है। ... मैंने खड़े होकर हाँफते हुए उसके लिए लेख लिखा है।" यह लेख ही सम्भवत: 'उद्बोधन' की प्रस्तावना के रूप में छपा था। जनवरी 1899 में पत्रिका प्रारम्भ होने के बाद भी स्वामीजी का पत्रिका के लिए यह कठोर परिश्रम चलता रहा, उसके लिए आवश्यक सुझाव आदि भी वे देते रहे, और साथ में डाँट-फटकारों की बौछार भी। स्वामीजी के कठोर शासन से उनके गुरुभाई भी बचे नहीं थे। 10 अगस्त 1899 को उन्होंने लन्दन से स्वामी ब्रह्मानन्द जी को लिखा था, "सारदा ने लिखा है कि पत्रिका नहीं चल रही है। मेरे भ्रमण-वृत्तान्त को पर्याप्त विज्ञापन देकर छापे तो सही–देखते-ही-देखते ग्राहक बढ़ जाएँगें। पत्रिका के तीन-चौथाई हिस्से में केवल सिद्धान्त की बातें छापने से क्या हम लोकप्रिय हो सकते है? अस्तु, पत्रिका पर सतर्क दृष्टि रखना। समझ लेना कि मैं चल बसा हूँ। .... पत्रिका के लिए धन भी मैं एकत्रित करूँगा, लेख भी मेरे ही होंगे, तो फिर तुम क्या करोगे? .... न तो कोई एक पैसा ला सकता है और न प्रचार ही कर सकता है, किसी कार्य का संचालन करने की बुद्धि किसी में भी नहीं है। एक लाइन लिखने की ... शक्ति किसी में नहीं है–वैसे ही सब महापुरुष हैं।"

स्वामीजी की तीक्ष्ण दृष्टि सब समय 'उद्बोधन' की ओर थी। प्रूफ देखने में या छपाई में थोड़ी-सी भी त्रुटि वे सहन नहीं करते थे। समय पर पत्रिका न निकलने पर उनके तिरस्कार की सीमा न रहती थी। अधिकतर उनकी लांछना के शिकार होते थे स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी, जिन्होंने इस पत्रिका के लिए कठोर परिश्रम किया था। श्री कुमुदबन्धु सेन ने अपनी 'स्मृतिकथा' में लिखा है, "आज स्मरण हो आती है 'उद्बोधन' के सर्वप्रथम सम्पादक तथा प्रतिष्ठाता पूज्यपाद स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी की बात। ... देखा है ग्रीष्म-वर्षा में कितने दिनों तक कभी भूखे, कभी अधभूखे रहकर उन्हें प्रेस तथा पत्रिका का कार्य देखना पड़ रहा है। कम्पोजीटर नहीं आया है, उन्हें स्वयं दूसरे व्यक्ति की खोज करनी पड़ रही है; दूसरे दिन प्रेसमैन बीमार है, तो कहाँ से नया प्रेसमैन मिलेगा, इसकी खोज मे विभिन्न स्थानों में घूम रहे हैं, कभी प्रेस की साधन-सामग्री जुटाने के लिए भाग-दौड़ कर रहे हैं, और कभी प्रेस के लोगों को कार्य में सहायता दे रहे हैं। इसके अलावा उनको स्वयं तो लेख लिखने ही पड़ते, साथ ही लेखों के संग्रह भी करने पड़ते थे। ठीक समय पर पत्रिका प्रकाशित नहीं होने पर वे स्वामीजी की

फटकार सुनते। इसके सिवा प्रेस का कोई व्यक्ति बीमार होने पर उसकी चिकित्सा तथा पथ्य की व्यवस्था भी उन्हें ही करनी पड़ती थी। विभिन्न प्रकार से इतना कठोर परिश्रम करने पर भी उनके मुख पर सदा मुस्कान बनी रहती थी–थकावट का कोई चिन्ह नहीं दिखाई पड़ता था। अधिकतर कम्पोजीटर तथा प्रेसमैन गलियों में निवास करते थे। वे नि:संकोच उन गलियों में जाकर उन लोगों की खोज करते थे। तो भी पत्रिका में किसी प्रकार की भूल रह जाने पर या प्रूफ देखने में कोई त्रुटि रहने से अथवा गलत शब्द या भाव का प्रयोग होने पर स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी को विशेष रूप से डाँट सुननी पड़ती थी। पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द जी की इस ओर तीक्ष्ण दृष्टि थी। एक दिन उस प्रकार की घटना मैंने प्रत्यक्ष देखी थी। प्राध्यापक मैक्समूलर तथा श्रीरामकृष्ण के बारे में स्वामीजी का लेख उसी समय 'उद्बोधन' में प्रकाशित हुआ था। श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के अवसर पर त्रिगुणातीतानन्द जी के बेलूड़ मठ जाकर स्वामीजी के सन्मुख उपस्थित होने पर, उन्हें देखते ही 'उद्बोधन' में छपे उनके लेख में रह गयी भूलों का उल्लेख करके स्वामीजी ने उनकी बेहद भर्त्सना की। त्रिगुणातीतानन्द जी ने कहा, 'किस प्रकार के अपढ़ लोगों को लेकर कार्य करना पड़ता है, यह तो तुम समझना नहीं चाहते।' स्वामीजी ने कहा, 'रहने दो ये सब बातें। तुम लोगों ने जब काम हाथों में लिया तो उसमें त्रुटि क्यों रहेगी? उन लोगों को सिखाने का प्रयत्न किया है क्या? इस देश के लोग ही दोष छिपाने के लिए बहाना ढूँढते रहते हैं। उस देश की जिम्मेदारी ली है, वे बड़ी सावधानी के साथ उसे पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। जब तक त्रुटिरहित न हो, तब तक उसे छोड़ते नहीं। इस देश में छपने से ही हो गया, गलतियाँ रहती हैं तो रहें। एक शब्द भी इधर-उधर होने से अर्थ पलट जाता है। कितनी सावधानी से प्रूफ देखना पड़ता है। तुम लोग यदि पत्रिका में भूल छापोगे, तो लाभ क्या हुआ बोलो तो?"

बाहर से भर्त्सना करने पर भी स्वामीजी के अन्तर में अपने गुरुभाई के प्रति अगाध विश्वास और असीम प्रेम था। स्वामीजी का स्वभाव ऐसा अद्भुत था– सामने डाँट-फटकार और पीछे-पीछे प्रशंसा का वर्षण! स्वामीजी ने एक बार अपने शिष्य चन्द्र चक्रवर्ती से कहा था, "देख, मेरे आदेश का पालन करने के लिए त्रिगुणातीत साधन-भजन, ध्यान-धारणा तक छोड़कर कर्तव्य-क्षेत्र में उतर पड़ा है। क्या यह कम त्याग की बात है? मेरे प्रति कितने प्रेम से कर्म की यह प्रेरणा उसमें आयी है, देख तो, पूरा काम होने पर ही वह उसे छोड़ेगा। क्या तुम लोगों में ऐसी दृढ़ता है? ... ये लोग काम करते-करते मर जाएँगे, फिर भी पीछे हटनेवाले नहीं।" सचमुच ही अमेरिका में स्वामीजी का कार्य करते हुए ही स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी एक पागल शिष्य द्वारा फेंके बम से आहत होकर शहीद हुए थे। अमेरिका में भी उन्होंने एक पत्रिका का प्रकाशन किया था– 'वायस ऑफ फ्रीडम'।

शिवजी के समान एक क्षण में रुद्र रूप तथा दूसरे ही क्षण आशुतोष रूप धारण करनेवाले स्वामीजी का यह व्यक्तित्व शचीन्द्र बसु की स्मृतिकथा में बड़ा सुन्दर निखरा है। 'उद्बोधन' के लिए स्वामीजी की प्रेरणा, दृढ़ इच्छा-शक्ति तथा कठोर अनुशासन और दूसरी ओर स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी का कठोर परिश्रम, अविराम संग्राम, गुरुभाई के प्रति प्रेम तथा आज्ञाकारिता, सबका सजीव चित्रण भी इसमें मिलता है–

"पिछले सोमवार (6 नवम्बर 1898 को) मैं स्वामीजी के साथ (बेलूड़ मठ से) बागबाजार आया। (बलराम बाबू के घर के) हॉल में (स्वामीजी) बैठे, हम लोग–मैं तथा राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) भी बैठे। कुछ देर बाद शरत् चन्द्र चक्रवर्ती आए। इधर-उधर की बातचीत हो रही थी कि इतने में ज्वर से आक्रान्त सारदा महाराज हिलते-डुलते वहाँ उपस्थित हुए।

स्वामीजी तथा राखाल महाराज ने एक साथ त्रिगुणातीतानन्द जी की अभ्यर्थना की–क्या बाबाजी, आओ, आज क्या समाचार है? प्रेस का कार्य कहाँ तक पहुँचा? बोलो, बोलो, बैठो, बैठो।

त्रिगुणातीत–(नाक से बोलते हुए)–अरे भाई, और तो नहीं होता–ये सब काम हम लोगों का है भाई? .... सारे दिन तीर्थ के कौओं के समान बैठे रहना पड़ता है, न तो कोई काम है और न अन्य कुछ। एक job work (छपाई का काम) मिला है, किन्तु उससे क्या होगा? बहुत हुआ तो आठ आने मिलेंगे। मैं प्रेस को बेचने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

स्वामीजी– कहता क्या है रे? इसी बीच तेरा सब शौक मिट गया? और कुछ दिन देख, फिर छोड़ना। इस तरफ प्रेस को ले आ न, कुम्हारटोली के पास। हम सभी देख पाते।

त्रिगुणातीत– ना भाई, वहीं रहने दो। एक-दो दिन देखने दो। 15-20 रुपये का नुकसान करके बेच दूँगा।

स्वामीजी–ओ रे राखाल, यह बोलता क्या है? लगता है उसकी बहुत परीक्षा हुई है। इतने में ही तेरा सब चूर हो गया? धैर्य नहीं रहा?

यह बात बोलते बोलते स्वामीजी के नेत्र प्रज्वलित हो उठे। वे खड़े हो गए और सिंह की भाँति गरजकर बोले– 'कहता क्या है रे? बेच दे प्रेस को। मुझे धन की बड़ी जरूरत है। इसी मुहूर्त बेच डाल– 100-150 रुपयों का नुकसान कर के भी बेच दे। ... काम के नाम से ही इन सबको वैराग्य आ जाता है। "अरे भाई और तो नहीं होता– ये सब काम क्या हमारे हैं?" केवल खा-पीकर तोंद बढ़ाकर सोना चाहते हैं। जिन लोगों का किसी भी

कार्य में धैर्य नहीं, वे भी क्या मनुष्य हैं? ... तुझे प्रेस किए अभी तीन दिन भी तो नहीं हुए। जा, जा तेरा बहुत प्रयोग हो चुका–तेरी तो बड़ी साध थीं किसने तुझे प्रेस चालू करने को कहा था? तूने ही तो मुझे लिख-लिखकर पैसे माँगे। ले आ न तेरा प्रेस यहाँ पर, वहाँ रखने का तेरा मतलब क्या है? और यह तुझे ज्वर होता रहता है, तू अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं देता है।'

त्रिगुणातीत– 8 रुपया किराया देना होगा, एक माह का एग्रीमेंट है।

स्वामीजी– छि: छि:। बोलता क्या है? ये सब लोग कोई काम कर सकते हैं। 8 रुपयों के लिए पड़ा हुआ है? तुम लोगों की यह क्षुद्रता कभी नहीं जाएगी। तू हरमोहन के ही समान है। तुम लोगों द्वारा कभी कोई व्यवसाय नहीं होगा। वह भी एक पैसे के आलू खरीदने के लिए पचास दुकानों में घूमेगा और अन्त में ठगकर मरेगा। ... प्रेस हमारे मठ में पहुँचा दे–हम लोगों को भी तो एक प्रेस चाहिए। देख, मैंने कितने व्याख्यान दिए हैं, कितने लिखे हैं, आधे भी अभी नहीं छपे। तू मुझे काम दिखा रहा है? राखाल, याद कर, वह कितने वर्षों पुरानी बात है– 12-13 वर्ष पहले, वहीं गंगा के किनारे बैठकर हम लोग उनकी (श्रीरामकृष्ण की) चिताभस्म लेकर रो रहे थे। मैंने कहा था–उनकी अस्थि गंगा के किनारे रखना उचित है, गंगा के किनारे ही मन्दिर होना उचित है, क्योंकि वे गंगा के किनारे रहना पसन्द करते थे। ... मेरी बात नहीं सुनी। उनकी चिताभस्म काँकुड़गाछी के उद्यानवाटी में रखी गयी। मेरा हृदय बहुत व्यथित हुआ था। राखाल, याद कर, मैंने क्या दृढ़ प्रतिज्ञा की थी? आज बारह वर्षों तक bull dog (बुलडॉग) की तरह उस idea (विचार) को लेकर सारे संसार का चक्कर लगाया है, एक दिन भी सोया नहीं। आज देख, उसे सफल किया। उस विचार ने मुझे एक दिन भी नहीं छोड़ा। ... इस प्रकार के लोगों से क्या उन्नति हो सकती है?

त्रिगुणातीत–भाई तुम्हारा मस्तिष्क कैसा अद्‌भुत है। अपना मस्तिष्क मुझे दोगे?

इस बात से वातावरण हास्य से गूँज उठा, क्योंकि बोलने की तारीफ थी। बाद में त्रिगुणातीतानन्द जी ने बताया कि ज्वर होने के बाद उन्होंने सुबह कुछ साबूदाना खाया है पर दोपहर में एक सेर रबड़ी, आधा सेर कचौड़ी और उसके साथ उचित मात्रा में सब्जी भी खायी है। यह बात सुनकर स्वामीजी ठहाका मारकर हँस पड़े और बोले, 'तू अपना पेट मुझे दे तो भला, संसार का चेहरा एकदम पलट दूँ। लाहौर में सूरजमल बोला था, "स्वामीजी तुममें नानक का मस्तिष्क तथा गुरु गोविन्दसिंह का हृदय आ चुका है–अब केवल जगमोहन (खेतड़ी के दीवान) के समान पेट की आवश्यकता है।'"

ऐसा ही अनोखा सम्बन्ध था स्वामीजी का अपने गुरूभाइयों के साथ और ऐसा ही कठोर संघर्ष करना पड़ा था उन लोगों को 'उद्‌बोधन' के प्रवर्तन के लिए। इसी प्राणपण प्रयत्न, तपस्या तथा संकल्प के फलस्वरूप इस पत्रिका ने आज 86 वर्षों बाद भी अपना अस्तित्व बनाए रखा है। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि आज (2002 ई॰ में) इसके 58,000 नियमित ग्राहक हैं।

(8)

हिन्दी तथा बँगला के अलावा अन्य देशी भाषाओं में भी पत्रिका प्रकाशित करने की स्वामीजी की इच्छा थी। डॉ॰ नंजुन्दा राव को 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के लिए प्रोत्साहन देने के बाद उन्होंने अपने उस पत्र में (26 अगस्त 1896 को) लिखा था, "जब तुम इस पत्र के संचालन में सिद्धि-लाभ कर लोगे, तब इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं–तमिल, तेलुगू और कन्नड़ आदि में भी पत्रिकाएँ शुरू करना।"

स्वामीजी की इच्छा को मूर्तरूप देने के लिए एक तमिल पत्रिका प्रकाशित करने की योजना बनायी गयी थी। पत्रिका का नाम रखा गया था– 'प्रबोध चन्द्रिका'। 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक श्री राजम् अय्यर ही उसके सम्पादक होनेवाले थे, पर उनके आकस्मिक निधन से पत्रिका प्रकाशित न हो सकी। खैर, स्वामीजी की इच्छा पूर्ण हुई अवश्य, किन्तु उनके देहावसान के बाद। सन् 1929 में श्रीरामकृष्ण मठ, चेन्नई, द्वारा 'श्रीरामकृष्ण विजयम्' के नाम से एक तमिल मासिक पत्रिका आरम्भ की गयी। आज तमिलनाडु की अत्यन्त लोकप्रिय पत्रिकाओं में इसकी गणना है। वर्तमान (2002 ई॰) में इसकी प्रसार-संख्या लगभग 90,000 है। यह किसी भी धर्मिक पत्रिका के लिए गर्व का विषय हो सकता है। श्रीरामकृष्ण मठ, चेन्नई, से ही एक तेलुगू मासिक पत्रिका– 'श्रीरामकृष्ण प्रभा' सन् 1944 से प्रकाशित हो रही है। वर्तमान में इसके लगभग 7,000 वार्षिक ग्राहक हैं, जिनमें लगभग 500 आजीवन सदस्य शामिल हैं।

वैसे ही मठ के त्रिचुर केन्द्र से 1914 ई॰ से 'प्रबुद्ध केरलम्' नामक एक मलयालम मासिकी प्रकाशित हो रही है। फिलहाल इसके लगभग 10,000 वार्षिक सदस्य हैं, जिनमें करीब 2,000 आजीवन हैं। रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वारा सन् 1957 से मराठी में 'जीवन विकास' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है, जिसकी (2002 ई॰ में) प्रसार-संख्या 10,500 है।

(9)

इस प्रकार स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में 'ब्रह्मवादिन्', 'प्रबल भारत', 'उद्‌बोधन' तथा कम-से-कम और भी तीन अँगरेजी पत्रिकाओं का प्रत्यक्ष रूप से प्रवर्तन किया था एवं कई अन्य पत्रिकाओं के प्रवर्तन में परोक्ष रूप से सहायता प्रदान की थी। (जिनमें 'वसुमती', 'डॉन' आदि शामिल हैं)। उनके देहत्याग के बाद भी कई पत्रिकाओं का प्रवर्तन उन्हीं की प्रेरणा से उनकी भावधारा को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए हुआ है और हो रहा है।

स्वामीजी ने कहा था, "हो सकता है कि मैं इस शरीर को पुराने वस्त्र की भाँति त्याग दूँ, किन्तु अपना कार्य बन्द नही करूँगा। मैं सर्वत्र लोगों को प्रेरणा देता रहूँगा जब तक कि वे जान न लें कि वे ब्रह्मस्वरूप हैं।" आज भी स्वामीजी अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा सर्वत्र अपने उदार भावों के प्रचार में लगे हुए हैं; इस कार्य के महत्वपूर्ण अंग हैं पत्र-पत्रिकाएँ। इसीलिए कभी-कभी वे मानों किसी के सिर पर सवार होकर उसे पत्रिका के प्रवर्तन तथा संचालन हेतु प्रेरित तथा विवश करते हैं। इस तरह अनेक पत्रिकाओं का प्रवर्तन स्वामीजी करवा रहे हैं और भविष्य में भी न जाने कितनों का करवाएँगे? धन्य हैं वे, जिन्हें स्वामीजी ने इस महत् कार्य के लिए यंत्रस्वरूप चुना है या चुनेंगे।

□□□

कविता

पुस्तकें

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

नहीं, इस कमरे में नहीं
उधर, उस सीढ़ी के नीचे,
उस गैरेज के कोने में
ले जाओ पुस्तकें;
वहाँ, जहाँ नहीं अट सकती फ्रिज,
जहाँ नहीं लग सकता आदमकद शीशा
बोरी में बाँधकर, चटाई से ढँककर
कुछ तख्ते के नीचे, कुछ फूटे गमले के ऊपर,
रख दो पुस्तकें।
ले जाओ इन्हें तक्षशिला, विक्रमशिला, या चाहे जहाँ
हमें उत्तराधिकार में नहीं चाहिए पुस्तकें।
कोई आएगा, झपटेगा पासबुक पर,
कोई ढूंढ़ेगा लॉकर की चाबी
किसी की आँख में चमकेंगे खेत
किसी में गड़े हुए सिक्के,
हाय, हाय! समय बूढ़ी दादी-सी उदास हो जाएंगी पुस्तकें।
पुस्तकें जहाँ भी रख दें वही पड़ी रहेंगी इंतजार में
आएगा कोई न कोई, दिग्भ्रमित बालक जरूर
किसी न किसी शताब्दी में,
अंधेरे में टटोलते अपनी राह;
स्पर्श से पहचान लेना उसे
आहिस्ता-आहिस्ता-
खोलना अपना हृदय
जिसमें सोया है अनन्त समय और ढंका हुआ सत्य,
दबा हुआ गुस्सा और गूंगा प्यार,
दुश्मनों के जासूस पकड़ नहीं सकें जिसे।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के प्रेरणापुरुष

–स्वामी विदेहात्मानन्द

(स्वामी विवेकानन्द की धारणा थी कि भारत में पुन: स्वर्णिम युग लाने के लिए सबसे पहले आम जनता को शिक्षित तथा संगठित करना होगा और उसके बाद ही सार्थक रूप से स्वाधीनता-आन्दोलन हो सकेगा। उनके समकालीन तथा परवर्ती पीढ़ी के अधिकांश राष्ट्र-निर्माताओं ने उनके नक्शे-कदम पर चलकर उनके स्वप्नों के रूपायन हेतु काफी-कुछ किया। इस लेख में दिखाया गया है कि किस प्रकार नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की तरुणाई से लेकर आजीवन ही स्वामीजी उनके जीवन और विचारों में छाए रहे।)

स्वामीजी की भावमूर्ति

पाश्चात्य देशों में भारतीय संस्कृति की धवल पताका फहराने और सनातन वैदिक धर्म का ओजस्वी सन्देश देने के बाद स्वामी विवेकानन्द स्वदेश लौटे। कई वर्षों के अन्तराल के उपरान्त 15 जनवरी, 1897 ई॰ को उन्होंने भारतभूमि पर पुन: पदार्पण किया और सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हुए राष्ट्र का पुनर्गठन करने हेतु जनसाधारण और विशेषकर नवयुवकों का आह्वान किया। चेन्नई में अपने 'भारत का भविष्य' विषयक व्याख्यान में उन्होंने कहा, "आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि ही मानो तुम्हारी आराध्य देवी बन जाय। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में भी कोई हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं।

बड़े ही विस्मय की बात है कि जिन दिनों स्वामीजी के मन में इस तरह के विचार उठ रहे थे, उन्हीं दिनों 23 जनवरी, 1897 ई॰ के दिन एक ऐसे शिशु का जन्म हुआ, जिसके जीवन में स्वामीजी के उपरोक्त शब्द अक्षरश: चरितार्थ हुए थे। आगे चलकर यही वाणी तरुण सुभाष के जीवन का मानो मूलमंत्र बन गयी थी और उन्होंने ईश्वरोपलब्धि के लिए संन्यास ग्रहण करने की अपनी प्रबल आकांक्षा को त्यागकर प्राय: पचास वर्ष की आयु तक देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया, भारतमाता तथा उनकी सन्तानों की सेवा में लगे रहे और अपने आजीवन श्रम के फलप्रसू होने के चिन्ह दृष्टिगोचर होते ही अन्तर्धान हो गए। कुछ लोगों का कहना है कि एक विमान-दुर्घटना में उनका देहावसान हो गया और कुछ अन्य का अनुमान है कि उन्होंने संन्यास लेकर अपनी चिराकांक्षित मोक्ष की साधना में मनोनियोग किया।

साहित्य से परिचय

स्वामी विवेकानन्द की अग्निमयी वाणी के प्रबल प्रभाव के विषय में नोबल पुरस्कार विजेता सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार रोमाँ रोलाँ कहते हैं– "उनके शब्द महान् संगीत हैं, बीथोवन शैली के टुकड़े हैं, हैण्डेल के समवेत गान के छन्दप्रवाह की भाँति उद्दीपक लय हैं। शरीर में विद्युत्-स्पर्श के से आघात की सिरहन का अनुभव किए बिना मैं उनके उन वचनों का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्ष की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों पर बिखरे पड़े हैं, और जब वे ज्वलन्त शब्दों के रूप में नायक के मुख से नि:स्त्रित हुए होंगे, तब तो न जाने कैसे-कैसे आघात और आवेग उत्पन्न हुए होंगे।" स्वामी विवेकानन्द की इस वाणी के साथ अपने प्रथम परिचय की बात सुभाष बाबू ने अपनी आत्मकथा में सविस्तार लिखी है। 1912 ई॰ में जब वे तरुणाई के झंझावातों से होकर गुजर रहे थे, तभी उनके जीवन में यह महत्त्वपूर्ण घटना हुई और इसके फलस्वरूप उनके चिन्तन को एक नयी दिशा मिली। वे लिखते हैं– "एक दिन अकस्मात् ही मैंने अपने को ऐसी स्थिति में पाया, जिससे संकट की उन घड़ियों में मुझे सर्वाधिक सहायता मिली। मेरे एक सम्बन्धी (सुहृद् चन्द्र मित्र), जो हमारे शहर में नये नये आए थे, हमारे बगल के ही मकान में निवास करते थे। एक दिन मुझे (किसी कार्यवश) उनके घर जाना पड़ा। उनकी पुस्तकों के अन्तर्गत मेरी निगाह स्वामी विवेकानन्द के

वाङ्मय पर पड़ी। मैंने उसके कुछ ही पन्ने पलटे होंगे कि मुझे अनुभव होने लगा–यही तो है वह चीज, जिसकी खोज मैं व्याकुलता के साथ कर रहा था। मैंने उनसे वे पुस्तकें माँग लीं, उन्हें घर ले आया और पढ़ने में जुट गया। उनका सन्देश मेरी अन्तरात्मा में गहरे-से-गहरे प्रवेश करता गया। मेरे प्राध्यापक ने पहले से ही मुझमें सौन्दर्यानुभूति तथा नैतिक भावना को जाग्रत कर दिया था ... लेकिन वे मुझे कोई ऐसा आदर्श नहीं दे सके थे, जिसको मैं अपना सम्पूर्ण अस्तित्व समर्पित कर पाता; वह तो मुझे विवेकानन्द ने प्रदान किया।

"मैं उन पुस्तकों को दिन-पर-दिन, सप्ताह-पर-सप्ताह और महीने-पर-महीने पढ़ता चला गया। मुझे सर्वाधिक प्रेरणा उनके पत्रों तथा कोलम्बों से अल्मोड़ा तक प्रदत्त उनके 'भारतीय व्याख्यानो' से मिली, जिनमें देशवासियों के लिए व्यावहारिक प्रवचन थे। इस अध्ययन से मुझे उनके विचारों का सार ग्रहण करने में सफलता मिली। तब मैं समझ सका कि जीवन का परम लक्ष्य है– **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**– अपनी मुक्ति और मानवता की सेवा। पूर्ण आदर्श न तो मध्ययुग का आत्मनिष्ठ संन्यास हो सकता है और न बैन्थम तथा मिल का आधुनिक उपयोगितावाद। फिर यह भी मैंने समझा कि मानवता की सेवा के अन्तर्गत देश की सेवा भी नि:सन्देह आ जाती है, जैसा कि उनकी प्रमुख शिष्या और जीवनी-लेखिका भगिनी निवेदिता ने लिखा है, 'उनकी उपासना की अधिष्ठात्री देवी भारतमाता थी। इस देश में कहीं भी, किसी की भी आँखों में कभी आँसू उमड़े, तो उसकी प्रतिक्रिया उनके मन में निश्चय ही होती थी।' स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक मार्मिक भाषण में कहा है, 'प्यारे भाइयो, चारों ओर यह सन्देश गूँजने दो कि यह नंगा और भूखा भारतीय, निरक्षर भारतीय, ब्राह्मण भारतीय और शूद्र भारतीय मेरा अपना ही भाई है।' भविष्य के बारे में स्वामीजी ने लिखा था– 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के दिन लद चुके हैं और अब शूद्र की बारी है, भविष्य पददलितों का है।' उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की आधुनिक व्याख्या की। वे अक्सर कहा करते थे कि उपनिषदों का मूलमंत्र है शक्ति। नचिकेता के समान हमें अपने आप में श्रद्धा रखनी होगी। ...

"मैं उस समय मुश्किल से पन्द्रह वर्ष का था, जब विवेकानन्द ने मेरे जीवन में प्रवेश किया। इसके परिणामस्वरूप मेरे भीतर एक उथल-पुथल मच गयी, एक क्रान्ति घटित हुई। स्वामीजी को समझने में तो मुझे काफी समय लगा, लेकिन कुछ बातों की छाप मेरे मन में शुरू से ही ऐसी पड़ी कि कभी मिटाये न मिट सकी। विवेकानन्द अपने चित्रों में और अपने उपदेशों के जरिये मुझे एक पूर्ण विकसित व्यक्तित्व लगे। मैंने उनकी कृतियों में उन अनेक प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर पाए, जो मेरे मन में उस समय घुमड़ रहे थे और या तो अस्पष्ट थे या फिर बाद में स्पष्ट होकर सामने आए। अब मैंने उस मार्ग पर विचार करना आरम्भ किया, जो मुझे विवेकानन्द ने दिखाया था।

"विवेकानन्द के द्वारा मैं क्रमश: उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस की ओर झुका। विवेकानन्द के भाषणों और पत्रों आदि के संग्रह छप चुके थे और सभी के लिए सामान्य रूप से उपलब्ध थे। परन्तु रामकृष्ण बहुत कम पढ़े-लिखे थे और उनके कथन उस प्रकार उपलब्ध नहीं थे। उन्होंने जो भी जीवन जिया, उसके स्पष्टीकरण का भार औरों पर छोड़ दिया। फिर भी उनके शिष्यों ने कुछ पुस्तकें और डायरियाँ प्रकाशित कीं, जो उनसे हुई बातचीत पर आधारित थीं और जिनमें उनके उपदेशों का सार दिया गया था। इन पुस्तकों में चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में सामान्यत: और आध्यात्मिक उत्थान के बारे में विशेषत: व्यावहारिक दिशानिर्देश दिए गए हैं। रामकृष्ण परमहंस बार-बार इस बात को दुहराया करते थे कि आत्मानुभूति के लिए त्याग अनिवार्य है और सम्पूर्ण अहंकार-शून्यता के बिना आध्यात्मिक विकास असम्भव है। उनके उपदेशों में कोई नयी बात नहीं है। वे वस्तुत: उतने ही पुराने हैं, जितनी भारतीय सभ्यता। ... परन्तु रामकृष्ण के उपदेशों की विशेषता यह थी कि उन्होंने जो कुछ कहा, उसी के अनुरूप अपने जीवन को ढाला और उनके शिष्यों के अनुसार वे आध्यात्मिक प्रगति की चरम सीमा तक पहुँच गए थे।

"शीघ्र ही मैंने अपने मित्रों की एक मण्डली बना ली, जिनकी रुचि रामकृष्ण और विवेकानन्द में थी। स्कूल में और स्कूल के बाहर जब कभी हमें मौका मिलता, हम इसी विषय पर चर्चा करते। क्रमश: हमने दूर-दूर तक भ्रमण करना आरम्भ किया, ताकि हमें मिल-बैठकर और अधिक बातचीत करने का अवसर मिले।"

जीवन-दर्शन पर गहन प्रभाव

इन्हीं दिनों कटक से सुभाष बाबू ने अपनी माता श्रीमती प्रभावती देवी को जो 8-9 पत्र लिखे थे, उनमें उनके चिन्तन में उन दिनों आए इस परिवर्तन की स्पष्ट छाप है, ईश्वर तथा राष्ट्र के लिए जीवन उत्सर्ग कर देने की अदम्य लालसा की झलक है। एक स्थान पर वे लिखते हैं– "ईश्वर का अनुग्रह कम नहीं है। देखो तो जीवन में हर क्षण उनके अनुग्रह का परिचय मिलता है। ... विपत्ति में लोग ईश्वर का स्मरण करते हैं। मैं तो हृदय में पूर्ण निष्ठा से स्मरण करता हूँ। पर जैसे ही विपत्ति समाप्त होती है और सुख के दिन आते हैं, हम ईश्वर का स्मरण करना भूल जाते हैं। उसी कारण कुन्ती ने कहा था कि हे भगवन्, तुम मुझे सदैव विपत्ति में रखना, तब मैं सच्चे हृदय से तुम्हें स्मरण करूँगी, सुख-वैभव में तुमको भूल जाऊँगी, इसलिए मुझे सुख मत देना।"

एक अन्य पत्र में वे लिखते हैं– "संसार के तुच्छ पदार्थों के लिए हम कितना रोते हैं, किन्तु ईश्वर के लिए हम अश्रुपात नहीं करते। माँ, हम तो पशुओं से भी अधिक कृतघ्न और पाषाण-हृदय हैं। उस शिक्षा को धिक्कार है, जिसमें ईश्वर का नाम नहीं और उस व्यक्ति का जन्म निरर्थक है, जो प्रभु के नाम का स्मरण नहीं करता।"

तदुपरान्त उन्होंने लिखा था– "ईश्वर ने हमको सांसारिक प्रलोभन के खिलौनों से बहका रखा है और माया में फँसा रखा है। माँ अपने कार्य में व्यस्त है, बच्चा खिलौनों से खेल रहा है। जब तक शिशु खिलौनों को फेंककर 'माँ' 'माँ' पुकारता हुआ व्याकुल नहीं हो उठता, तब तक माँ उसके पास नहीं आती। माँ सोचती है, बच्चा तो खेल ही रहा है, मैं क्यो जाऊँ? परन्तु जब बच्चे का रुदन माँ के मर्म को वेध देता है, तब माँ दूर नहीं रह सकती और भागकर बच्चे के पास आ जाती है। विश्वजननी दुर्गा भी माँ की भाँति है, वे भी माँ है। पूर्ण एकाग्रता से भगवान का स्मरण किए बिना वे हमें नहीं मिलते।"

इन उद्धरणों में हम देखते हैं कि वे अधिकांशत: श्रीरामकृष्ण की ही वाणी को अपने शब्दों में दुहरा रहे हैं। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने उन दिनों उनके हृदय पर कैसा अधिकार जमा लिया था। और स्वामीजी ने ?8 जनवरी, 1913 ई॰ को अपने मँझले भाई के नाम पत्र में उन्होंने लिखा था– "भारतवर्ष की कैसी दशा थी और अब कैसी हो गयी है? कितना शोचनीय परिवर्तन है! कहाँ हैं वे परम ज्ञानी, महर्षि, दार्शनिक! कहाँ हैं हमारे वे पूर्वज, जिन्होंने ज्ञान की सीमा का स्पर्श कर लिया था। ... सब कुछ समाप्त हो गया। अब वेदमंत्रों का उच्चारण नहीं होता। पावन गंगातट पर अब सामगान नहीं गूँजते, परन्तु हमें अब भी आशा है कि हमारे हृदय से अन्धकार को दूर करने और अनन्त ज्योतिशिखा प्रज्जवलित करने के लिए आशादूत अवतरित हो गए हैं। वे हैं–विवेकानन्द। वे दिव्य कान्ति और मर्मवेधी दृष्टि से युक्त हो संन्यासी के वेश में विश्व में हिन्दू धर्म का प्रचार करने के लिए ही आए हैं। अब भारत का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1912-13 ई॰ में जब सुभाष राबेन शा स्कूल, कटक के छात्र थे, तभी स्वामीजी ने उनके जीवन में प्रवेश किया था और उनके हृदय पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। इसके फलस्वरूप उनके जीवन का ढर्रा ही बदल गया। उनके जीवन में आए परिवर्तन की ओर उनके माता-पिता का ध्यान गया। वे डरे और सुभाष को डाँटा-फटकारा भी, पर इस दृढ़-निश्चयी तरुण को स्वनिर्वाचित पथ से डिगा पाना भला किसके बस की बात थी। अब से वे ध्यान, योग तथा ब्रह्मचर्य आदि से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन और तदनुसार साधनाएँ करने लगे। गुरु अथवा पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता का बोध होने के कारण वे नगर में आने-जाने वाले साधु-संन्यासियों से मेल-जोल बढ़ाने लगे, परन्तु उन्हें आशानुरूप समाधान नहीं मिला।

फिर रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों का भी उनके परिवार से किंचित् सम्पर्क था। डॉ॰ हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त सुभाष बाबू के एक निकट सहयोगी तथा जीवनीकार थे। उन्होंने लिखा है– "रामकृष्ण मिशन के संन्यासी उनके पिता जानकी बाबू के अन्तरंग मित्र हरिवल्लभ बोस और उनके पुत्र रामकृष्ण बोस से मिलने आया करते थे। कटक के अपने विद्यार्थी जीवन में वे (सुभाष) उन लोगों द्वारा प्रदर्शित सेवाभाव से भी प्रभावित थे।"

साधना में आशानुरूप प्रगति न होने के कारण भी अब सुभाष को ऐसा लगा कि इसके लिए पहले चित्तशुद्धि कर लेना आवश्यक है और इस कारण उनका रुझान सेवाकार्य की ओर हुआ। वे लिखते हैं– "धीरे-धीरे मुझे समझ में आने लगा कि आध्यात्मिक विकास के लिए समाज-सेवा जरूरी है। यह भाव सम्भवत: विवेकानन्द के अध्ययन से ही पनपा था, क्योंकि .. . उन्होंने मानवता की सेवा का उपदेश दिया था, जिसके अन्तर्गत देश की सेवा भी आ जाती है। उन्होंने सबसे यह भी कहा था कि वे गरीबों की सेवा करें, क्योंकि गरीबों की सेवा करना ही भगवान की पूजा है।" तब से गरीबों, दीन-दुखियों तथा साधुओं के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण हो गया और वे यथासम्भव उन लोगों की सहायता करके बड़े सन्तोष का अनुभव करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने कुछ मित्रों के साथ गाँवों में जाकर कुछ सेवा-कार्य करने का भी प्रयास किया। कहीं-कहीं उन्हें थोड़ी सफलता मिली, पर किन्हीं अन्य ग्रामों में वहाँ के निवासियों के असहयोग के चलते उन्हें निराश होकर वापस लौट आना पड़ा था।

तदुपरान्त, उन्हीं के शब्दों में– "अपने स्कूली जीवन की समाप्ति के साथ-साथ मेरी धार्मिक रुचि और जोर पकड़ती गयी। पढ़ाई का अब मेरे लिए प्राथमिक महत्त्व नहीं रह गया था। ... अध्यापकों से हमें कोई प्रेरणा नही मिलती थी–केवल दो-एक अध्यापक ही अपवादस्वरूप थे, जो रामकृष्ण और विवेकानन्द के अनुयायी थे। ... अपने मन को अन्धविश्वास से मुक्त करने के इस प्रयास में विवेकानन्द से मुझे बड़ी सहायता मिली। उन्होंने जिस धर्म की शिक्षा दी और योग सम्बन्धी जो धारणा प्रस्तुत की, उसका आधार वेदान्त था, जो एक युक्तिसंगत दर्शन है। वेदान्त सम्बन्धी उनकी अवधारणा वैज्ञानिक सिद्धान्तों के विरुद्ध न होकर उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित थीं। उनके जीवन का एक प्रमुख कार्य धर्म और विज्ञान में समन्वय स्थापित करना था और उनके विचार से ऐसा वेदान्त के जरिये किया जा सकता था।"

परन्तु धर्म और सेवा में अपनी इस रुचि के बावजूद सुभाष ने अपने अध्ययन में उपेक्षा नहीं दिखायी थी। 1913 ई॰ की मैट्रिकुलेशन का परीक्षाफल निकलने पर पता चला कि कोलकाता विश्वविद्यालय के अन्तर्गत बैठनेवाले दस हजार विद्यार्थियों में कटक के सुभाषचन्द्र बोस ने दूसरा स्थान प्राप्त किया था। पहला स्थान मिला था मित्रा इंस्टिटयूशन के प्रमथ सरकार को। सुभाष के छात्र-जीवन के साथी दिलीप कुमार राय ने अपने संस्मरणों में बताया है कि उनका एक अन्य सहपाठी निवारण कटक से आया था। उसने बताया– "वह (सुभाष) इस प्रमथ सरकार को पीछे छोड़ देता, बशर्ते वह उसी की भाँति किताबी कीड़ा होता। किन्तु सुभाष! वह कभी भी पाठ्य-पुस्तकों को मस्तिष्क में ठूँसने की कोशिश नहीं करता। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि वह योगियों और संतों का सत्संग करता है और स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ता रहता है।"

अब उच्चतर शिक्षा के लिए सुभाष को कटक से कोलकाता भेजा गया। साढ़े सोलह साल के इस तरुण ने वहाँ आते ही अपना भावी कार्यक्रम तय कर लिया– "मैं दर्शनशास्त्र का गहन अध्ययन करूँगा, जिससे मैं जीवन की मूलभूत समस्या का समाधान प्राप्त कर सकूँ, व्यावाहारिक जीवन में जहाँ तक सम्भव हो रामकृष्ण और विवेकानन्द के पदचिन्हों पर चलूँगा और चाहे कुछ भी हो, मैं सांसारिकता की ओर नहीं मुड़ूँगा।" वे आगे लिखते हैं, "यह दृष्टिकोण लेकर मैंने अपने जीवन के नये अध्याय का श्रीगणेश किया।"

प्रेसीडेंसी कॉलेज के नाम से मशहूर कोलकाता के सर्वश्रेष्ठ महाविद्यालय में सुभाष को प्रवेश मिला। वहाँ आते ही वे अपने समान विचारधारा रखनेवाले सहपाठियों की खोज करने लगे। शीघ्र ही उन्हें पता चला कि कॉलेज में चार प्रकार के विद्यार्थियों के दल हैं। एक श्रेणी थी राजाओं, जमींदारों तथा धनाढ्य परिवारों से आए तथा उनसे सम्पर्क रखने के आकांक्षी छात्रों की; दूसरी प्रकार उनका था, जिन्हें किताबी कीड़े कहा जा सकता है; तीसरी टोली ऐसे छात्रों की थी, जो रामकृष्ण-विवेकानन्द के आदर्शों पर चलने का प्रयास कर रहे थे और चौथा वर्ग था गुप्त क्रान्तिकारियों का दल। जैसा कि स्वाभाविक था, सुभाष तीसरी टोली के साथ जुड़ गए। मेडिकल कॉलेज के ही छात्र सुरेश चन्द्र वन्द्योपाध्याय तथा युगलकिशोर आढ्य इस टोली के अगुआ थे। इस दल की विचारधारा के विषय में सुभाष लिखते हैं– "यह टोली आमतौर पर रामकृष्ण और विवेकानन्द के बताये मार्ग पर चलती थी, लेकिन आध्यात्मिक उन्नति के लिए सेवा पर जोर दिया करती थी। समाज-सेवा से उनका तात्पर्य अस्पताल या दातव्य चिकित्सालय स्थापित करना नहीं था, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द के शिष्य किया करते थे, बल्कि मुख्यत: शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण था। ... अत: हमें नव-विवेकानन्द टोली कहा जा सकता था और हमारा मुख्य उद्देश्य था धर्म और राष्ट्रीयता का न केवल सैद्धान्तिक रूप में, बल्कि वास्तविक जीवन में भी समन्वय।"

इस टोली के छात्र बड़े ही सक्रिय तथा कुशाग्रबुद्धि थे। वे लोग नये-नये छात्रों को अपनी टोली में भरती करते रहते; दर्शन, इतिहास और राष्ट्रीयता आदि विषयक पुस्तकें पढ़कर नये विचार ढूँढ़ निकालते तथा उनका आपस में आदान-प्रदान करते और अपने काल के महत्वपूर्ण व्यक्तियों से सम्पर्क साधने का भी प्रयास करते रहते थे। छुट्टियों में ये लोग आध्यात्मिक प्रेरणा की खोज में हरिद्वार आदि स्थानों की तथा ज्ञानवर्धन के निमित्त ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों की यात्रा किया करते थे। कभी वे लोग गुरुकुल कांगड़ी या शन्तिनिकेतन जाकर वहाँ की शिक्षाप्रणाली का अध्ययन करते, तो कभी बेलूड़ मठ में जाकर निवास करते। उसी वर्ष जाड़े के दिनों में इस दल ने कोलकाता से 50 मील दूर स्थित शान्तिपुर में एक शिविर लगाया था, जिसमें सभी सदस्यों ने गेरुए वस्त्र धारण करके भाग लिया था।

उन दिनों कोलकाता और यहाँ तक कि अखिल भारतीय राजनीति में भी श्रीअरविन्द तथा सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय का बड़ा नाम था, परन्तु सुभाष की रुचि इन दिनों धर्म तथा समाज-सेवा तक ही सीमित रही। इन्हीं दिनों उन्होंने दक्षिण कोलकाता की एक संस्था 'अनाथ-भण्डार' के लिए प्रति रविवार को घर-घर जाकर भिक्षा माँगने का कार्य भी प्रारम्भ किया। छुट्टियों के दौरान घर आने पर वे अपने कुछ मित्रों के साथ हैजे के रोगियों की सेवा के लिए एक सप्ताह तक ग्रामीण क्षेत्रों का भी दौरा करते रहे। कोलकाता लौटने पर वे फिर अच्छे साधु-संन्यासियों की तलाश में लग गए, परन्तु कहीं भी उन्हें पूर्ण सन्तुष्टि नहीं मिली।

गुरु की खोज में

उस वर्ष की पढ़ाई पूरी होते-होते उनकी गुरु-प्राप्ति की अभिलाषा इतनी तीव्र हो उठी कि 1914 ई॰ की गर्मी की छुट्टियों में वे अपने एक मित्र हेमन्त कुमार सरकार के साथ तीर्थाटन को निकल पड़े। इस यात्रा से उनकी वापस घर लौटने की इच्छा बिल्कुल भी नहीं थी और प्रस्थान करने के बाद रास्ते में एक पत्र लिखकर उन्होंने अपने परिवार को इसकी सूचना भी दे दी थी। हरिद्वार पहुँचने पर एक और मित्र उनकी टोली में सम्मिलित हो गया। उन लोगों ने ऋषिकेश, मथुरा, वृन्दावन, दिल्ली, आगरा, वाराणसी और गया आदि स्थानों की यात्रा की और जितने भी प्रकार के सम्भव थे आश्रम देखे तथा साधु-संन्यासियों से भेंट की। कहीं उनका स्वागत हुआ, तो कहीं उन्हें अपमान सहने पड़े और कहीं-कहीं तो उन पर छद्मवेशी क्रान्तिकारी होने का भी

सन्देह किया गया। वे लोग रामकृष्ण मठ तथा मिशन के भी किसी केन्द्र में गए थे। सुभाष बाबू ने लिखा है– "हम वाराणसी आए, जहाँ हमारा स्वागत रामकृष्ण मिशन में मठ के स्वर्गीय (अध्यक्ष) स्वामी ब्रह्मानन्द ने किया, जो मेरे पिताजी और परिवार से भलीभाँति परिचित थे।"

सुभाष बाबू ने अपनी आत्मकथा में इस विषय में केवल इतनी ही जानकारी दी है, क्योंकि यह उनके हृदय का एक अंतरंग विषय था। परन्तु दिलीप कुमार राय द्वारा लिखित संस्मरणों में भेंट का किंचित् विवरण प्राप्त होता है कि उस अवसर पर श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र और स्वामी विवेकानन्द के उत्तराधिकारी ब्रह्मानन्द जी ने उनसे क्या बातें की थीं और क्या उपदेश दिए थे। दिलीप जब सुभाष को स्वामी ब्रह्मानन्द के अपने संस्मरण सुनाने लगे, तो सुभाष के मानस-पटल पर उनकी पुरानी यादें ताजी हो आयी थीं, उनके नेत्र छलछला उठे थे और वे दिलीप के दोनों हाथ पकड़कर कह उठे थे– "जिसे कृपा मिलती है, उसका जीवन ही बदल जाता है। ... मुझे भी उस कृपा का आभास मिला है, इसीलिए तो देश के कार्य हेतु जीवन देकर इसे सार्थक कर देना चाहता हूँ। तुम्हें यह भी बता दूँ कि इन्हीं राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) ने मुझे काशी में यह कहकर वापस लौटा दिया था कि तुझे देश का काम करना है।"

क्रान्तिकारी नरेन्द्र नारायण चक्रवर्ती ने अपने जीवन का बारह वर्षों से भी अधिक काल जेलों में बिताया था। वे नेताजी विषयक अपनी स्मृतिकथा में उपरोक्त सन्दर्भ में लिखते हैं– "स्वामी ब्रह्मानन्द से उन्हें भावी जीवन के बारे में पथ-प्रदर्शन मिला था। सुभाष जब सद्गुरु की तलाश में उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए काशीधाम आए थे, तभी उनकी भेंट स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ हुई थी। उनके पिता जानकीनाथ ब्रह्मानन्द जी के प्रियपात्र थे। सुभाष का परिचय तथा मनोभाव जानने के बाद स्वामी ब्रह्मानन्द ने सुभाष को सस्नेह निकट खींच लिया था और उनके शरीर एवं सिर पर हाथ फेरते हुए घर लौट जाने को कहा था। उन्होंने यह भी कहा था कि सुभाष के लिए उसका 'अद्भुत भविष्य' प्रतीक्षा कर रहा है। विरागी सुभाष ने उस दिन उनकी बातें शिरोधार्य की थीं और संन्यास-ग्रहण की प्रबल आकांक्षा को प्रशमित कर घर लौट आए थे। 1939 ई॰ में (सुभाष के साथ) कारागृह में (रहते समय) राजनीति को छोड़ प्रायः किसी अन्य विषय पर चर्चा नहीं होती थी। तो भी बीच-बीच में वे अपने बचपन तथा किशोरावस्था की बातें बताया करते थे। एक ऐसे ही अवसर पर उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ अपनी मुलाकात के बारे में बताया था। मैंने पूछा था, '(स्वामी ब्रह्मानन्द ने आपको जो घर लौटने को कहा था, उसमें आपके) पिता की बात सोचकर अर्थात् घर भेज देने से आपके पिताजी आनन्दित होंगे, यह तो एक पक्ष हुआ; दूसरा पक्ष यह कि स्वामी ब्रह्मानन्द आपके आज के भावी जीवन को उसी दिन जान गए थे। इन दिनों में से कौन सा पक्ष सत्य है?' इस पर सुभाष ने कहा था, 'दोनों ही सत्य हैं। पिताजी की बात का उन्हें बिल्कुल भी ध्यान नहीं था, यह मैं नहीं कहता। परन्तु इसके अतिरिक्त था स्वामी ब्रह्मानन्द जी का अन्तर्बोध। मैं योग की शक्ति में विश्वासी हूँ। ठाकुर रामकृष्ण बिना कारण ही 'राखाल' 'राखाल' नहीं किया करते थे। उनकी (ब्रह्मानन्द जी की) विशेषता को समझ लेने पर ही हमारी समझ में आएगा कि विवेकानन्द जी ने क्यों बाकी सबको छोड़ राखाल महाराज को ही मिशन का अध्यक्ष बनाया था।"

एक सच्चे गुरु की पहचान बताते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि गुरु वह है, जो तुम्हारे भूत और भविष्य को जान ले। और उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि महान् सद्गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द ने सुभाष का भविष्य जान लिया था और उन्हें स्वामीजी के विचारों को भलीभाँति आत्मसात् करके तदनुसार जीवनगठन तथा राष्ट्र की सेवा में आत्मोत्सर्ग का उपदेश दिया था।

वाराणसी से वापस लौटते समय सुभाष वहाँ के रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष से एक परिचय-पत्र लेते आए थे, जिसकी सहायता से कुछ दिनों के लिए वे बोधगया के एक मठ में ठहरे और तदुपरान्त पूरे दो महीनों का भ्रमण समाप्त करके वापस घर लौटे।

सुभाष के सहसा घर लौट आने पर परिवार के सभी लोग बड़े आनन्दित हुए। उन्हें पता चला कि उनके इस प्रकार गायब हो जाने पर उनके लिए वैद्यनाथ देवघर तथा बेलूड़ मठ में पूछताछ की गयी थी, हरिद्वार के रामकृष्ण मिशन को तार भेजा गया था, परन्तु इन सबका कोई फल नहीं निकला था। घर में आते ही उन्हें टायफायड हो गया, शारीरिक दुर्बलता का अनुभव होने लगा और इस कारण वे पढ़ाई-लिखाई में थोड़े पिछड़ गए।

इसी काल में, 3 अक्टूबर 1914 ई॰ को एक पत्र में उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीरामकृष्ण का एक बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है– "सबसे बड़ा दान हृदयदान है। दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर का एक चित्र स्मरण हो आता है। कमलासन पर विराजनेवाली माँ-काली खड्ग हाथ में लिए शिव के आसन पर खड़ी हैं। उनके आगे एक बालक है। बालक स्वभाववश अस्पष्ट वाणी में रोता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, मानो कह रहा हो– माँ, यह लो अपना भला-बुरा, यह लो अपना पाप और यह लो अपना पुण्य। विकराल मुखवाली, भयंकर दाँतोंवाली माँ काली थोड़े में सन्तुष्ट नहीं होतीं, इसीलिए सबका भक्षण करना चाहती है, पुण्य भी चाहती हैं और पाप भी चाहती हैं। बालक को सब कुछ देना होगा। ... बहुत कष्ट हो रहा है। माँ को सर्वस्व देना होगा। माँ किसी भी प्रकार सन्तुष्ट नहीं होती। इसलिए बालक रोता है और रोते हुए कहता है–यह लो, यह

लो। अश्रुधार बन्द हो गयी, कपोल और वक्ष सूख गए, हृदय की तपन शान्त हो गयी। जहाँ बहुत-से काँटों की चुभन जैसी पीड़ा होती थी, अब वहाँ उसका चिन्ह तक शेष नहीं है। अमृत से मानों हृदय परिपूर्ण हो गया। बालक उठकर खड़ा हो गया, अब उसके पास अपना कहने को कुछ भी नहीं बचा। उसने सर्वस्व दे दिया माँ को। वही बालक रामकृष्ण है।"

जीवन के दोराहे पर

इसके एक वर्ष बाद भी उनका स्वास्थ्य सुधर नहीं सका था। 20 सितम्बर 1915 ई॰ को वे लिखते हैं– "शारीरिक स्थिति को देखकर तो विश्वास नहीं होता कि जीवन में मैं कुछ कर भी सकूँगा। विवेकानन्द की सभी बातें सत्य है: 'लोहे के समान सुदृढ़ नाड़ियाँ और श्रेष्ठ प्रतिभाशाली मस्तिष्क यदि तुम्हारे पास है, तो सम्पूर्ण विश्व तुम्हारे कदमों में झुकेगा।"

इस काल तक भी हम देखते हैं कि वे अपने भावी जीवन की दिशा निर्धारित नहीं कर पाए हैं। मन में निरन्तर द्वन्द्व चल रहा है–साधना में डूब जाऊँ या फिर कर्म की धारा में जीवन को बहा दूँ। 3 अक्टूबर, 1915 ई॰ को वे लिखते हैं– "एक ओर ब्रह्मानन्द की बात स्मरण हो आती है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य आदर्श, जो कर्मठता को ही जीवन मानता है। एक ओर मौन और शान्तिपूर्ण जीवन, एक आत्मदर्शी योगी, जिसने जगत् की असारता का अनुभव कर लिया है, और दूसरी ओर पश्चिमवालों की विशाल प्रयोगशालाएँ, उनका विज्ञान, दर्शन, उनके द्वारा आविष्कृत और प्रकट की गयी अद्भुत ज्ञानराशि।"

8 दिसम्बर को उन्होंने सर जगदीशचन्द्र बोस का एक व्याख्यान सुना। उस समय भी उन्हें स्वामीजी की याद हो आयी। वे लिखते हैं–" जाने क्यों बचपन से ही विवेकानन्द और जगदीशचन्द्र–दोनों पर अटूट श्रद्धा है। उनके चित्र देखकर तथा उनके सम्बन्ध में दो-चार किंवदन्तियाँ सुनकर उनकी ओर बहुत आकृष्ट हुआ था।" फिर उसी पत्र में वे आगे लिखते हैं, "मेरी धारणा है कि सुधार के लिए पवित्र सिद्धान्तों का पालन करनेवाले युवकों के एक संगठन की जरूरत है। देशवासियों की आँखें खोल देनी चाहिए। वास्तव में रामकृष्ण ने चरित्र को राष्ट्रीय जीवन का मूल माना है।"

इन्हीं दिनों सुभाष के जीवन में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना हुई, जिसने उनको एक सच्चे युवानेता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। प्रो॰ ओटन प्रेसीडेंसी कॉलेज में इतिहास के प्राध्यापक तथा 'भारतीय शिक्षा-सेवा' के सदस्य थे। वे एक बड़े ही अहंकारी तथा कट्टर अँगरेज थे। उन्होंने किन्हीं छोटी-मोटी बातों को लेकर कई छात्रों का अपमान किया और उन्हें अपशब्द कहे। इस पर छात्रों ने सुभाष के नेतृत्व में यह माँग की कि वे अपने इस दुर्व्यवहार के लिए छात्रों से क्षमा-याचना करें; और सीधी उँगली से घी न निकलता देखकर उन्होंने हड़ताल की घोषणा कर दी। उनकी हड़ताल अत्यन्त सफल रही, समझौता हुआ, कॉलेज फिर खुला, परन्तु इसके बावजूद प्रो॰ ओटन के व्यवहार में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अतः और कोई चारा न देख, एक दिन कुछ छात्रों ने मिलकर प्राध्यापक महोदय की अच्छी पिटाई की। यद्यपि सुभाष ने उन पर बिल्कुल भी प्रहार नहीं किया था, तथापि छात्रनेता के रूप में प्रसिद्धि के कारण एकमात्र उन्हीं को कॉलेज से निलम्बित कर दिया गया। इसके बाद वे कटक लौटकर समाज-सेवा के कार्य में लग गए तथा अपने कुछ मित्रों के साथ ग्रामीण अंचल में जाकर हैजे तथा चेचक से आक्रान्त लोगों की चिकित्सा तथा देखभाल करने लगे।

इस प्रकार दो वर्ष पढ़ाई स्थगित रखने के बाद कहीं उन्हें पुनः विश्वविद्यालय से अपना अध्ययन जारी रखने की अनुमति मिली। 1917 ई॰ की जुलाई में उन्होंने स्काटिश चर्च कॉलेज में बी॰ए॰ तृतीय वर्ष के लिए प्रवेश लिया। इन्हीं दिनों उन्होंने विश्वविद्यालय की फौजी युनिट में भर्ती होकर सैन्य शिक्षा भी ग्रहण की। दर्शनशास्त्र लेकर बी॰ए॰ पास कर लेने के बाद वे प्रायोगिक मनोविज्ञान में एम॰ए॰ करने की सोच रहे थे, तभी अचानक एक दिन उनके पिता ने उनके समक्ष इंग्लैंड जाकर आई॰सी॰एस॰ (भारतीय राजकीय सेवा) की पढ़ाई करने का प्रस्ताव रखा। 15 सितम्बर 1919 ई॰ को उन्होंने जलयान से इंग्लैंड के लिए प्रस्थान किया।

वहाँ पहुँचकर वे गम्भीरतापूर्वक परीक्षा की तैयारी में जुट गए। दस महीनों के भीतर ही उन्हें इस कठिन परीक्षा में बैठना था, तथापि इस व्यस्तता के बीच भी अपने जीवन का लक्ष्य उन्हें कभी विस्मृत नहीं हुआ। 23 मार्च 1920 ई॰ को वे कैम्ब्रिज से अपने एक मित्र तथा सहपाठी चारुचन्द्र गांगुली को लिखते हैं–"यहाँ आकर और यहाँ के लोगों तथा उनकी कार्यप्रणाली को देखकर मैं अनुमान करता हूँ कि हमारे देश में दो चीजें बहुत आवश्यक हैं–(1) जन-साधारण में शिक्षा का प्रसार और (2) श्रमिक आन्दोलन। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि भारत की उन्नति किसान, धोबी, मोची और मेहतरों से ही होगी। पाश्चात्य जगत् ने यह दिखा दिया है कि 'जनशक्ति' क्या कर सकती है। ... यदि कभी भारत की प्रगति हुई तो वह जनशक्ति के द्वारा ही होगी। ... स्वामी विवेकानन्द 'वर्तमान भारत' (पुस्तक) में कह गए हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के आधिपत्य के दिन बीत चुके हैं। पाश्चात्य जगत् में वैश्य वर्ग में आते हैं–पूँजीपति तथा उद्योगपति। मजदूर दल के शक्तिशाली होते ही उनका समय भी समाप्त होनेवाला है। भारत के शूद्र तथा अछूत जाति के लोगों ने इतने

दिन केवल कष्ट भोगा है। इन्हीं के त्याग और शक्ति से भारत की उन्नति होगी। इसलिए अब हमें जनशिक्षा और श्रमिक-संगठन का प्रयास करना चाहिए।"

1920 ई॰ की जुलाई में वे प्रशासनिक सेवा की प्रतियोगिता में बैठे। वे अपने परचे सन्तोषजनक रूप से हल नहीं कर पाए थे, तथापि अप्रत्याशित रूप से उन्हें चौथा स्थान मिला। परन्तु सरकारी नौकरी करना उन्हें मंजूर नहीं था। 22 अप्रैल 1921 ई॰ को उन्होंने इस सेवा से त्यागपत्र दे दिया। तब अपने भावी जीवन के कार्यक्रम के सम्बन्ध में उनके मन में तरह-तरह के विचार उमड़-घुमड़ रहे थे। ऐसी ही मन:स्थिति के बीच उन्होंने उसी दिन अपने मित्र चारुचन्द्र गांगुली को लिखा–"अभी तक निर्णय नहीं कर सका हूँ कि क्या करना चाहिए। एक इच्छा होती है कि रामकृष्ण मिशन में प्रवेश ले लूँ। कभी मन करता है कि बोलपुर चला जाऊँ, फिर इच्छा होती है कि संवाददाता बनूँ। देखूँ क्या होता है।"

देश की सेवा में

16 जुलाई 1921 ई॰ को 23 वर्ष के युवा सुभाष पुन: अपनी मातृभूमि लौट आए। उनका पहले से ही बंगाल के सुप्रसिद्ध नेता देशबन्धु चितरंजन दास के साथ पत्र-व्यवहार चल रहा था और अब उन्होंने महात्मा गाँधी से भी मुलाकात की। धीरे-धीरे उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष उनका भावी कार्यक्रम स्पष्ट हो उठा। देशबन्धु ने स्व:स्थापित एक विद्यालय में उन्हें शिक्षक का कार्य दे दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने पत्रकारिता भी आरम्भ की और एक युवा स्वयंसेवक दल के संगठन में लग गए। इन्हीं दिनों भारत में 'प्रिंस ऑफ वेल्स' का आगमन हुआ। कांग्रेस ने उनकी इस यात्रा का पूर्ण बहिष्कार करने का प्रस्ताव पास किया। देशबन्धु और सुभाष ने भी अपने स्वयंसेवक दल के साथ इस यात्रा के विरोध में प्रदर्शन किया। दोनों ही नेता गिरफ्तार कर लिए गए। सुभाष को छह महीने की सजा मिली और इस प्रकार उनके जीवन का प्रथम कारावास आरम्भ हुआ।

जेल से छूटने के बाद देशबन्धु ने काँग्रेस के एक अंग के रूप में ही एक 'स्वराज्य पार्टी' के गठन की योजना बनायी और उसी के माध्यम से 1923 ई॰ के कोलकाता महापालिका का चुनाव लड़ने का निश्चय किया। 1924 के अप्रैल में देशबन्धु महापालिका के मेयर और सुभाष मुख्य प्रशासनिक अधिकारी चुन लिए गए। उनके कार्य की सफलता और लोकप्रियता ब्रिटिश सरकार को सहन नहीं हुई। 6 महीने बाद ही लार्ड लिटन ने 'बंगाल आर्डिनेंस एक्ट' जारी किया, जिसके तहत सैकड़ों क्रान्तिकारी पकड़े गए। सुभाष बाबू को भी बिना किसी आरोप के ही गिरफ्तार कर लिया गया। कुछ दिनों तक वे बहरमपुर जेल से ही कोलकाता महापालिका का कार्य सम्पादित करते रहे। तत्पश्चात् उन्हें बर्मा के माण्डले कारागार में स्थानान्तरित कर दिया गया। 1925 ई॰ के जून में उनके राजनीतिक गुरु देशबन्धु चित्तरंजन दास का देहावसान हो गया। 1927 ई॰ में उन्हें कारामुक्त किया गया। प्राय: तीन वर्ष के इस कारा-जीवन के दौरान उनके द्वारा लिखे गए कुछ पत्रों में स्वामी विवेकानन्द तथा उनकी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

9 अक्टूबर 1925 को उन्होंने दिलीप कुमार राय के नाम अपने पत्र में लिखा– "तुमने श्री अरविन्द के बारे में जो कुछ लिखा है उसे पूर्णत: तो नहीं, परन्तु उसके अधिकांश को मैं मानता हूँ। वे ध्यानी हैं और मेरे विचार से तो वे विवेकानन्द से भी अधिक गम्भीर हैं। फिर भी विवेकानन्द के प्रति मेरी अपार श्रद्धा है। ... अनेक कारणों से हमारी जाति अकर्मण्य हो गयी है। अत: अब हमें रजोगुण की आवश्यकता है।" 1926 ई॰ में उन्होंने 'दक्षिण कोलकाता सेवक समिति' के एक कार्यकर्ता हरिचरण बागची को लिखा था– "भय पर विजय प्राप्त करने का उपाय है शक्ति, विशेष रूप से दुर्गा, काली, आदिशक्ति की साधना करना। ... हमारे भीतर अनन्त शक्ति निहित है। उस शक्ति का बोध करना पड़ेगा। पूजा का अर्थ है मन में शक्ति का बोध करना। ... साधना का लक्ष्य है एक ओर तो वासनाओं का नाश करना और दूसरी ओर सद्वृत्तियों का विकास करना। ... प्रतिदिन दोनों समय इस प्रकार का ध्यान करना चाहिए। कुछ दिन ध्यान करने से शनै: शनै: शक्ति प्राप्त होगी, हृदय में शान्ति भी अनुभव करोगे।" ये सारी बातें मानो स्वामीजी की ही उक्तियों का प्रतिध्वनि है। उसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा है– "इस समय स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ सकते हो। उनकी पुस्तकों में 'पत्रावली' और उनके भाषण विशेष रूप से शिक्षाप्रद है। 'भारत में विवेकानन्द' पुस्तक में सम्भवत: यह सब मिल जाएगा। सम्भवत: पृथक पुस्तकें भी मिलती हों। पत्रावली और भाषण न पढ़कर अन्य पुस्तकं पढ़ना ठीक नहीं है। धर्म का दर्शन, ज्ञानयोग या इसी प्रकार की पुस्तकों को पहले मत पढ़ना, बाद में पढ़ना। साथ में 'रामकृष्ण वचनामृत' पढ़ सकते हो।"

फिर मई 1926 में उन्होंने 'दक्षिण कोलकाता राष्ट्रीय विद्यालय' के प्रधानाचार्य भूपेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय को लिखा था– "आज बंगाल के बहुत-से देशसेवकों में व्यवसायी और पटवारी बुद्धि आ गयी है। वे अब कहने लगे हैं कि 'मुझे अधिकार दो, पद दो, कम-से-कम कार्यकारिणी का सदस्य बना दो, वरना मैं काम नहीं करता।' मैं जानना चाहता हूँ कि नर-नारायणों की सेवा व्यापाराना ढंग में, 'कांट्रैक्ट' में कब, कैसे बदली? मैं तो सेवा का आदर्श यही जानता रहा–'दो और फिर न माँगो, यदि तुम्हारा हृदय हो महान।' जो बंगाली इतनी जल्दी देशबन्धु का त्याग भूल सका–वह अतीतगत स्वामी

विवेकानन्द की 'वीरवाणी' को भूला नहीं है, इसे कैसे सत्य माना जाय?" इसी पत्र में वे आगे लिखते हैं– "मैं जब प्रत्येक महीने दो सौ रुपये सेवाश्रम के लिए व्यय करता था, उस समय बहुत-से मित्रों ने कहा था कि मैं व्यर्थ ही छह-सात बालकों पर इतना व्यय कर रहा हूँ। .... परन्तु वे नहीं जानते कि मैंने भावुकता में आकर सेवाश्रम के काम में हाथ नहीं डाला था। आज प्राय: बारह-चौदह वर्षों से जो गहरी पीड़ा खर में लगी आग की भाँति मुझे विदग्ध करती रही है, उसे शान्त करने के लिए ही मैंने इस काम में हाथ डाला था। मैं कांग्रेस का काम छोड़ सकता हूँ, परन्तु सेवाश्रम का काम छोड़ना मेरे लिए सम्भव नहीं है। 'दरिद्र-नारायणों' की सेवा का ऐसा उत्तम सुयोग मुझे कहाँ मिलेगा?" इस पत्र से यह स्पष्ट है कि स्वामीजी द्वारा प्रचारित 'दरिद्र-नारायण' सेवा का भाव किस प्रकार सुभाष की अन्तरात्मा में अमिट रूप से अंकित हो गया था।

माण्डले जेल से ही एक अन्य पत्र में वे लिखते हैं– "स्वराज्य जनसाधारण के लिए' का उद्घोष दुनिया में नया नहीं है। यूरोप ने बहुत दिनों पूर्व ही इस महामंत्र का प्रचार किया था, लेकिन भारत के राजनैतिक क्षेत्र में यह बात नयी जरूर है। अवश्य स्वामी विवेकानन्द अपनी 'वर्तमान भारत' पुस्तक में लगभग 30 वर्ष पूर्व ही यह लिख गए हैं, परन्तु स्वामीजी की भविष्यवाणी की प्रतिध्वनि राजनैतिक मंच से सुनाई नहीं पड़ी।" इसी पत्र में स्वामीजी की शिष्या भगिनी निवेदिता का मत उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं–"जो समाज पुरुष की अपेक्षा नारीप्रधान है, वहाँ लोग भगवान की मातृरूप में कल्पना करते हैं। जो भी हो, बंगाली केवल भगवान की ही नहीं, बंगाल और भारतवर्ष की भी मातृरूप में कल्पना करना श्रेयस्कर मानता है–यह सर्वविदित है।"

जेल में सुभाष का स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था, अत: सरकार ने 16 मई 1927 के दिन उन्हें रिहा कर दिया। परन्तु गिरे हुए स्वास्थ्य के बावजूद वे पुन: राजनीतिक जीवन में सक्रिय हो गए। अब वे अपना सारा समय युवकों के संगठन तथा ट्रेड यूनियन आन्दोलन के विकास में लगाने लगे। उनके अथक प्रयासों के फलस्वरूप कांग्रेस को खेतिहर तथा औद्योगिक मजदूरों का एक अपार आधार प्राप्त हुआ। इन्हीं दिनों प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने भारत के अनेक स्थानों का दौरा किया तथा अनेक सभाओं को सम्बोधित किया। उनके इस काल के अधिकांश प्रकाशित व्याख्यानों में सर्वत्र स्वामीजी के विचारों की छाप दृष्टिगोचर होती है और यत्र-तत्र रामकृष्ण-विवेकानन्द का उल्लेख भी मिलता है। यहाँ हम उनके कुछ व्याख्यानों से कालक्रमानुसार ऐसे चुने हुए उद्धरण प्रस्तुत करेंगे–

3 मई 1928 ई॰ के दिन पूना में प्रदत्त व्याख्यान में उन्होंने कहा था– "स्वाधीनता मेरे लिए एक अन्तिम लक्ष्य है, एक असीम सम्पदा है। मनुष्य के फेफड़ों के लिए जैसे ओषजन अपरिहार्य है, उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा के लिए स्वाधीनता अपरिहार्य है। स्वामी विवेकानन्द ने सत्य ही कहा है, 'स्वाधीनता आत्मा का संगीत है।"

उसी वर्ष 18 जून को कोलकाता के अल्बर्ट हॉल में 'अखिल बंग युवक समिति' द्वारा आयोजित सभा में उन्होंने कहा– "एक के साथ बहुत्व का समन्वय–यह बंगाल का वैशिष्ट्य है। इस वास्तविक सत्य को अस्वीकार करने से काम नहीं चलेगा। परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द इसी सत्य की अभिव्यक्ति कर गए हैं। स्वामीजी ने कहा है कि मनुष्य कभी असत्य से सत्य की ओर अग्रसर नहीं होता–वह उच्च सत्य से उच्चतर सत्य तक पहुँचता है। सत्य के किसी भी स्तर को वह अस्वीकार नहीं करता। जैसे एक सत्य है वैसे ही बहुत्व भी सत्य है। एक के साथ बहुत्व का मिलाप–यहाँ साधक की साधना है।"

फिर 16 जुलाई को इसी स्थान पर छात्र संगठन समिति द्वारा आयोजित सभा में उन्होंने कहा– "हमारे देश में अँगरेजों के आगमन-काल में हमारी प्राचीन पद्धति के विरुद्ध एक प्रबल विद्रोह की घोषणा हुई। देश में प्रचलित धर्म और समाज-व्यवस्था में एक परिवर्तन आया। तदुपरान्त परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने धर्म की नवीन व्याख्या प्रारम्भ की। इसके फलस्वरूप समन्वय साधित हुआ।"

फिर 22 जुलाई को पूर्ण थियेटर के हॉल में उन्होंने 'यौवन-व्रत' विषयक व्याख्यान में कहा– "यौवन का व्रत क्या है? निश्चय ही यह व्रत है–स्वाधीनता की स्पृहा को जगाना। इस नवीन आदर्श की उपासना ही युवा-आन्दोलन का उद्देश्य है और हमें इसी आदर्श को अपनाना होगा। स्वामी विवेकानन्द कह गए हैं, 'मनुष्य गढ़ना मेरा व्रत है।' जब वास्तविक मनुष्यों का एक दल तैयार हो जाएगा, तो स्वामीजी का मिशन और लक्ष्य रूपायित हो जाएँगे।"

आगामी वर्ष 1929 ई॰ के 9 फरवरी को पाबना जिला युवा-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने कहा था–"बहुतों की धारणा है कि जनसाधारण को या तरुण समाज को जगाने के लिए राष्ट्र या समाज सम्बन्धी मतवादों का प्रचार अनिवार्य है। ... प्रत्येक मतवाद के कट्टर भक्तों का मत है कि उनके मतवाद की स्थापना हो जाने पर जगत् के सारे दु:ख दूर हो जाएँगे। ... पर मुझे तो ऐसा लगता है कि कोई भी मतवाद हमारा तब तक उद्धार नहीं कर सकता, जब तक कि हम स्वयं ही मनुष्योचित चरित्र-बल प्राप्त न कर लें। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द

कहते थे, 'Man-making is my mission' –मनुष्य-निर्माण करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। सच्चे मनुष्य तैयार करना ही इस युवा आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य है।" इसी व्याख्यान का उपसंहार करते हुए उन्होंने साधना के रूप के बारे में स्वामीजी का मत बताते हुए उनकी एक कविता से चार पंक्तियाँ उद्धृत की थी, जिनका भावार्थ है– "अपार संग्राम ही माँ-काली की पूजा है, सदा पराजय मिले तो भी भयभीत न होना; हृदय श्मशान बन जाय और उस पर श्यामा नृत्य करती रहें।"

16 मार्च को प्रदत्त 'प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय' शीर्षक व्याख्यान में भी स्वामीजी के भाव हैं। उन्होंने कहा था– "हम लोग जो अभी बचे हुए हैं, मरे नहीं हैं, इसका कारण है कि हमारा एक मिशन है। अतीत के चिन्तन में डूबे रहना ही इस मिशन का तात्पर्य नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय करने की क्षमता हममें है; स्वामीजी यही उपदेश दे गए हैं। विविध प्रकार से बन्दी होने के बावजूद अब भी हम जगत् को अनेक नवीन चीजों का दान कर रहे हैं। ... हमारे अतीत की अपेक्षा भविष्य उज्ज्वलतर होगा। इसी दान के योग्य बनना ही तरुणाई की साधना है।"

तदुपरान्त 30 मार्च 1929 को रंगपुर में आयोजित बंगीय प्रादेशिक सम्मेलन का सभापतित्व करते हुए उन्होंने आधुनिक भारत के इतिहास में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के अवदान का बड़ा ही सुन्दर मूल्यांकन किया था। अपने इस भाषण के दौरान उन्होंने कहा था– "राममोहन राय ने वेदान्त-प्रचार में जिस समन्वय का सूत्रपात किया था, हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे वह रामकृष्ण-विवेकानन्द में पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हो उठा था। रामकृष्ण परमहंस अपने जीवन की अपूर्व और अलौकिक साधना के बल पर विभिन्न साधना-पद्धतियों (यथा–कर्म, भक्ति, ज्ञान) के बीच, विभिन्न सम्प्रदायों (यथा–शाक्त, वैष्णव, योग, शैव आदि) के बीच समन्वय स्थापित कर गए। परमहंस देव की अनुभूति और साधना के उत्तराधिकारी सर्वप्रथम स्वामी विवेकानन्द और तत्पश्चात् समग्र बंगवासी हुए। इस समन्वय स्थापना के साथ-ही-साथ जीवन के विभिन्न पक्षों में– काव्य, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, वाणिज्य, क्रीड़ा और व्यायाम के क्षेत्रों में सर्जनात्मक नवीन प्रयास चल रहे हैं। इसके अतिरिक्त समाज में पूर्ण साम्य की स्थापना का भी प्रयास चल रहा है।

"परमहंस देव द्वारा आरब्ध और अपूर्ण कार्य को स्वामी विवेकानन्द ने अपने हाथों में लिया। युगानुयुग से संचित भारत की ज्ञानसम्पदा को देश-विदेश में वितरित करने के लिए वे प्राचीन बौद्ध संन्यासियों की भाँति हाथ में ज्ञान का प्रदीप लिए सागर-पार चले। इतने दिनों बाद भारतवासी घर छोड़कर बाहर जाने को पागल हुए, विश्व को प्रदान करने के योग्य सामग्री उसने अपने घर में ही ढूँढ़ निकाली। तत्पश्चात् रवीन्द्रनाथ, जगदीशचन्द्र, प्रफुल्लचन्द्र, रामानुजन, रामन् आदि भारत के श्रेष्ठ कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक और मनीषियों ने विश्व-सभ्यता को कितने ही प्रकार से परिपुष्ट किया है। इन सब महापुरुषों के आजीवन साधना के फलस्वरूप भारतवासी आज समझ सके हैं कि उनका भी एक आदर्श है, जीवित रहने का एक उद्देश्य है, पृथ्वी पर राष्ट्र के रूप में एक मिशन है।

"अपने देश में नवीन राष्ट्र के निर्माण का कार्य भी विवेकानन्द आरम्भ कर गए। व्यक्तियों के समष्टि को राष्ट्र कहते हैं। सच्चे मनुष्यों का निर्माण हुए बिना स्वाधीन और बलवान राष्ट्र का जन्म नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने कहा 'Man-making is my mission' – सच्चे मनुष्य का निर्माण करना ही मेरा जीवनोद्देश्य है। तत्पश्चात् सच्चे मनुष्य निर्माण करने के लिए उन्होंने किसी वर्गविशेष की ओर अपनी दृष्टि केन्द्रित न करके समग्र समाज की ओर ध्यान दिया। उनकी वह वाणी अमर होकर अब भी घर-घर में गूँज रही है– 'तुम ऊँची जातवाले क्या जीवित हो? ... तुम लोग शून्य में विलीन हो जाओ और फिर एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों की झोपड़ी से। निकल पड़े बनियों की दुकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। ... इन लोगों ने हजार वर्षों तक नीरव अत्याचार सहन किया है–उससे पायी है अपूर्व सहिष्णुता। ... अतीत के कंकाल-समूह! – यही है तुम्हारे सामने तुम्हारा उत्तराधिकारी भावी भारत।'

"यही तो समाजवाद है। इस समाजवाद का जन्म कार्ल मार्क्स की पोथी से नहीं, इसका जन्म भारत की शिक्षा-दीक्षा और अनुभूति से हुआ है।"

तदुपरान्त 21 जुलाई 1929 ई॰ को सुभाष बाबू ने 'हुगली जिला छात्र सम्मेलन' के सभापति के रूप में भाषण देते हुए मानो संस्मरणात्मक मनोभाव से कहा था– "पन्द्रह वर्ष पूर्व जो आदर्श बंगाल के (वस्तुतः पूरे भारत के) छात्र-समाज को अनुप्राणित किया करता था, वह था स्वामी विवेकानन्द का आदर्श। उस आदर्श के प्रभाव से बंगाली षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त करने तथा स्वार्थपरता और अन्य प्रकार की क्षुद्रताओं से छुटकारा पाने के लिए, आध्यात्मिक शक्ति के बल पर शुद्ध-प्रबुद्ध जीवन-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध थे। समाज और राष्ट्र के निर्माण का मूलमंत्र है व्यक्तित्व का विकास। इसलिए स्वामी विवेकानन्द हमेशा कहते थे, 'Man-making is my mission' – 'सही आदमी का निर्माण ही मेरे जीवन का उद्देश्य है।' पर व्यक्तित्व-विकास पर इतना जोर देते हुए भी स्वामी विवेकानन्द

राष्ट्र को बिल्कुल भूले नहीं थे। कर्मरहित संन्यास अथवा पुरुषार्थहीन भाग्यवाद पर उनकी आस्था नहीं थी। रामकृष्ण परमहंस ने अपनी साधना के द्वारा जो सर्वधर्म-समन्वय कर दिखाया था, वही स्वामीजी के जीवन का मूलमंत्र बना और वही भविष्य के भारत के मूलमंत्र का भी आधार हुआ। इस सर्वधर्म-समन्वय और सभी मतों में सहिष्णुता के बिना हमारे विविधतापूर्ण इस देश में राष्ट्रीय सौंध स्थापित नहीं हो सकता।

"राममोहन राय के युग से विभिन्न आन्दोलनों के जरिये भारत की मुक्ति-कामना धीरे-धीरे प्रकट हुई। ... उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में स्वाधीनता के अखण्ड रूप का आभास रामकृष्ण-विवेकानन्द के भीतर से झलकता है। 'Freedom, freedom is the song of the soul' – 'स्वाधीनता ही आत्मा का संगीत है।' यह सन्देश जब स्वामीजी के हृदय से निकला, तब उन्होंने समग्र देशवासियों को मुग्ध और उन्मत्त कर दिया। उनकी साधना के द्वारा, आचरण के द्वारा, वचनों और भाषणों के द्वारा यह सत्य प्रकट हुआ।

"स्वामी विवेकानन्द ने मनुष्य को तरह-तरह के बन्धनों से मुक्त होकर सही मनुष्य बनने को कहा और दूसरी तरफ सर्वधर्म-समन्वय प्रचार के जरिये भारतीय राष्ट्रीयता की आधारशिला स्थापित की। राममोहन राय ने सोचा था कि साकारवाद का खण्डन और वेदान्त के निराकारवाद की स्थापना के द्वारा वे राष्ट्र को एक सार्वभौमिक नींव पर खड़ा कर सकेंगे। ब्रह्म-समाज भी उसी पथ पर अग्रसर हुआ था, परन्तु इसके फलस्वरूप हिन्दू समाज मानों और भी दूर चला गया। तत्पश्चात् विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैताद्वैतमूलक सत्यों का प्रचार करके और सर्वमत-सहिष्णुता से शिक्षा देकर रामकृष्ण और विवेकानन्द ने राष्ट्र को एक सूत्र में ग्रथित करने का प्रयास किया।"

प्रेरणा का सन्देश

सुभाष बाबू तब 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन' के अध्यक्ष थे। 9 जनवरी 1930 ई॰ को उन्होंने कोलकाता के हाजरा पार्क में आयोजित एक विशाल आम सभा को सम्बोधित करते हुए श्रमिकों से भी आजादी के संग्राम में सहायता करने का अनुरोध किया। किसानों, मजदूरों तथा नवयुवकों को स्वाधीनता-संघर्ष के लिए प्रेरित एवं संगठित करने का उनका यह कार्य ब्रिटिश सरकार की आँखों में खटकता था। 23 जनवरी 1930 को उनके 33वें जन्मदिन पर उन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया और एक वर्ष कारावास की सजा सुनायी गयी। 25 सितम्बर को उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया। तभी कोलकाता नगर-निगम का चुनाव हुआ और नेताजी महापौर निर्वाचित हो गए। अगले वर्ष स्वामी विवेकानन्द के 69वें जन्मदिवस के अवसर पर 10 जनवरी 1931 ई॰ की शाम को बेलूड़ मठ के प्रांगण में गंगातट पर मठ के मुख्य भवन के समक्ष एक आम सभा आयोजित हुई थी। मठ से आमंत्रण पाकर कोलकाता के महापौर के रूप में उक्त सभा की अध्यक्षता करते हुए सुभाष बाबू ने जो भाषण दिया था, उसका सार-संक्षेप निम्नलिखत है–

"स्वामी विवेकानन्द की बहुमुखी प्रतिभा की व्याख्या करना बड़ा कठिन है। मेरे समय का छात्र-समुदाय स्वामीजी की रचनाओं और व्याख्यानों से जैसा प्रभावित होता था, वैसा और किसी से भी नहीं होता था; वे मानो उन (छात्रों) की आशाओं-आकांक्षाओं को पूर्णरूप से अभिव्यक्त करते थे।

"स्वामीजी का यथार्थ मूल्यांकन करने के लिए उन्हें परमहंस देव के साथ मिलाकर देखना होगा। वर्तमान स्वाधीनता आन्दोलन की नींव स्वामीजी की वाणी पर ही आश्रित है। भारतवर्ष को यदि स्वाधीन होना है, तो उसमें हिन्दुत्व या इस्लाम का प्रभुत्व होने से काम न होगा–उसे राष्ट्रीयता के आदर्श से अनुप्राणित कर विभिन्न सम्प्रदायों का सम्मिलित निवास-स्थान बनाना होगा। रामकृष्ण-विवेकानन्द की 'धर्मसमन्वय' की वाणी भारतवासियों को सम्पूर्ण हृदय के साथ अपनानी होगी।

"त्याग और चरित्र-गठन–स्वामीजी इन दो तत्त्वों पर बल देते थे। त्याग के बिना कोई भी उपलब्धि सम्भव नहीं। भारत में महापुरुषों का अभाव नहीं है–यहाँ ऐसे अनेक प्रतिभावान लोगों का जन्म हुआ है, जो अन्य देशों के श्रेष्ठतम व्यक्तियों के समतुल्य हैं। परन्तु हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है जनता को जगाने की, इसीलिए तो स्वामीजी ने प्राच्य और पाश्चात्य, धर्म और विज्ञान तथा अतीत एवं वर्तमान के बीच समन्वय साधित किया; वे इसी कारण महान् हैं। उनकी शिक्षाओं में हमारे देशवासी अभूतपूर्व आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास और आत्म-प्रतिष्ठा का बोध कर रहे हैं।"

इसके तीन दिन बाद ही 'कुष्टिया छात्र समिति' द्वारा प्रदत्त मानपत्र के उत्तर में 13 जनवरी को नेताजी ने कहा– "जीवन में हम केवल देते जाएँगें, कुछ चाहेंगे नहीं। जो नाम नहीं चाहता, यश नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, उसे भला दुःख कैसा? हम लोग जब किसी से कुछ आशा रखते हैं और उसे पाते नहीं–तभी हमारे जीवन में दुःख आता है। स्वामीजी कहते थे, 'जो प्रतिदान की आशा रखता है, उसका सिन्धु भी बिन्दु हो जाता है'।"

फिर उसी वर्ष 18 अक्टूबर को एक अन्य व्याख्यान के दौरान उन्होंने कहा था– "अन्य जिस चीज की हमें सर्वाधिक जरूरत है, वह है एक साथ मिलकर काम करने की क्षमता। एकता में ही शक्ति है और जब हम एक साथ काम करना नहीं सीखेंगे, तब तक आवश्यकतानुसार कुछ कर नहीं सकेंगे। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि हम भारतवासी आत्मशक्ति में

विश्वास खो बैठे हैं और इसीलिए हम कुछ भला या महत् कार्य नहीं कर पाते। वस्तुत: यही हमारा एक शोचनीय दोष है।"

कांग्रेस की नयी कार्यकारिणी समिति में सुभाष बाबू को सम्मिलित नहीं किया जा रहा था और इसी विषय पर चर्चा करने हेतु गांधीजी ने उन्हें मुम्बई बुलाया। बातचीत के बाद कोलकाता लौटते समय 2 जनवरी 1932 को उन्हें कल्याण स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिया गया और बिना कोई आरोप लगाये ही मध्यप्रदेश के सिवनी जेल में रखा गया। वहीं से 6 मई को नेताजी ने पूना के 'मराठा' संवादपत्र के सम्पादकीय विभाग के श्री ए॰आर॰ भट्ट के नाम एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने स्वामीजी के विषय में अपने विचार सविस्तार लिपिबद्ध किए थे। उक्त पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है–

"आपने स्वामी विवेकानन्द के बारें में जो कुछ लिखा है, वह बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। वस्तुत: स्वामीजी के व्यक्तिगत पत्र तथा वार्तालाप, जो अब व्यवस्थित रूप से प्रकाशित हो चुके हैं, न केवल रोचक हैं अपितु उनके सार्वजनिक व्याख्यानों तथा लिखित पुस्तकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रेरक हैं। स्वामीजी के बारे में कुछ लिखते समय मैं आनन्द-विभोर हुए बिना नहीं रह पाता। जिन लोगों को उनके साथ घनिष्ठतापूर्वक मिलने-जुलने का सौभाग्य हुआ, उनमें भी शायद ही कोई उन्हें यथार्थ रूप से समझ सके और उनकी गम्भीरता की थाह पा सके थे। उनका व्यक्तित्व समृद्ध, गहन और बहुमुखी था, जो उनके उपदेशों और लेखों से भी विलक्षण था और उनके इसी व्यक्तित्व ने उनके स्वदेशवासियों पर अद्‌भुत प्रभाव विस्तार किया था। ... वे अपने त्याग में असंयमित, कर्म में अथक, प्रेम में असीम, विद्या-बुद्धि में गहन एवं बहुमुखी, भावुकता में अतिरेकी तथा संघर्ष में निर्मम थे और इसके बावजूद वे एक शिशु के समान सरल थे। हमारे इस जगत् में उनके जैसा व्यक्तित्व दुर्लभ है। और भगिनी निवेदिता ने अपनी पुस्तक 'The Master as I saw Him' (मेरे गुरुदेव: जैसा मैंने देखा) में लिखा है, 'उसके आराधना की देवी उनकी मातृभूमि थी।' क्या आपने उनके पत्रों में पुरोहितों, उच्च जातियों तथा अभिजात वर्गों के प्रति उनकी भर्त्सना पढ़ी है? एक विशुद्ध समाजवादी भी शायद ही इतना कर सके।

"आध्यात्मिक ढोंग का तो स्वामीजी में नाम तक न था। यह चीज उन्हें बिल्कुल असह्य थी। प्रच्छन्न धार्मिकों से वे कहा करते थे, 'मुक्ति गीता के द्वारा नहीं, फुटबाल खेलने से आएगी।' वेदान्ती होकर भी वे भगवान बुद्ध के बड़े भक्त थे। एक दिन वे अत्यन्त उत्साहपूर्वक बुद्धदेव के बारे में बोल रहे थे कि बीच में ही कोई पूछ उठा, 'स्वामीजी, क्या आप बौद्ध हैं?' सुनते ही स्वामीजी के मन में भावुकता उमड़ आयी और वे रुँधे कण्ठ से कह उठे, 'क्या? मैं! बौद्ध! मैं तो बुद्ध के दासों का भी दास हूँ।' भगवान बुद्ध का प्रसंग आते ही वे अत्यन्त विनम्र हो जाते थे। वे प्राय: कहा करते थे, 'शंकाराचार्य की मेधा और बुद्धदेव का हृदय–इसी को हमें अपना लक्ष्य बनाना होगा।' इसी प्रकार जब एक बार वे ईसा-मसीह पर व्याख्यान दे रहे थे, तो किसी के प्रश्न करने पर वे गम्भीर हो उठे और फिर अपनी मधुर वाणी में बोले, 'यदि मैं नाजरथ के ईसा के समय उपस्थित होता, तो अपने आँसुओं से नहीं, वरन् अपने हृदय के रुधिर से उनके चरण पखारता।'

"अपने दीन-दु:खी स्वदेशवासियों के प्रति उनका प्रेम सागरमय अथाह था। आपको उनका यह सन्देश स्मरण ही होगा– 'कहो बन्धुओं! नग्न भारतवासी, अपढ़ भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी मेरा भाई है। ... जोर से पुकार कर कहो कि भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है; और रात-दिन कहते रहो–हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मेरी दुर्बलता और कापुरुषता को दूर कर दो, माँ! मुझे मनुष्य बनाओ।'

"स्वामीजी पूर्ण विकसित पौरुष से सम्पन्न थे, उनके रग-रग में योद्धापन भरा था। इसीलिए वे शक्ति के उपासक थे और यही कारण है कि उन्होंने अपने देशवासियों का उत्थान करने के लिए वेदान्त की एक नवीन व्यावहारिक व्याख्या दी। वे सदैव कहा करते थे, 'शक्ति, केवल शक्ति ही उपनिषदों का सन्देश है।' उन्होंने चरित्र-निर्माण पर सर्वाधिक बल दिया था।

"वे इतने महान्, गहन और बहुमखी थे कि मैं घण्टों तक लिखकर भी इन महापुरुष की महिमा के प्रति तनिक भी न्याय नहीं कर सकूँगा। वे विश्व के प्रथम ऐसे सर्वोच्च स्तर के योगी थे, जिन्होंने ब्रह्म-साक्षात्कार करने के बाद भी स्वदेश एवं मानवता के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया था। आज यदि वे जीवित होते, तो मैं उनके चरणों में होता। जहाँ तक मेरा ख्याल है, वर्तमान भारत उन्हीं की कृति है।

"स्वामी दयानन्द या आर्यसमाजियों की पद्धति का संगठनात्मक कार्य करने की स्वामीजी में न तो इच्छा थी और न उन्होंने इसके लिए प्रयास ही किया। सम्भव है यह उनका दोष रहा हो, पर वे स्वागत में कहा करते थे, 'मनुष्य निर्माण करना ही मेरा लक्ष्य है।' वे जानते थे कि देश में यदि सच्चे महापुरुषों का विकास हो गया तो संगठन का कार्य बात-की-बात में हो जाएगा। अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उन्होंने अपने शिष्यों को गढ़ा, परन्तु कभी उन्होंने उन लोगों की व्यक्तिगत विशेषताओं को कुण्ठित करने अथवा उनकी स्वाधीन चिन्तन की धारा को अवरुद्ध करने का प्रयास नहीं किया। इसी कारण वे अपने किसी भी शिष्य को लम्बी अवधि

तक अपने पास नहीं रखते थे। वे कहते थे कि एक बड़े वृक्ष की छाया में दूसरा वृक्ष नहीं पनप सकता। कैसा विरोधाभास है–परवर्ती काल के हमारे कुछ महापुरुष स्वाधीन विचारधारा को सहन तक नहीं कर पाते; वे चाहते हैं कि हम अपनी बुद्धि को उनके चरणों में गिरवी रख दें और अपने लिए सब कुछ सोचने का अधिकार उन्हीं को दे दें।"

इसके कुछ काल बाद की (1933?) अपनी एक अन्य रचना 'दलबन्दी दूर हो' में नेताजी ने लिखा– "आजकल की आम जनता और विशेषकर युवा समाज में एक प्रकार का ओछापन और विलासप्रियता का भाव प्रविष्ट हो रहा है–जबकि आजकल हमारे देश की आर्थिक अवस्था पूर्वपेक्षा शोचनीय हो चुकी है। क्या यह बात सच है? यदि हैं, तो फिर इसका कारण क्या है? हम लोग जब छात्र थे, तो उन दिनों छात्र-समाज में 'रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य' का खूब प्रचार था। आजकल लगता है युवा समाज में उस साहित्य का वैसा प्रचार नहीं रह गया है। बल्कि उसके बदले शायद हल्के-फुल्के और बीच-बीच में अश्लीलतापूर्ण साहित्य का खूब प्रचार होता रहा है। क्या यह सच है? यदि ऐसा ही हो, तो फिर यह अत्यन्त दु:ख की बात है, क्योंकि मानव समाज जैसे साहित्य से पुष्ट होता है, उसकी वैसी ही मनोवृत्ति भी गठित हो जाती है। चरित्र-निर्माण की दृष्टि से 'रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य' की अपेक्षा उत्कृष्ट साहित्य की मैं कल्पना तक नहीं कर सकता।"

13 जनवरी 1933 ई॰ को अँगरेज सरकार ने उन्हें बन्दी अवस्था में ही भारत से निर्वासित किया। इस काल में उन्होंने यूरोप के आस्ट्रिया, जर्मनी, आदि कई देशों का दौरा किया। इसी काल में उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Indian Struggle' (भारत का स्वाधीनता संघर्ष) लिखा, जिसमें उन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के 1920 से 1934 तक के कालखण्ड का इतिहास प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में सुभाष बाबू ने आधुनिक भारत के निर्माण में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द की भूमिका का बड़ा ही भावपूर्ण चित्र अंकित किया है। वे लिखते हैं–

"पिछली शताब्दी के 80 वाले दशक में भारत में दो धार्मिक महापुरुषों का उदय हुआ, जिनका देश के नव-जागरण की धारा पर विशेष प्रभाव पड़ा। वे थे श्रीरामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द। गुरु रामकृष्ण तो सनातनी हिन्दू की तरह पले-बढ़े थे, पर उनके शिष्य विश्वविद्यालय के शिक्षाप्राप्त युवक थे और अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस से मिलने के पहले नास्तिक थे। रामकृष्ण परमहंस ने सभी धर्मों की मूलभूत एकता का और धर्मों-कर्मों के आपसी विद्वेष की समाप्ति का उपदेश किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सच्चे आध्यात्मिक जीवन का मार्ग है त्याग, ब्रह्मचर्य और अनासक्ति। उन्होंने ब्रह्म-समाज की अत्याधुनिकता की नकली प्रवृत्ति का विरोध किया और ईश्वर की आराधना के लिए प्रतीक के रूप में मूर्तिपूजा का समर्थन किया। अपने स्वर्गवास के पहले उन्होंने अपने शिष्य को अपने धार्मिक उपदेशों का भारत और विश्व में भी प्रचार करने का गुरुभार सौंप दिया था। तदनुसार स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जो एक प्रकार का संघ था। इसके साधु पूर्णत: हिन्दू जीवन जीकर देश और विदेश में, खासकर अमेरिका में विशुद्ध हिन्दू धर्म का प्रचार करते हैं। स्वामीजी राष्ट्र में हर प्रकार के स्वस्थ क्रिया-कलापों के प्रेरणास्त्रोत रहे; उनके लिए धर्म राष्ट्रवाद का प्रेरक था। उन्होंने भारत की नवसन्तति में अपने अतीत के प्रति गर्व, भविष्य के प्रति विश्वास और स्वयं में आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान की भावना फूँकने का प्रयत्न किया। यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने कोई राजनीतिक विचार या सन्देश नहीं दिया, तथापि हर व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आया था जिसने भी उनके लेखों को पढ़ा, वह देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत हो गया और स्वत: ही उसमें राजनीतिक चेतना पैदा हो गयी। कम-से-कम जहाँ तक बंगाल का प्रश्न है, स्वामी विवेकानन्द को वहाँ के आधुनिक राष्ट्रवादी आन्दोलन का जनक माना जा सकता है। यद्यपि उनका देहावसान बहुत जल्दी, 1902 ई॰ में ही हो गया, लेकिन उनका प्रभाव उनकी मृत्यु के बाद और अधिक बढ़ गया।"

उपरोक्त पंक्तियों के अवलोकन से हमें थोड़ा अनुमान हो जाता है कि सुभाष बाबू श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित संघ को किस दृष्टि से देखते थे। 1936 ई॰ में श्रीरामकृष्ण देव के जन्म के सौ वर्ष पूरे हो रहे थे। इस पुनीत शताब्दी के अवसर पर सम्पूर्ण भारत तथा विश्व के अनेक स्थानों में भव्य समारोह आयोजित हुए। इसी अवसर पर रामकृष्ण संघ के बँगला मुखपत्र 'उद्‌बोधन' के सम्पादक स्वामी सुन्दरानन्द जी ने उनसे श्रीरामकृष्ण विषयक एक लेख लिख देने का अनुरोध किया। इस पत्र के उत्तर में सुभाष बाबू ने 6 मार्च 1936 ई॰ को लिखा–

"परम श्रद्धेय स्वामीजी,

"आपका 2 दिसम्बर का पत्र मुझे यथासमय प्राप्त हो गया था, परन्तु विविध कारणों से तत्काल उत्तर नहीं दे सका। आपने जिस लेख की बात लिखी है, उसे मैं प्रमुखत: दो कारणों से नहीं लिख सका। प्रथमत: तो श्रीरामकृष्ण के विषय में कुछ लिखने का मुझे साहस नहीं होता और द्वितीयत: पिछले दो-तीन महीनों से मैं निरन्तर भ्रमण करता रहा हूँ और कहीं एक जगह स्थिर होकर नहीं बैठ सका। तथापि आपने जो मेरा स्मरण किया है, उसके लिए मैं आपके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

"श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के प्रति मैं कितना

ऋणी हूँ–यह शब्दों में लिखकर भला मैं कैसे व्यक्त कर सकता हूँ? उन्हीं के पुण्य प्रभाव से मेरे जीवन में चेतना का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ था। निवेदिता के समान ही मेरा भी विश्वास है कि रामकृष्ण और विवेकानन्द एक ही अखण्ड व्यक्तित्व के दो रूप हैं। आज यदि स्वामीजी जीवित होते, तो निश्चय ही वे मेरे गुरु होते–अर्थात् मैंने अवश्य ही उनका गुरु का रूप में वरण कर लिया होता। अस्तु! कहना न होगा कि मैं जब तक जीवित रहूँगा, 'रामकृष्ण-विवेकानन्द' का अनन्य अनुगत तथा अनुरागी बना रहूँगा।"

8 अप्रैल 1936 ई॰ को सुभाष बाबू भारत लौटे। मुम्बई में अपार जनता उनका स्वागत करने को एकत्र हुई थी। परन्तु जलयान से उतरते ही उन्हें सरकारी आदेश के अनुसार गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें मुक्त कराने के लिए सरकार पर काफी दबाव पड़ा और प्राय: एक वर्ष बाद 10 मार्च 1937 ई॰ को वे नि:शर्त रिहा कर दिए गए। 5 वर्ष के निर्वासन तथा कारावास के बाद अब वे पुन: सक्रिय राजनीति में प्रविष्ट हुए। फरवरी 1938 ई॰ में उन्हें सर्वसम्मति से कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। 1939 ई॰ में त्रिपुरी अधिवेशन में भी वे अध्यक्ष चुने गए थे, बाद में कुछ मतभेदों के कारण इस पद से त्यागपत्र देकर उन्होंने 'फार्वर्ड ब्लाक' की स्थापना की।

नेताजी ने रामकृष्ण मिशन के कई केन्द्रों का परिदर्शन किया था। मिशन द्वारा परिचालित 'कोलकाता-विद्यार्थी-आश्रम' और 'शिशुमंगल-प्रतिष्ठान' (वर्तमान में सेवा-प्रतिष्ठान) का कार्य देखकर वे बड़े प्रभावित हुए थे और कहा था कि इसी प्रकार की संस्थाओं पर देश का वास्तविक कल्याण निर्भर है। बँगला में 'सुभाष-ग्रन्थावली' के छठें खण्ड में (पृ॰ 160) पर 1940 ई॰ में रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर में परिदर्शनार्थ आए हुए नेताजी का एक छायाचित्र द्रष्टव्य है।

युद्ध के मैदान में

इसी बीच दूसरा विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया था। और भारत के वायसराय ने भारत के भी युद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। सुभाष बाबू ने अपने साथियों के साथ युद्धविरोधी आन्दोलन शुरू कर दिया और 2 जुलाई 1940 ई॰ के दिन उन्हें पुन: गिरफ्तार कर लिया गया। इस अन्यायपूर्ण गिरफ्तारी के विरोध में 29 नवम्बर से प्रेसीडेंसी जेल से ही उन्होंने आमरण अनशन आरम्भ किया।एक सप्ताह के भीतर ही ब्रिटिश सरकार को उनके नैतिक बल के समक्ष झुक जाना पड़ा और 5 दिसम्बर को उन्हें नि:शर्त छोड़ दिया गया। वे घर लौटकर आ गए, परन्तु वहीं पर उन्हें नजरबन्द रखा गया। उनके कोलकाता के मकान पर चौबीसों घण्टे पुलिस तथा गुप्तचरों का पहरा बना रहता था।

26 जनवरी 1941 की रात को सुभाष बाबू फरार हो गए और गुप्त रूप से अफगानिस्तान और जर्मनी होते हुए अन्त में जापान जा पहुँचे। 15 फरवरी 1942 को सिंगापुर में ब्रिटिश सेना ने जापान के समक्ष आत्मसर्पण कर दिया। 1 जुलाई 1943 को आजाद हिन्द फौज की कमान सँभालने नेताजी भी सिंगापुर आ पहुँचे। नेताजी ने सिंगापुर-प्रवास के कुछ संस्मरण स्थानीय रामकृष्ण मिशन के तत्कालीन प्रमुख स्वामी भास्वरानन्द जी ने लिपिबद्ध किए थे, जिसमें नेताजी के व्यक्तिगत जीवन में उनके आध्यात्मिक रुझान की किंचित् झलक मिल जाती है और यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार वे महाभारत के वीर अर्जुन के ही समान एक महान् सेनानी के साथ-ही-साथ एक गम्भीर साधक भी थे। स्वामी भास्वरानन्द जी ने लिखा है–

"सिंगापुर पहुँचकर उन्होंने समुद्रतट पर स्थित एक प्रासादनुमा भवन को अपना आवास बनाया। उस भवन के द्वार पर सर्वदा सशस्त्र प्रहरी खड़े रहते थे। ... 1943 ई॰ की विजय-दशमी की रात को सुभाष बाबू ने अपने निवास-स्थान से भारतीय स्वाधीनता संघ की मार्फत गाड़ी भेजकर मुझसे अनुरोध किया कि मैं यथाशीघ्र आकर उनसे मिलूँ। उस समय रात के नौ बजे थे। मैं उसी गाड़ी में बैठकर उनसे मिलने गया। गाड़ी के (उक्त भवन के) द्वार पर पहुँचते ही वहाँ खड़े सशस्त्र पहरेदारों ने बड़े अदब के साथ ले जाकर नेताजी के निजी सचिव के साथ मेरा परिचय कराया। सचिव मि॰ हसन मुझे नेताजी से मिलाने ले गए। मेरे पहुँचते ही उन्होंने (उठकर) अत्यन्त विनम्रता और श्रद्धापूर्वक मुझे प्रणाम करके बैठने को कहा और सहकर्मियों को चाय लाने का आदेश दिया। इसी बीच हमारी बातचीत आरम्भ हो गयी। हमारे सिंगापुर आश्रम के क्रिया-कलापों को जानने की उनकी उत्सुकता देखकर मैंने विस्तारपूर्वक उन्हें सारी सूचना दी। फिर चाय के साथ पुन: बातचीत होने लगी। (नेताजी ने बताया कि किस प्रकार कोलकाता से निकलकर वे जापान पहुँचे और मुझे अपनी भावी योजनाओं से अवगत कराया)। थोड़ी देर वार्तालाप के बाद मैंने कहा, 'हमारे मिशन की कार्यप्रणाली से तो आप परिचित ही हैं। मिशन के आदर्श तथा उद्देश्यों को बनाए रखकर हम लोग भी यथासंभव आपके कार्य में सहायता करेंगे। इस विषय में आप निश्चिन्त रहें।' उनके अनुरोध पर मैंने वहीं भोजन किया और आश्रम लौटते समय रात के बारह बज गए। उनसे मिलने जाने पर वे कभी बिना भोजन कराये नहीं छोड़ते थे। उनके स्नेह-यत्न पर कोई भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता था।

"अपने सिंगापुर अवस्थान काल में नेताजी माँ श्री सारदादेवी के जन्मदिन पर आमंत्रित होकर रामकृष्ण मिशन के भवन में आए थे। उस दिन वे मन्दिर में जाकर लगभग आधे घण्टे तक ध्यानमग्न बैठे रहे। फिर पूजा हो जाने के बाद उन्होंने प्रसाद ग्रहण किया और थोड़ी देर तक बातचीत करते रहे। इसी प्रकार प्राय: एक घण्टा बीत जाने के बाद उन्होंने 'चण्डी' (दुर्गा-सप्तशती) की एक प्रति के लिए इच्छा व्यक्त की। मेरी अपनी चण्डी उन्हें उपहार में दिए जाने पर उन्होंने अतीव आनन्द व्यक्त किया।

"नेताजी हमारे मिशन के कार्यों के एक महान् पृष्ठपोषक थे। आश्रम के अनाथालय हेतु अपील जारी करने पर उन्होंने भवन आदि के निर्माण में काफी मदद की थी। निर्माण-कार्य के लिए उन्होंने अपने पास से पचास हजार डॉलर दिए तथा और भी पचास हजार डॉलर एकत्र कर दिए थे। फिर उन्होंने स्वयं आकर 'बाल-भवन' का उद्घाटन भी कर दिया था। युद्धकाल में कालाबाजारी तथा खाद्य-नियंत्रण के फलस्वरूप तीन सौ बच्चों के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करना हमारे लिए टेढ़ी खीर थी, परन्तु अनाथालय के बालक-बालिकाओं के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था उन्होंने स्वयं ही कर दी थी।

"हमारे मिशन के विद्यालय को भारतीय राष्ट्रीय विद्यालय में परिणत कर दिया गया था। हमारे विद्यालय में सैन्य शिक्षा की भी व्यवस्था थी और एक दिन नेताजी हमारे बच्चों का प्रदर्शन देखने भी आए। एक अन्य दिन वे उनके (छात्रों) द्वारा आयोजित संगीत सभा में भी आए थे। पाँचवी बार वे तब आए, जब उन्होंने हमारे हॉल में एक सभा का आयोजन किया था। उस सभा से कई जापानी प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया गया था। उन्होंने अपने जापानी मित्रों को भी मिशन के बारे में अनेक बातों से अवगत कराया।"

इस सन्दर्भ में नेताजी के उन दिनों के घनिष्ठ सहयोगी तथा आजाद हिन्द सरकार के प्रचार एवं प्रकाशन मंत्री श्री एम॰ए॰ अय्यर के संस्मरण भी उल्लेखनीय हैं। अपनी सुप्रसिद्ध नेताजी की जीवनी में वे लिखते हैं– "अपने सिंगापुर निवास-काल में, कई बार रात को भोजन के पश्चात् वे अपनी कार भेजकर रामकृष्ण मिशन से वहाँ के प्रमुख स्वामीजी अथवा उनके सहकारी ब्रह्मचारी कैलासम् को बुलवा लेते और उनके साथ करीब दो घण्टे तक आध्यात्मिक चर्चा में बिताकर आधी रात के बाद अपने प्रशासनिक कागजात देखने अपने अध्ययन-कक्ष में चले जाते। अथवा कभी-कभी काफी रात गए (स्वयं ही) गाड़ी चलाकर गुप्त रूप से मिशन में पहुँच जाते और वहाँ उपासना की रेशमी धोती पहनकर, हाथ में माला लिए प्रार्थनागृह में जाकर द्वार बन्द कर लेते तथा वहाँ ध्यान करते हुए कोई दो घण्टे बिता देते। इससे उन्हें जटिल समस्याओं का सामना और उन्हें हल करने में सहायता मिलती थी। अत्यन्त आवेगपूर्वक वे ईश्वर से पथप्रदर्शन के लिए प्रार्थन करते। उनके विकारहीन मुखमण्डल, दृढ़ संकल्प, चरम, पर शान्त आत्मविश्वास तथा सफलता व असफलता में अनासक्ति के पीछे था उनका यह बोध कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, उसमें ईश्वर ही मेरा हाथ पकड़कर मार्गदर्शन कर रहे हैं।

"उनकी साधुता का एकमात्र परिचायक एक छोटा-सा चमड़े का बटुआ था, जो उनके व्यक्तिगत सामान का सबसे छोटा अंश था। उसके भीतर ढाई इंच लम्बी और दो इंच चौड़ी एक गीता, तुलसी की एक छोटी जपमाला तथा पढ़ने का एक अलग चश्मा था। काफी काल तक केवल उनके निजी सेवक को छोड़ अन्य किसी को भी उनकी इन चीजों का पता न था। यह तथ्य ही उस चरम एकान्तिकता का एक नमूना था, जिसमें कि नेताजी अपने ईश्वर के साथ निवास करते थे। उनकी श्रद्धा किसी को दिखाने की वस्तु नहीं थी। उनके चेहरे पर सदा विराजमान रहनेवाली वह दुर्लभ ज्योति और उत्तेजनापूर्ण घटनाओं के बीच भी उनके मुखमण्डल पर व्यक्त होनेवाली प्रशान्ति का इसके अतिरिक्त अन्य कोई स्त्रोत नहीं हो सकता था। वे जनसभा में एक बार भी अपने ईश्वर के बारे में नहीं बोले, क्योंकि वे उन्हीं में निवास कर रहे थे।"

अपने सिंगापुर निवास के दौरान ही नेताजी ने 25 अक्टूबर 1945 ई॰ को अस्थायी आजाद हिन्द सरकार की ओर से ब्रिटेन और अमेरिका के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी थी। 4 जनवरी 1944 को नेताजी अपना मुख्यालय स्थानान्तरित करके रंगून ले गए और वहाँ के सैन्यबल को मोर्चे पर भेजने की तैयारी में लग गए। अपने रंगून-प्रवास के दौरान भी सुभाष बाबू ने वहाँ के रामकृष्ण मिशन सोसायटी से अपना आन्तरिक सम्पर्क बनाए रखा। वे प्राय: ही मिशन में जाकर वहाँ के मन्दिर में बैठकर ध्यान किया करते थे। 24 अप्रैल 1945 को वे रंगून छोड़कर बैंकाक की ओर रवाना हुए। विदा की पूर्व संध्या अर्थात् 23 अप्रैल की रात को नेताजी श्रीरामकृष्ण के मन्दिर में अन्तिम बार दर्शन करने गए थे। नेताजी के घनिष्ठ सहयोगी तथा प्रत्यक्षदर्शी देवनाथ दास से सुनकर नरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ने इस घटना का निम्न शब्दों में वर्णन किया है–

"सचमुच ही वह एक विचित्र और अद्भुत दिन था, आत्मनिवेदन का एक अविस्मरणीय दिन था। उनके रंगून-त्याग की पूर्वनिशा थी। उनके स्वप्न और लक्ष्य का पूरा ढांचा उनकी आँखों के सामने ही चूर्ण-विचूर्ण होकर भहरा पड़ा था। सामने दिख रहा था अन्धकार का अनन्त सागर। उस चरम संकट की बेला में रंगून त्यागने के पूर्व की घड़ी में नेताजी ने अपनी सामरिक वेशभूषा उतारकर रेशमी वस्त्र धारण कर लिए थे। शुचि-शुभ्र निर्विकार योगी एकाकी ही अपने आदर्श पुरुष (स्वामीजी) के प्राणदेवता (श्रीरामकृष्ण) के सेवायतन–रामकृष्ण मिशन के मन्दिर में चले गए थे। युगर्षि की मूर्ति के समक्ष वे

शान्त–तद्गत, तन्मय बैठे रहे। स्वयं को उन्होंने शून्य कर डाला था। महाप्रस्थान के पूर्व क्या यह उनकी स्वयं को जानने की आकांक्षा थी? क्या वे स्वयं को पहचान सके थे? क्या उनके मन में बात उठी थी कि मृत्यु ही मरण नहीं है? – कौन जाने?"

24 अप्रैल को नेताजी ने रंगून छोड़ा और इसके बाद शीघ्र ही परिदृश्य में बदलाव आया। अँगरेजों के अत्याधुनिक अस्त्रों के सामने, केवल मनोबल के सहारे लड़ रही आजाद हिन्द फौज के पाँव उखड़ने लगे। 3 मई को रंगून पर ब्रिटिश सरकार का पुन: आधिपत्य हो गया।

17 अगस्त के दिन नेताजी सैगौन के हवाई अड्डे से कर्नल हबीनुर्रहमान के साथ एक विमान में सवार होकर किसी अज्ञात स्थान के लिए उड़ चले। कहते है। कि उस रात इण्डोचीन के टूरेन अड्डे पर उनका विमान उतार और वहीं रात बिताने के बाद अगले दिन वह फारमोसा के टाइहोकू हवाई अड्डे पर उतरे। वहाँ भोजन तथा विश्राम के बाद उनक विमान फिर उड़ा, परन्तु शीघ्र ही दुर्घटनाग्रस्त होकर धराशायी हो गया। नेताजी तथा कर्नल हबीब, दोनों ही बुरी तरह घायल हो गए थे। उन्हें शीघ्रतापूर्वक अस्पताल ले जाया गया। सुभाष बाबू वहाँ अचेत पड़े थे। 19 अगस्त को 9 बजे रात में देहावसान के थोड़ी देर पूर्व नेताजी की संज्ञा लौटी और वे बोले, 'हबीब, मेरा अन्त आसन्न है। मैं अपनी सारी जिन्दगी अपने देश की आजादी के लिए लड़ता रहा हूँ और (आज) अपने देश की आजादी के लिए मर रहा हूँ। जाकर मेरे देशवासियों से कह देना कि वे भारत की आजादी के लिए अपनी लड़ाई जारी रखें। भारत आजाद जरूर होगा और शीघ्र होगा।" ये ही उनके अन्तिम शब्द थे और यही उनका राष्ट्र के प्रति अन्तिम सन्देश भी था।

कर्नल हबीबुर्रहमान द्वारा वर्णित नेताजी के देहावसान के उपरोक्त विवरण की सत्यता पर काफी बहस हुई है। परन्तु एक बात निर्विवाद है कि नेताजी ने स्वामीजी का आदेश शिरोधार्य करके अन्य सभी देवी-देवताओं की अपेक्षा पूर्ण मनोयोग के साथ भारतमाता की ही उपासना की थी। बँगला के सुप्रसिद्ध लेखक श्री मोहितलाल मजुमदार ने उन्हें स्वामीजी का मानसपुत्र माना है। नि:सन्देह वे भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन की नींव के पत्थर थे और ऐसे महापुरुषों के त्याग तथा बलिदान के फलस्वरूप ही हमारे देश को आजादी मिल सकी है।

□□□

पुस्तक प्रार्थना

भास्कर बन्धु 'राही'

हे! ज्ञान ज्योति फैलाने वाली, पुस्तक तुझे नमन है,
तू सब रूपों में करती बस, मानव अज्ञान शमन है।
जब भी तूने मानव मन में, घनघोर तिमिर को देखा,
खींची है तूने अंतर में तब, ज्ञान-रश्मि की रेखा।
है बसा तेरे अन्तर में पुस्तक, ज्ञान सभी धर्मों का,
तू पाठ पढ़ाती है मानव को, पल-पल सत्कर्मों का।
तुझी में समाहित गणित, भौतिकी, अर्थशास्त्र, गायन है,
तुझमें भूगोल, इतिहास समाहित वेद मंत्र पाठन है।
तुझमें अक्षय भंडार ज्ञान का, जो तुझको पढ़ जाये,
वही विद्व है, वही गुणी है, वही ज्ञानी कहलाये।
निर्जीव है तू पर जीवन का है अंकित तुझमें सार,
समझे तेरा मर्म वो जग की हर दुविधा से पार।
क्या विडंबना! तुझे उपेक्षित मान रहा संसार,
वही दीन है बना जिसने सबके भरे ज्ञान भण्डार।
आखिर कब तक कर पायेगा, जगत उपेक्षा तेरी?
तुझे शीघ्र सम्मान मिले, बस यही शुभेच्छा मेरी।
सुने जगत मेरी बातों को, जरा लगाकर ध्यान,
श्रेष्ठ है पुस्तक सब रूपों में, सबसे अधिक महान।
लुप्त हो रही भारत की पहचान जो अब हर पल है।
पुस्तक संस्कृति इस संकट का बस इकलौता हल है।
इसका कर विस्तार सुगंधित करना देश-चमन है,
पुस्तक संस्कृति का केवल उद्देश्य ज्ञानवर्द्धन है।
चलो हिला दें उनकी नीवें जो अज्ञान भवन है,
भारत में फिर लाना अब पुस्तक का हमें चलन है।
हे! ज्ञान ज्योति फैलाने वाली पुस्तक तुझे नमन है,
तू सब रूपों में करती बस मानव अज्ञान शमन है।

विवेकानन्द का संदेश और भारत का वर्तमान

–अजित कुमार

यह जानते हुए कि प्रत्येक अस्तित्व की कोई-न-कोई सार्थकता अवश्य होती है, जिस भूमिका में उसे किसी अन्य से छोटा या बड़ा नहीं बताया जा सकता; और कि प्रत्येक अस्तित्व को अपने आप में विशिष्ट या अद्वितीय समझना चाहिए–जैसा कि स्वयं स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था। डेढ़ सौवीं जन्मशती के अवसर पर उन्हें विशेष रूप से याद करने का अर्थ किन्हीं प्राचीन अथवा अर्वाचीन साधु-संतों, महापुरुषों की अवज्ञा अथवा अवमानता करना कदापि नहीं।

हम यह भी स्वीकारना चाहेंगे कि विवेकानन्द ने ऐसा कुछ अनोखा या नया तो किया नहीं, जो उनसे पहले और बाद के बुद्धिजन कर न चुके हों। अपने गुरु के प्रति आरंभिक संशय के बाद आजीवन अटूट निष्ठा और माँ पर अगाध विश्वास इस देश का सुपरिचित संस्कार रहा है। इसी तरह, ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन की लालसा ने जन-मन को सदा से मुग्ध रखा है। गृहत्यागियों, संन्यासियों, ब्रह्मचारियों, गुफासाधकों, परिव्राजकों की भी इस देश में कही कमी नहीं रही।

जहाँ तक मातृभूमि से परिचित होने के लिए उसकी परिक्रमा का संबंध है, उनसे पहले शंकराचार्य और उनके बाद गांधी-नेहरू के अलावा विभिन्न तीर्थों और चारों धामों के दर्शनलाभिलाषियों को कौन नहीं जानता। धर्मप्रचार के लिए भी बौद्ध भिक्षुओं से लेकर वैष्णव साधक तक प्रचुर भारतीय देशाटन और विदेश-गमन करते आए हैं। मठ-मन्दिर भी अनेक संतों-सेठादि ने बनवाए हैं।

स्त्री-पुरुष जिनके चारों ओर मँडराते रहें, ऐसे साधु भी अनगिनत हुए हैं। इसी भाँति, अपने उद्देश्य की सफलता के क्रम में सार्वजनिक निंदा-अपयश और दुष्प्रचार भी बहुतों को झेलना पड़ा है।

संक्षेप में यह कि विवेकानन्द की जीवन-स्थितियाँ, यहाँ तक कि अल्पायु में उनकी मृत्यु भी असामान्य नहीं कही जा सकती। यह बात अलग है कि जाति, संप्रदाय, कुटुंब-कबीले का नाम ले चुनावी दंगलों में शमिल हो उन्होंने 'वोट' नहीं बटोरे थे और देश-विदेश में भारतीयता का जयघोष कर उन्होंने 'कॉरपोरेट संत' बन अपनी खुद की जागीर नहीं खड़ी की थी। तथापि उनसे संबंद्ध जो असामान्य रहा, उसे भी यूँ तो खंड-खंड में अन्यत्र अवश्य पाया व देखा गया होगा, पर सब मिलाकर जो संपुंजन बनता है, उसके आधार पर 150 साल पूर्व जन्मे 110 साल पूर्व दिवंगत स्वामी विवेकानन्द ने किसी-किसी छवि में पुन: अवतरित होने तक उनकी आतुर प्रतीक्षा भारतवासी करते जाएँगे।

पिछली आधी सदी के तथाकथित लोकतंत्र में भारत के राष्ट्रीय चरित्र का जो निरंतर ह्रास होता गया है–काले-कारनामे जिस गति से फले-फूले हैं, उसे रोकने-थामने में जो समर्थ हो, ऐसे एक भावी विवेकानंद की व्याकुलता से प्रतीक्षा आज समूचे देश को है।

11 सितंबर, 1983 को 'अमरीकी भाइयों और बहनों' के जिस भारतीय आह्वान ने उन्नीसवीं सदी की 'अंतरराष्ट्रीय धर्मसंसद्' में नई स्फूर्ति भर दी थी, वह यदि विगत अर्धशती के व्यापक प्रमाद-अवसाद से मुक्त हो, इक्कीसवीं सदी में भी नैतिक-आत्मिक ऊर्जा हासिल कर, 'विश्व भर के भाइयों और बहनों' की प्रेरणा बनना चाहे तो उसे विवेकानंद का यह संदेश अपनाना होगा–

'जागो, उठो, अपने आपको पहचानो; ईश्वर की छवि प्रत्येक जन में देखो; अपनी जगह टिकते हुए, प्रतिपक्ष का सम्मान करना सीखो; अन्याय, अत्याचार, पराधीनता का सदा प्रतिकार करो; शिक्षा और जागरूकता का महत्त्व समझो; रूढ़ियों से मुक्ति पाओ; भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करते हुए भी संचय-वृत्ति और भोगवाद में न फँसो; आस्था रखो, पर अंधविश्वास से बचो।'

समझने की बात यह है कि वेदांत उनके वास्ते कोरा चिंतन नहीं था; उनका अध्यात्म आत्म के निषेध पर नहीं टिका था;

ज्ञानयोग का विस्तार उन्होंने कर्मयोग में किया था। तत्त्वज्ञान की संगति आधुनिक विज्ञान से बिठाने में वे यकीन करते थे। भारतीय नवजागरण के उस युग में अमरीका-यूरोप के स्त्री-पुरुषों ने ही नहीं, स्वदेश के सेवकों ने भी उन्हें मान्यता दी थी।

रवींद्र, अरविंद, दयानंद, तिलक, जमशेद टाटा, राजगोपालाचारी पटेल, सुभाष आदि अनेक परवर्ती जननायकों ने किसी-न-किसी रूप में विवेकानन्द की अलख को जगाए रखा था। सबको बराबरी का सम्मानप्रद जीवन मिले, ऐसी कामनावाले विवेकानंद के लिए यह अकल्पनीय था कि शक्ति, शस्त्र और संपदा ही होड़ में आगे बढ़ जाना ही प्रगति का सूचक हो जाएगा; नैतिक-आध्यात्मिक उन्नति के उनके आदर्श पर टिककर ही भारत 'जगद्गुरु' होने की अपनी लाज बना सकेगा।

विवेकानन्द के संदर्भ में हम यह कभी नहीं भूला सकते कि बरस-दर-बरस 'ईश्वर' के दर्शन की प्रतीक्षा में संलग्न इस साधक ने अंततः कन्याकुमारी के तट पर धर्म-दर्शन-वेदांत का जो मूल रहस्य आजीवन निस्वार्थ जनसेवा अर्जित किया था, उसके नाते अपनी समग्रता में वे अधिकांश अन्य महापुरुषों से बिल्कुल अलग नजर आते हैं।

□□□

जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है।

-स्वामी विवेकानन्द

कविता

सिसकती किताबें

राम प्रवेश रजक

एक दिन बंद शीशे के दरवाजे
से सिसकियाँ लेती हुई किताबें
झाँक रही थीं, कहा
बहुत दिन हो गये, इन बंद
अलमारियों में दम घुटता है
लगता है, वह दिन गये जब
किसी की तरक्की की मैं, गवाह बना करती थी
अब मेरे अस्तित्व पर खतरा आ गया है
मेरी गवाही अब कौन देगा?
बहुत बैचेन हूँ मैं इन बंद अलमारी में,
आपको पता नहीं अंदर पड़ी वह सूखी
गुलाब की पत्तियाँ एक इतिहास बयाँ करती हैं
वे लोग नहीं रहे जो छाती से लगाकर, तकिये
पर रखकर केहुनी के बल पढ़ा करते थे,
मैं उस वक्त भी काम आयी जब दो जवाँ
जोड़ी मुझे गिराने-उठाने के बहाने रिश्ते बना
लिया करते थे,
मैं पोस्टमैन भी बन जाती थी
मुझमें प्रेम पत्र भी भरकर, भेज दिया जाता था;
अब बिना पत्तों की पेड़ लगती हूँ मैं,
अब इस पर कभी फूल नहीं लगते हैं;
धरती की अंतिम सतह की तरह हूँ
मेरा अफसाना अब एक फसाना बनकर रह गया है,
जायका मिलता था जो सफ़ा पलटने का
अब अंगुली क्लिक करते ही कम्प्यूटर
के पर्दे पर पलक झपकते ही चला आता है।

संगीतनायक विवेकानन्द

-पं० निखिल घोष

(लेखक हमारे देश के एक सुप्रसिद्ध संगीतविद् तथा तबलावादक थे। वे खार, मुम्बई, में स्थित अरुण संगीत विद्यालय के प्रधानाचार्य थे। उनका यह मूल अँगरेजी लेख स्वामीजी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर महाराष्ट्र राज्य के स्वामी विवेकानन्द जन्म-शताब्दी कमेटी के प्रतिवेदन में प्रकाशित हुआ था। वहीं से अनूदित होकर इसका 'विवेक-ज्योति' के 1988 ई० में विवेकानन्द सपाद-शताब्दी विशेषांक में प्रकाशन हुआ था।)

स्वामी विवेकानन्द एक मेधावी संन्यासी, एक महान् सुधारक, एक उत्साही देशभक्त, एक प्रचण्ड वक्ता और एक सुयोग्य संगठक के रूप में अपने सद्गुणों के लिए सुप्रसिद्ध हैं। परन्तु बहुत लोगों का यह पता नहीं है कि वे एक महान् संगीतज्ञ भी थे। आज विश्व के कोटि-कोटि नर-नारी विविध एवं समुचित रूप से स्वामीजी के प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित कर रहे हैं, एक संगीतज्ञ होने के नाते मैं भारत के समस्त संगीतज्ञों के साथ मिलकर, एक महान् संगीतज्ञ स्वामी विवेकानन्द के प्रति अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

स्वामीजी के बारे में रोमाँ रोला ने लिखा है, "उनके शब्द महान् संगीत हैं, बीथोवन शैली के टुकड़े हैं, हैंडेल के समवेत गान के छन्द-प्रवाह की भाँति उद्दीपक लय हैं। शरीर में से विद्युत्स्पर्श के से आघात की सिहरन का अनुभव किए बिना मैं उनकी वाणी का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्षों की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं। और जब वे नायक के मुख से ज्वलन्त शब्दों के रूप में निःसृत हुए, उस समय तो न जाने कैसे आघात और आवेग उत्पन्न हुए होंगे।" स्वामीजी न केवल शब्दों के अपितु संगीत के भी नायक थे।

परिव्राजक के रूप में अपने भारत-भ्रमण के दौरान स्वामीजी की एकनाथ पण्डित नामक एक वरिष्ठ संगीतज्ञ के साथ मुलाकात हुई, जो एक ध्रुपद गायक थे। स्वामीजी ने उनका संगीत सुनने की इच्छा व्यक्त की। एकनाथ पण्डित के गाने के साथ स्वामीजी मृदंग पर संगत करने लगे। स्वामीजी के इस मृदंगवादन से गायक और श्रोता पूर्णतः सन्तुष्ट हुए। इस कार्यक्रम के पश्चात् होनेवाले वार्तालाप से पता चला कि स्वामीजी एक अच्छे गायक भी हैं, अतः उन लोगों ने स्वामीजी से गाने का अनुरोध किया। स्वामीजी तानपुरा उठाकर ध्रुपद का आलाप लेने लगे। फिर जब वे गीत के लय पर आए, तो कोई भी मृदंग पर उनकी संगत नहीं कर सका। सहसा ही उन्होंने तानपुरा एकनाथ पण्डित के हाथ में सौंपते हुए मृदंग उठा लिया और स्वयं ही अपनी संगत करने लगे। इस तरह सबको विस्मय के सागर में डुबाते हुए स्वामीजी ने दोनों भूमिकाएँ निभायीं। इस अद्भुत घटना पर विस्मित होकर पण्डितजी कह उठे, "स्वामीजी, आप केवल गायक नहीं, नायक भी हैं।"

नायक की उपाधि एक ऐसे संगीतज्ञ को दी जाती है जिसमें सफल प्रदर्शन, संगीत-रचना की क्षमता, संगीत शास्त्र का ज्ञान और श्रोताओं को अभिभूत करने की प्रतिभा हो। जिन लोगों को संगीत का थोड़ा ज्ञान है, वे इस बात को ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि ध्रुपद गायन, जिसमें कि षट्-प्राण और षट्-संगत लगते हैं, के साथ मृदंग पर स्वयं ही संगत कर पाना प्रायः असंभव-सा है। इन दोनों को एक साथ अकेले ही सफलापूर्वक कर दिखाना एक अतिमानवीय कार्य है।

स्वामीजी के जीवन के इस पक्ष को और भी गहराई से जानने की जिज्ञासा के साथ मैं भारत के एक महान् संगीतविद् स्वामी प्रज्ञानानन्द जी के पास गया और उनसे मुझे स्वामीजी के कुछ शिक्षकों और उनकी शिक्षा के बारे में कुछ सूचनाएँ मिलीं। स्वामीजी ने सुव्यवस्थित ढंग से ध्रुपद, धमार, ख्याल, भजन और टप्पा का अध्ययन किया था। टप्पा के बारे में उनकी राय अच्छी नहीं थी, इस विषय में उनके अपने शब्द में आगे उद्धृत करूँगा। विभिन्न शिक्षकों से उन्होंने मृदंग, तबला और सितार भी सीखा। वेणी उस्ताद (वेणीमाधव अधिकारी) और उस्ताद

अहमद खाँ से उन्होंने ध्रुपद व ख्याल सीखा; ब्रह्म-समाज के एक सदस्य श्री काशी घोषाल से उन्होंने एसराज एवं मृदंग सीखा। उनके समकालीन बंगाल के संगीतज्ञों में प्रमुख थे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, त्रैलोक्यनाथ सान्याल और द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर। कहते हैं अपनी संगीत-शिक्षा के दिनों में स्वामीजी नियमित रूप से कठोर अभ्यास किया करते थे।

स्वामीजी एक रचनाकार भी थे। परवर्तीकाल में उन्होंने संस्कृत, बँगला और हिन्दी में अनेक रचनाएँ की और उन्हें विभिन्न शास्त्रीय रागों एवं तालों के साथ समायोजित किया। उनमें से कुछ का विवरण निम्नलिखित है–

1. 'खण्डन भव बन्धन'– राग-गयन, ताल-चौपाल;
   (रामकृष्ण संघ के सभी केन्द्रों में गायी जानेवाली दैनिक प्रार्थना)
2. 'एकरूप अरूप नाम वरण'–राग-बड़ा हंससारंग, ताल-चौताल;
3. 'नाहि सूर्य नाहि ज्योति'– राग-बागेश्री, ताल-अड़ा या इकवी;
4. 'मुझे वारी बनवारी सैंयाँ'– राग-ठुमरी, ताल-कहरवा।

हाल ही में कोलकाता से मेरे एक मित्र ने सूचित किया है कि उन्होंने स्वामीजी की एक हस्तलिखित पुस्तिका ढूँढ निकाली है, जिसमें तबले पर अनेक रचनाएँ हैं। वह पुस्तिका प्रकाशित भी होने वाली है। यदि वे 39 वर्ष की अल्प आयु में देहत्याग न कर देते, तो संगीत-जगत् सम्भवत: उनकी और भी रचनाएँ पाकर उपकृत होता। संगीत के किसी भी अन्य प्रकार की तुलना में ध्रुपद के प्रति स्वामीजी का बड़ा सम्मान का भाव था। वे कहते, "जिन सब गीत-वाद्यों से मनुष्य के हृदय के कोमल भावसमूह उद्दीप्त हो जाते हैं, उन सबको अब थोड़े दिनों के लिए बन्द रखना होगा। खयाल-टप्पा बन्द करके ध्रुपद का गाना सुनने का अभ्यास लोगों को कराना होगा। वैदिक छन्दों के उच्चारण से देश में प्राण संचार कर देना होगा।"

परन्तु संगीत के आदर्श रूप के बारे में स्वामीजी ने कहा था– "ध्रुपद और खयाल आदि में एक विज्ञान है। किन्तु कीर्तन अर्थात् माथुर और विरह तथा ऐसी अन्य रचनाओं में ही सच्चा संगीत है, क्योंकि वहाँ भाव है। भाव ही आत्मा है, प्रत्येक वस्तु का रहस्य है। ... बहुत से लोग सोचते हैं कि भाव मात्र ही संगीत है, पर ऐसी बात नहीं। दूसरी ओर, भावविहीन परन्तु केवल व्याकरण शास्त्र पर आधारित शब्दों की कसरत भी संगीत नहीं है। ... लोकगीतों की मधुरता, शास्त्रीय संगीत का विज्ञान और कीर्तन का भाव–इन्हें मिलाने से ही आदर्श संगीत की सृष्टि होगी।"

स्वरचिन्ह और श्रुतियों के बारे में स्वामीजी का कहना था– "युगों पूर्व भारत में संगीत को पूर्ण सप्त स्वरों तक विकसित किया गया था, यहाँ तक कि अर्ध एवं चतुर्थांश स्वर तक भी विकसित हुए थे। भारत के संगीत में और नाटक तथा स्थापत्य कला में भी नेतृत्व किया। जो कुछ अब किया जा रहा है, वह केवल मात्र अनुकृति का एक प्रयास है। आज भारत में हर बात इस प्रश्न पर आधारित है कि किसी व्यक्ति को जीवन-धारण के लिए कितने कम की आवश्यकता है।"

टप्पा के बारे में उन्होंने कहा– "जो ध्रुपद गाने में दक्ष है, उन्हें तो टप्पा कर्कश ही लगता है। ... क्या आप सोचते हैं कि टप्पा को नाक से गाते हुए, बिजली के समान एक सुर से दूसरे सुर में दौड़ना कोई उत्कृष्ट संगीत है? नहीं! जब तक प्रत्येक सुर हर एक स्तर पर पूरी तरह गाया जाता, उत्कृष्ट संगीत की सृष्टि नहीं हो सकती। ... तुम्हारी समझ में यह नहीं आ रहा है कि जब एक स्वर के पीछे दूसरा स्वर इतनी द्रुतगति से आता है, तो केवल संगीत की सुषमा ही नष्ट नहीं होती, वरन् एक प्रकार का बेसुरापन पैदा हो जाता है।"

पाश्चात्य संगीत में गहराई तक पैठने के बाद स्वामीजी ने उसके बारे में उच्च धारणा बना ली थी। उन्होंने कहा– "जब मैंने उनके संगीत को ध्यानपूर्वक सुनना शुरू किया और उस शास्त्र का अध्ययन किया, तो प्रशंसा किए बिना नहीं रह सका। सभी कलाओं का यही हाल है।"

"पर हमारे संगीत में स्वरों का आरोह-अवरोह बहुत सुन्दर बन पड़ता है। फ्रांसवालों ने संगीत के इस गुण को पहचाना ओर अपने संगीत में अपनाने का प्रयत्न किया है। उनको देखकर यूरोप भर में इसका अनुकरण होने लगा।"

हम स्वामीजी से यही आशीर्वाद माँगते हैं कि वे हमें संगीत के भाव और उद्देश्य को रूपायित करने की प्रेरणा प्रदान करें।

□□□

दरिद्रनारायण के उपासक स्वामी विवेकानन्द

–महेश चन्द्र शर्मा

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी शिक्षा के जादू से जिस समय भारत का युवक वेद, उपनिषदों, गीता, महाभारत और धर्म ग्रंथों की तीव्र निंदा करने लगा था और इन ग्रंथों को अंधविश्वासों का भंडार कहने लगा था, उसी समय विश्व में वेदांत का डंका बजाने, हिंदुत्व और अध्यात्म की प्रतिष्ठा स्थापित कर उसके प्रचार करने के बाद भारत लौटने पर स्वामी विवेकानंदजी ने कहा था कि हमारा राष्ट्र भारत गाँवों और झोंपड़ियों में बसता है। उसके पौरुष को जगाना है। गरीबों के खोए हुए व्यक्तित्व को जागृत करना होगा। हमारा एकमात्र जाग्रत् देवता हमारा राष्ट्र भारत है। इस विराट् की पूजा ही हमारी पूजा है। सबसे पहले हम जिस देवी की पूजा करेंगे, वह भारतमाता है और भारतवासी हमारे प्रथम देवता हैं।

अमरीका और इंग्लैंड में उनकी सफलता ने भारत में राष्ट्रीय स्वाभिमान और आत्मविश्वास की लहर पैदा कर दी। कोलंबो से अल्मोड़ा तक अपनी देशव्यापी यात्रा में स्वामीजी ने अपनी ओजस्वी वाणी से देशभक्ति और दरिद्रनारायण की भावना को जाग्रत किया। उन्होंने कहा कि आगामी पचास वर्ष के लिए अन्य सब देवी-देवताओं को भूलकर केवल भारतमाता की उपासना करो। भारत स्वतंत्र होकर गौरव प्राप्त करेगा। स्वामीजी कहते थे कि पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय युवक सेवामार्ग पर आगे बढ़कर देश के करोड़ों गरीब, निरक्षर, पिछड़े और अस्पृश्य समझे जाने वाले देशवासियों के बीच जाकर काम करें। स्वामी विवेकानन्द का आह्वान था कि 'नरसेवा ही नारायण सेवा है, दरिद्र नारायण ही तुम्हारे भगवान् हैं, मन-वचन-कर्म से उन्हीं की सेवा करो।

उन्होंने सभी देशवासियों से कहा था, "पाश्चात्य देशों में आने से पहले मैं अपने भारत को हृदय से प्रेम करता था, किन्तु अब मेरे लिए भारत की वायु, यहाँ तक कि भारत का प्रत्येक धूलिकण स्वर्ग से भी अधिक पवित्र है। भारतभूमि पवित्र भूमि है। वह मेरी माँ है, भारत मेरा तीर्थ है।"

स्वामी विवेकानन्दजी ने संभ्रांत देशवासियों, युवकों और संन्यासियों से कहा, "देखो! ये भारतीय असहाय, असमर्थ, निरक्षर-जन कितने सरल हृदय हैं। क्या तुम इनके कष्टों को कुछ भी कम न कर सकोगे? तुम अपने जीवन को दरिद्रनारायण को अर्पित कर दो। हमारे देशवासी जब रोटी-कपड़े को तरस रहे हों, क्या हम अपने सुख में ग्रास लेते लज्जित नहीं होते? गाँव-गाँव में घूमकर अमसर्थ, असहाय और दलितों की सेवा में जीवन अर्पित कर दो। अपने चरित्र बल से, आध्यात्मिक शक्ति से, पवित्र जीवन से, संपन्न महानुभावों को समाज के प्रति उनके कर्तव्यों का बोध कराओ। धन व साधन संग्रह करो, जिससे दीन-दु:खियों की सेवा हो सके, उन्हें शिक्षित किया जा सके और उनकी दरिद्रता दूर हो सके, क्योंकि शिक्षित और ज्ञानवान होने पर व्यक्ति अपनी प्रगति का मार्ग स्वयं खोज लेगा।"

स्वामी विवेकानन्द की प्रतिभा सर्वोत्तममुखी थी। वे योगी, तत्त्वदर्शी, गुरु, नेता, ज्ञानी, धर्मप्रचारक और एक महान् राष्ट्र निर्माता थे। इन्होंने पाश्चात्य देशों में वहाँ के निवासियों के समक्ष भारतीय धर्म का खजाना खोलकर देश का सिर ऊँचा किया। ऐसे स्वामी विवेकानंद को प्रत्येक युवा भारतीय अपना आदर्श मानने लगे।

महापुरुषों के पत्रों से उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के दर्शन होते हैं; इस दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द के पत्र उनके सर्वतोमुखी प्रतिभा संपन्न दिव्य जीवन पर प्रकाश डालते हैं। उन्होंने अपने पत्रों के द्वारा भारतीय संस्कृति और धर्म के कलेवर में नव चैतन्य का संचार किया था। स्वामीजी ने अपने अल्प जीवन में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र और प्रगतिशील समाज की परिकल्पना की थी।

विवेकानन्द का जन्म कलकत्ता महानगर में 12 जनवरी, 1863 को एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम विश्वनाथ दत्त एवं माता का नाम भुवेनश्वरी देवी था। उनके बचपन का नाम नरेन्द्र था। पिता बुद्धिवादी एवं प्रगतिशील

विचारों वाले व्यक्ति थे। भुवेनश्वरी देवी धर्मनिष्ठ महिला थीं। बचपन से ही नरेंद्र अत्यंत चंचल एवं जिद्दी स्वभाव के थे। 1885 ई॰ में रामकृष्ण गले के कैंसर रोग से पीड़ित हुए। नरेन्द्रनाथ के अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति से उनकी सेवा की। अध्यापन का कार्य भी छोड़ दिया, इससे प्रसन्न होकर रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी।

संन्यास ग्रहण के पश्चात् परमहंस को अब विविदिषा का नया नाम मिल गया था। गुरु ने शक्तिपात कर अपनी संपूर्ण शक्तियाँ अपने नवसंन्यासी शिष्य को सौंप दीं, ताकि वह विश्व-कल्याण कर भारत का नाम गौरवान्वित कर सके। स्वामीजी ने देखा कि लोगों में धर्म के प्रति अनुराग की कमी नहीं है, पर समाज में स्वाभाविक गतिशीलता नहीं है। भारत भर में घूमकर वे कन्याकुमारी पहुँचे। मन्दिर के पास शिला पर बैठकर उन्हें भारतमाता के भावरूप में दर्शन हुए और उस दिन से उन्होंने भारतमाता के पुरातन गौरव को पुर्नप्रतिष्ठित करने का संकल्प लिया।

कुछ दिनों बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो नगर में एक विराट् सर्वधर्म-सम्मेलन का आयोजन हुआ। स्वामीजी के कुछ उत्साही मद्रासी शिष्यों ने, उन्हें हिंदू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में, इस धर्मसभा में भेजने का संकल्प किया; माँ शारदा देवी की आज्ञा और खेतड़ी नरेश के सहयोग से स्वामीजी ने 21 मई, 1893 को अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। जहाज यात्रा में अमेरिका की एक वृद्ध महिला, उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुई। उन्होंने ही अमेरिका में उनकी सहायता की।

11 सितंबर, 1893 को स्वामीजी ने इस सर्वधर्म-सम्मेलन में हिंदुत्व की महानता विश्व-बंधुत्व की भावना को प्रतिस्थापित कर पूरे विश्व को 'मेरे अमरीकी भाइयों और बहनों' के संबोधन से चौंका दिया। उन्होंने उद्घोष किया कि मुझको ऐसे धर्मावलंबी होने का गौरव है, जिसने संसार को 'सहिष्णुता' तथा सब धर्मों को मान्यता प्रदान करने की शिक्षा दी है तथा वसुद्यैव कुटुंबकम् का पाठ पढ़ाया है। उनके द्वारा हिन्दू धर्म की सर्वमान्य व्याख्या से प्रभावित होकर इंग्लैंड में कुमारी मूलर, कुमारी नोबुल, श्री गुडविन तथा श्री स्टर्डी उनके प्रमुख शिष्य बने। इनमें आयरिश कन्या कुमारी मारग्रेट नोबुल कालांतर में भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुई, जिन्होंने भारत में रहकर बहुत कार्य किया। रौम्याँ-रौलाँ ने उन्हें 'मंच-महारथी' का सम्मान देकर आदर प्रकट किया। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को 'दैविक अधिकार से वक्ता, अपनी जाति का आदर्श प्रतिनिधि, अंग्रेजी भाषा का पूर्ण ज्ञाता और धर्म सम्मेलन का चमत्कार' कहकर पुकारा। यह बहुत ही कम लोग जानते हैं कि महान् दार्शनिक, मनीषी और देशभक्त स्वामी विवेकानन्द, जिन्होंने पाश्चात्य विश्व में हिंदू धर्म को लोकप्रिय बनाया, वे विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि भी थे।

स्वामीजी ने विदेशों में हिन्दू धर्म की विजय पताका फहराने के बाद भारतभूमि में पदार्पण किया और स्थान-स्थान पर भ्रमण कर उत्तिष्ठ जाग्रत् का संदेश दिया तथा नवयुवकों को आगे बढ़ने एवं देशभक्ति की प्रेरणा दी। उनका महावाक्य था—सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का नारा विश्व को देकर 4 जुलाई 1902 को वे इस धरा से प्रस्थान कर गए। इसीलिए संपूर्ण भारत इनके 150वें जन्मदिवस के वर्ष को 12 जनवरी, 2013 से 12 जनवरी, 2014 तक संपूर्ण भारत में 'युवा वर्ष' के रूप में मना रहा है।

विवेकानन्द के बहुमूल्य वचन

- ज्ञान मनुष्य के अंतर्निहित है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता। सभी कुछ हमारे भीतर है।
- उठो! जागो! और तब तक न रुको, जब तक लक्ष्य न प्राप्त हो जाए। जब तक तुम कोई काम करो तब अन्य किसी बात का विचार ही मत करो; उसे एक उपासना मानो, बड़ी-से-बड़ी उपासना की भाँति करो और जब तक पूरी न हो जाए, उस समय तक के लिए उसमें अपना सारा तन-मन लगा दो।
- कौन सा धर्मग्रंथ यह कहता है कि महिलाएँ ज्ञान और आस्था के लिए सक्षम नहीं है? अतः उनका आदर करो।
- एक विचार को अपने मन में बाँध लो। उसी विचार को अपना जीवन बना लो।
- उसके बारे में सोचो, उसी के सपने देखो और उसी विचार को जियो।
- हम जो कुछ भी हैं, जो भी करना चाह रहे हैं, उसके लिए हम ही जवाबदेह हैं।
- हमारे पास उसे पूरा करने की असीम क्षमता है। हम वर्तमान में जो कुछ भी हैं, यह हमारी भूतकाल में की गई कृतियों का परिणाम है।
- जाति प्रथा वेदांत के धर्म के सर्वथा विरुद्ध है। जाति एक सामाजिक प्रथा है और सभी महापुरुषों ने उसे तोड़ने का प्रयास किया है। उसकी जगह समरसता में विश्वास करो।
- केवल कुछ लोग हैं, जो मस्तिष्क की भाषा समझते हैं, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति वह भाषा समझता है जो दिल से आती है।
- प्रेम सभी असंभव दरवाजे खोलता है। प्रेम ब्रह्मांड के सभी रहस्यों का दरवाजा है। प्रत्येक कदम पर जिसने इस विश्व में नाम कमाया है, वह प्रेम से ही आया है।

- अपने प्रति आत्महीनता की भावना न रखें, क्योंकि आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि पहले हम स्वयं मे विश्वास करें और फिर ईश्वर में। जिसे स्वयं में विश्वास नहीं, उसे ईश्वर में कभी भी विश्वास नहीं हो सकता।
- दान से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। सबसे छोटा मनुष्य वह है, जिसका हाथ सदा अपनी ओर रहता है और जो अपने ही लिए सब पदार्थों को लेने में लगा रहता है। सबसे उत्तम पुरुष वह है, जिसका हाथ बाहर की ओर है तथा जो दूसरों को देने मे लगा है।
- संसार में उपकार करना अपना ही उपकार करना है। दूसरों के लिए किए गए कार्य का मुख्य फल है—अपनी स्वयं की आत्मशुद्धि। दूसरों के प्रति निरंतर भलाई करते रहने से हमें स्वयं को भूलने का प्रयत्न करते रहते हैं। हमें सदैव परोपकार करते रहना चाहिए। यदि हम सदैव यह ध्यान रखें कि दूसरों की सहायता करना एक सौभाग्य है तो परोपकार करने की इच्छा एक सर्वोत्तम प्रेरणाशक्ति है।

□□□

शिक्षा का सार तथ्यों का संकलन नहीं,
बल्कि मन की एकाग्रता प्राप्त करना है।

-स्वामी विवेकानन्द

नरेन्द्र से विवेकानन्द बनने की कहानी

–राम बहादुर राय

देश और दुनिया पर स्वामी विवेकानन्द की छाप अमिट है। वह बनी रहेगी। उनके काम-काज और विचारपूर्ण जीवन का प्रभाव हमारे महान् नेताओं पर भी पड़े। इसके ढेर सारे प्रमाण मौजूद हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, रवींद्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविंद, महात्मा गांधी, डॉ॰ केशव बलीराम हेडगेवार, माधव सदाशिवराव गोलवलकर (श्रीगुरुजी) जैसे नाम बहुत हैं। जिस विवेकानन्द ने इन राष्ट्रनायकों को प्रभावित किया, उन्हें जानने और समझने के लिए पर्याप्त साहित्य-सामग्री उपलब्ध है। उसमें निरंतर बढ़ोतरी ही हो रही है। उन पर खोज हो रही है। नई-नई सामग्री मिल रही है। संभावना बनी हुई है कि उनके दुर्लभ पत्र मिल जाएँगे। इससे उनके पत्रों की न केवल संख्या बढ़ेगी बल्कि विवेकानंद को जानने के कुछ पुष्ट आधार और मिल जाएँगे। एक कहावत है कि नदी का मूल और महात्मा का मूल खोजा नहीं जाना चाहिए। यह कहावत क्यों निकली? इसके जो भी कारण रहे हों, इतना तो तय है कि स्वामी विवेकानंद इस कहावत के अपवाद हैं। उनका जीवन अपवादों से भरा है। वे अनोखे हैं।

यह भी क्या कम आश्चर्य की बात है कि उनका जीवन अल्पकालीन था। वे इस धरती पर 39 साल कुछ महीने ही रहे। इस अल्पकाल में जो उन्होंने किया, वह कल्पना से परे है और इतना है कि उसे एक व्यक्ति एक जीवन में पूरा नहीं कर सकता। इसका एक अर्थ यह भी है कि वे अपने पूर्वजन्म के कुछ काम जो छोड़ गए थे, उसे आकर पूरा किया और फिर शरीर छोड़ दिया। उसी स्वामी विवेकानन्द को जानने के लिए उनका बचपन बहुत सहायक है। वे एक संपन्न परिवार में पैदा हुए थे। उनका जन्म 12 जनवरी, 1863 को सोमवार की सुबह सूर्योदय से कुछ मिनट पहले 6 बजकर 33 मिनट 33 सेकेंड पर हुआ। वे वैदिक धर्म का पुनरुज्जीवन करनेवाले एक धर्म-सूर्य के रूप में उदित हुए। 'विवेकानंद–एक खोज' के लेखक शंकर ने लिखा है–"वे तीन गौर मुखर्जी स्ट्रीट वाले घर में पैदा हुए थे। शैशव, बचपन और यौवन यहीं बिताकर 23 वर्ष की उम्र में नरेन्द्रनाथ दत्त ने संन्यास ग्रहण किया।" नरेन्द्रनाथ दत्त नाम उन्हें परिवार ने दिया। जब वे परिव्राजक हुए तो पहले विविदिषानंद, बाद में कुछ समय के लिए सच्चिदानंद और अंत में स्वामी विवेकानन्द हुए।

वे नामी-गिरामी वकील घराने के दुलारे बेटे थे। लेकिन उनके किशोर, बचपन और यौवन की कोई तस्वीर संग्रह में उपलब्ध नहीं है। शंकर ने लिखा है–"कहा जाता है कि विदेशी भक्त मिस जोसेफिन मैकलाउड जब भारत भ्रमण पर आई थी, तब उन्होंने कॉलेज छात्र नरेंद्रनाथ की एक तस्वीर देखी थी।" वह और ऐसे अनेक दुर्लभ तथ्यों की सामग्री जब उनके घर पर छापेमारी हुई तब अंग्रेज पुलिस उठा ले गई और इस तरह इतिहास का एक पन्ना गायब हो गया, जो अब तक अधूरा है।

जो भी हो, यह जानना रोचक है कि बचपन में स्वामी विवेकानन्द थे कैसे? इसे कई स्त्रोतों से जाना जा सकता है। उनके जीवनी लेखकों ने भी विस्तार से जानकारी दी है। स्वयं विवेकानन्द भी कहते हैं– "बचपन में मैं अतिशय हुड़दंगी और खुराफाती था, वरना साथ में कानी कौड़ी लिये बिना मैं समूची दुनिया की यूँ सैर कर पाता?" इससे उनके बचपन का एक परिचय मिलता है। इससे पता चलता है कि उनका स्वभाव उस समय किस तरह का था। उनके इस स्वभाव का विस्तार से भी वर्णन उपलब्ध है। इसके लिए यह अंश पढ़िए–"मैं जानता हूँ, मेरे जन्म से पहले मेरी माँ व्रत-उपवास किया करती थीं, जो मैं पाँच मिनट भी नहीं कर सकता। दो वर्षों तक उन्होंने यह सब किया। मुझमें जितनी भी धार्मिक संस्कृति मौजूद है, उसके लिए मैं अपनी माँ का कृतज्ञ हूँ। आज मैं जो बना हूँ, उसके लिए मेरी माँ ही सचेतन भाव से मुझे इस धरती पर लाई हैं। मुझमें जितना भी आवेश मौजूद है, वह मेरी माँ का ही दान है और

यह सारा कुछ सचेतन भाव से है, इसमें बूँद भर भी अचेतन भाव नहीं है।

"मेरी माँ ने मुझे जो प्यार-ममता दी है, उसी के बल पर मेरे वर्तमान के 'मैं' की सृष्टि हुई है। उनका यह कर्ज मैं किसी दिन भी चुका नहीं पाऊँगा।

"जाने कितनी ही बार मैंने देखा है कि मेरी माँ सुबह का आहार दोपहर दो बजे ग्रहण करती हैं। हम सब सुबह दस बजे खाते थे। और वे दोपहर दो बजे। इस बीच उन्हें हजारों काम करने पड़ते थे। यथा कोई आकर दरवाजा खटखटाता–अतिथि! उधर मेरी माँ के आहार के अलावा रसोई में और कोई आहार नहीं होता था। वे स्वेच्छा से अपना आहार अतिथि को दे देती थी। बाद में अपने लिए कुछ जुटा लेने की कोशिश करती थी। ऐसा था उनका दैनिक जीवन और यह उन्हें पंसद भी था। इसी वजह से हम सब माताओं की देवी-रूप में पूजा करते हैं।

"मुझे भी एक ऐसी ही घटना याद है। जब मैं दो वर्ष का था, अपने सईस के साथ कौपीनधारी वैरागी बनकर खेला करता था। अगर कोई साधु भीख माँगता हुआ आ जाता था तो घरवाले ऊपरवाले कमरें में ले जाकर मुझे बंद कर देते थे और बाहर से दरवाजे की कुंडी लगा देते थे। वे लोग इस डर से मुझे कमरे में बंद कर देते थे कि कहीं मैं उसे बहुत कुछ न दे डालूँ।

"मैं भी मन-प्राण से महसूस करता था कि मैं भी इसी तरह साधु था। किसी अपराधवश भगवान शिव के सामीप्य से विताड़ित कर दिया गया। वैसे मेरे घरवालों ने भी मेरी इस धारणा को और पुख्ता कर दिया था। जब कभी मैं कोई शरारत करता, वे लोग कह उठते थे–'हाय, हाय! इतना जप-तप करने के बाद अंत में शिवजी ने कोई पुण्यात्मा भेजने के बजाय हमारे पास इस भूत को भेज दिया' या जब मैं बहुत ज्यादा हुड़दंग मचाता था, वे लोग 'शिव! शिव' का जाप करते हुए मेरे सिर पर बालटी भर पानी उड़ेल देते थे। मैं तत्काल शांत हो जाता था। कभी इसको अन्यथा नहीं लेता था। आज भी जब मेरे मन में कोई शरारत जागती है, यह बात मुझे याद आ जाती है और मैं उसी पल शांत हो जाता हूँ। मैं मन-ही-मन बुदबुदा उठता हूँ–'ना, ना! अब और नहीं'।"

स्वामी विवेकानन्द की पढ़ाई-लिखाई आज के कलकत्ता में हुई। उस समय भी उनकी प्रकृति 'धर्म प्रवण' थी। जाँच-परख का स्वभाव था। केवल किसी के कहने मात्र से वे संतुष्ट नहीं होते थे। वे कई मायने में असामान्य थे। उनके सोने का ढंग निराला था। इस बारे में उन्होंने खुद ही विस्तार से बताया है। यह एक वाक्य हमें उस निरालेपन को समझाता है–"सोने के लिए आँखें मूँदते वक्त मुझे अपनी भौंहों के बीच एक अपूर्व ज्योतिर्बिंदु दिखाई देता था और अपने मन में तरह-तरह के परिवर्तन भी महसूस करता था। सुविधा के लिए लोग जिस मुद्रा में जमीन पर मत्था टेककर प्रणाम करते हैं, मैं उसी तरह शयन करता था।" यह बात उनके ध्यान में कब आई और कैसे आई? इस बारे में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं–"यह धारणा मेरे मन में घर कर गई थी कि सभी लोग इस तरह ही सोते हैं। दीर्घ समय तक मुझे यही गलतफहमी थी। बड़े होने के बाद, जब मैंने ध्यान-अभ्यास शुरू किया, तब आँखें मूँदते ही सबसे पहले वही ज्योतिर्बिंदु मेरे सामने शुरू किया, तब आँखें मूँदते ही सबसे पहले वही ज्योतिर्बिंदु मेरे सामने उभर आता और मैं उसी बिंदु पर अपना चित्त एकाग्र करता था। महर्षि देवेंद्रनाथ की सलाह पर जब मैंन चंद हमउम्र साथियों के साथ नित्य ध्यान-अभ्यास शुरू किया, तब ध्यान में किसे, किस प्रकार का दर्शन और उपलब्धि होती है, इस बारे में हम आपस में बातचीत भी करते थे। उन दिनों उनकी बातें सुनकर मैं समझ गया कि उस प्रकार का ज्योति-दर्शन उनमें से किसी को नहीं हुआ और उनमें से कोई भी औंधे मुँह नहीं सोता था।"

एक दिन की घटना है कि स्वामी विवेकानंद ध्यान में तल्लीन थे तो क्या हुआ–"तभी एक रात कमरे का दरवाजा बंद करके ध्यान करते-करते एकदम से तल्लीन हो गया। कितनी देर तक मैं उस तरह बेसुध ध्यान में लीन रहा, बता नहीं सकता। ध्यान शेष हुआ, फिर भी उसी मुद्रा में बैठा रहा। ऐसे में कमरे की दक्षिणी दीवार भेदकर एक ज्योतिर्मय मूर्ति प्रकट हुई और मेरे सामने आ खड़ी हुई। उनके चेहरे पर अद्भुत कांति झलक रही थी, फिर भी मानो कोई भाव न हो। महाशांत संन्यासी मूर्ति-मुंडित मस्तक, हाथ में दंड और कमंडलु! कुछ देर वे मेरी तरफ एकटक देखते रहे। उस समय उनके चेहरे पर ऐसा भाव था, मानों वे मुझसे कुछ कहना चाहते हों। मैं भी अवाक् दृष्टि से उनको निहारता रहा। अगले ही पल मानो किसी खौफ से भर उठा। मैंने जल्दी से दरवाजा खोला और कमरे से बाहर निकल आया। बाद में खेद हुआ कि मूर्खों की तरह डरकर मैं भाग क्यों खड़ा हुआ। वे शायद मुझसे कुछ कहते, लेकिन उस रात के बाद उस मूर्ति के कभी दर्शन नहीं हुए। कई बार मेरे मन ने कहा कि अगर दुबारा उस मूर्ति के दर्शन हुए तो मैं डरूँगा नहीं, उनसे बात करूँगा। लेकिन फिर कभी वह मूर्ति नजर नहीं आई। मैंने बहुत सोचा, मगर कोई कूल-किनारा नहीं मिला। अब मुझे लगता है कि उस रात मैंने भगवान् बुद्ध के दर्शन किए थे।"

इस बारे में उन्होंने बाद में बताया–"पुनर्जन्मवाद की जानकारी हुई तो मुझे यह ख्याल आया कि ये सब घटनाएँ शायद मेरे पिछले जन्म में घटी थीं और वही सब सांसारिक

स्मृतियाँ कभी-कभी इस जन्म में भी मेरे मन में ताक-झाँक करती हैं। लेकिन उसके भी बहुत बाद यह समझ में आया है कि इन सब अनुभवों की ऐसी व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है।" वे आगे कहते हैं–"अब लगता है कि इस जन्म में मुझे जिन-जिन लोगों या विषयों से परिचित होना था, उन्हें अपने जन्म से पहले ही चित्र-परंपरा मुताबिक मैंने किसी तरह देख लिया था।

"छात्र जीवन में ही ऐसी आदत पड़ गई थी कि किसी भी लेखक की कृति की पंक्ति-पंक्ति न पढ़ने के बावजूद मैं मतलब समझ लेता था। हर पैराग्राफ की पहली और अंतिम पक्ति पढ़कर मैं उसका भाव समझ लेता था। यह आदत जब धीरे-धीरे और बढ़ गई तब पैराग्राफ पढ़ने की भी जरूरत नहीं होती थी। हर पृष्ठ की पहली और अंतिम पंक्ति पढ़कर ही सारा कुछ समझ लेता था। जहाँ कहीं कोई विषय समझाने के लिए लेखक चार-पाँच या अधिक पृष्ठों में विस्तार से बताता था, वहीं शुरू की कुछेक बातें पढ़कर ही मैं पूरा विषय समझ लेता था।

"यौवन में पदार्पण करने तक हर रात बिस्तर पर लेटते ही मेरी नजरों के सामने दो दृश्य उभर आते थे। एक दृश्य में मैं देखता था कि मैंने अशेष धन-जन-संपदा और ऐश्वर्य अर्जित कर लिया है। दुनिया में जिन लोगों को धनी आदमी कहते हैं, मैंने उनमें शीर्ष स्थान प्राप्त किया है। मुझे लगता था कि मुझमें सच ही धनी आदमी बनने जैसी ताकत मौजूद है। अगले ही पल मैं देखता था कि दुनिया की तमाम चीजें त्यागकर एकमात्र प्रभु-इच्छा पर निर्भर करते हुए कौपीनधारी मैं अपनी मन-मर्जी का भोजन करता हूँ और किसी पेड़ तले रात गुजारता हूँ। मुझे ऐसा महसूस होता था कि अगर मैं चाहूँ तो इसी तरह ऋषि-मुनियों जैसा जीवन व्यतीत करने में समर्थ हूँ। इस प्रकार दो-दो ढंग का जीवनयापन करने की छवि मेरी कल्पना में उदित होती थी और अंत में, दूसरीवाली छवि मेरे मन पर अधिकार कर लेती थी। मैं सोचता था कि इन्सान इसी तरह परमानंद-लाभ कर सकता है। मैं भी ऐसा ही बनूँगा। उस वक्त इस जीवन के सुखों के बारे में सोचते-सोचते मैं ईश्वर-आराधना में निमग्न हो जाता था और सो जाता था। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसा अनुभव मुझे काफी दिनों तक होता रहा।"

वर्तमान (19वीं॰ शताब्दी) युग के प्रारंभ में बहुत लोगों ने यह आशंका जाहिर की थी कि इस बार धर्म का ध्वंस होना अवश्यभावी है। स्वामी विवेकानन्द इस कथन को बढ़ाते हुए अपनी आत्मकथा में कहते हैं–"एक वक्त तो ऐसा भी लगा कि जड़वाद और अज्ञेयवाद की उत्ताल तरंगें राह में आई हुई सभी चीजें, सारा कुछ अपने तेज प्रवाह में बहा ले जाएँगी।" यह मामला थोड़ा पेचीदा है। इन वाक्यों में उस समय की परिस्थितियों का एक वर्णन है। उसे वसंत पोतदार अपनी पुस्तक 'योद्धा सन्यासी–विवेकानन्द' में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं–"अंग्रेज इस देश में आए। यहाँ राज्य किया। उन्होंने नए-नए उपहार अपने काले गुलामों को भेंट में दिए। चाय और सोडा वॉटर से लेकर अंग्रेजी शिक्षा तथा रेलगाड़ी तक, पर यह सब नौकरी-धंधा और सुविधाओं से संबंधित था। वह शरीर से संबंधित था, पर दो बातें ऐसी थीं, जिनके द्वारा भारतीयों का काया-परिवर्तन नहीं, अपितु मन-परिवर्तन करने का षड्यंत्र रचा गया। वे थीं–विज्ञानमूलक नास्तिकता और क्रिश्चियन धर्म का प्रचार।

"ये दोनों बातें एक-दूसरे की पूरक नहीं थी, बल्कि परस्पर-विरोधी थीं। सारे संसार को नचानेवाले परमेश्वर को विज्ञानाभिमुख व्यक्ति द्वारा नकारकर 'एकमात्र यीशु ही पापमुक्त कर सकता है', ऐसी उद्घोषणा कर गरीब लोगों को धर्मांतरण का शिकार बनाने की वह एक भयावह षड्यंत्रकारी योजना थी।

"भारतीयों को वे आकर्षक व आश्चर्यकारक प्रतीत हुई। इन षड्यंत्रों की विषबेल संपूर्ण भारत में तेजी से फैली। सारी शिक्षा संस्थाएँ मिशनरियों के कब्जे में थीं। उन्होंने ऐसी विषैली सुई लगाई कि हरेक पीढ़ी के कुशाग्रबुद्धि विद्यार्थी नास्तिक बन गए। नास्तिक होना उस समय किसी कमी का द्योतक नहीं था। भारतवर्ष में प्राचीन समय से दोनों तरह से नास्तिकों-वेदधर्म को न माननेवालों को तथा शुद्ध निरीश्वरवादियों को समाज ने अमान्य नहीं किया था। चार्वाक, गौतम, महावीर और कुछ सांख्य विचारकों को महामानव माननेवालों की संख्या कुछ कम नहीं थी। पर पादरी लोग कॉलेज जानेवाले नवयुवकों को केवल नास्तिक बनाने पर नहीं तुले थे, अपितु उन्हें हिन्दू धर्म के घोर विरोधी बनाकर क्रिश्चियन धर्म के सम्मोहन में लाते थे। अंग्रेजों के आने से भारतीय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों का सत्यनाश हो रहा था। बंदूकधारी गोली फौज भारतीयों को राजनीतिक गुलाम बना रही थी और यीशू के तथाकथित मिशनरी प्रतिनिधियों की फौज भारतवर्ष की मिट्टी में सैकड़ों वर्षों से बोए हुए, उर्वरित, सर्वआत्मसात् करनेवाली संस्कृति की लहलहाली खेती पर हल चलाने के लिए क्रॉस का उपयोग कर रही थी।"

स्वामी विवेकानन्द ने भी माना है–"बचपन की उम्र में इस नास्तिकता का प्रभाव मुझ पर पड़ा था और एक वक्त ऐसा भी आया, जब मुझे लगा कि मुझे भी धर्म का सारा आसरा-भरोसा त्याग देना होगा। लेकिन शुक्र है कि मैंने ईसाई, मुसलमान, बौद्ध वगैरह धर्मों का अध्ययन किया और यह देखकर चकित रह गया कि हमारा धर्म जिन सब मूल तत्त्वों की शिक्षा देता है, अन्याय धर्म हू-ब-हू वही शिक्षा देते हैं। उस समय मेरे मन में प्रश्न जाग उठा–तो फिर सत्य क्या है?

"जब मैं बालक था, इसी कलकत्ता शहर में सत्य की खोज में यहाँ-वहाँ घूमता था और लंबे-लबे भाषण सुनकर मैं वक्ता से सवाल करता था, 'आपने क्या ईश्वर के दर्शन किए हैं?' ईश्वर-दर्शन के सवाल पर बहुतेरे वक्ता चौंक उठते थे।" यहाँ यह जान लेना चाहिए कि युवा नरेंद्र पर नास्तिकता का प्रभाव अवश्य पड़ा था, लेकिन उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति ने रास्ता निकाला। जिज्ञासा में ही वे पूछते थे कि क्या आपने ईश्वर को देखा है? वसंत पोतदार ने लिखा है–"एक दिन नरेंद्र ने यही अमोघ बाण देवेंद्रनाथ पर चलाया। देवेंद्रनाथ यानी बंगाल में ब्रह्म समाज के अधिष्ठाता। उन्हें 'महर्षि' की उपाधि प्राप्त थी। वह और कोई नहीं अपितु कविगुरु रवींद्रनाथ के पिता देवेंद्रनाथ टैगोर थे।

जिन दिनों जिज्ञासु नरेंद्र हर छोटे-बड़े संत-महात्मा से यह प्रश्न पूछकर निराश से हो रहे थे, उन्हीं दिनों की बात है कि 'एक दिन अंग्रेजी भाषा के अध्यापक अवकाश पर थे, इसलिए प्रधानाचार्य स्वयं पढ़ने के लिए नरेंद्र की कक्षा में आए। उन्होंने विलियम वड्र्सवर्थ की कविता 'एक्सकर्शन' पढ़ाना प्रारंभ किया। उसमें 'एक्सटेटिक जॉय' यानी लगभग भावसमाधि की अनुभूति का संदर्भ आया। उन दिनों नरेंद्र स्कॉटिश चर्च कॉलेज में पढ़ते थे। प्रधानाचार्य थे–सर विलियम हेस्टी। हेस्टी ने उस कविता को पढ़ाने के बजाय पुस्तक बंद कर दी और छात्रों से कहा कि आज के समय में ऐसा अनुभव विरले लोगों को होता है। लेकिन मैं एक व्यक्ति को जानता हूँ, जो उन विरले लोगों में से हैं। वे दक्षिणेश्वर मंदिर के रामकृष्ण परमहंस हैं। जाहिर है कि नरेंद्र को पहली बार रामकृष्ण परमहंस के बारे में पता चला।

वे तुरंत दक्षिणेश्वर नहीं गए। लेकिन संयोग की बात थी कि एक दिन अपने पड़ोस में ही नरेन्द्र को रामकृष्ण परमहंस से मिलने का अवसर आया। मणिकतल्ला मोहल्ले में उसकी मुलाकात परमहंसजी से हो गई। परमहंसजी के एक भक्त नरेंद्र के पड़ोस में ही रहते थे। उनका नाम था सुरेंद्रनाथ। एक दिन सहसा परमहंस उनके घर आ पहुँचे। साक्षात् ठाकुर (बंगाली में ठाकुर देवता को कहते हैं। बंगाली लोग रामकृष्णजी को आज भी ठाकुर नाम से ही संबोधित करते हैं।) को घर में देख सुरेंद्रनाथ बड़े ही आनंदित हुए। वे समझ नहीं पा रहे थे कि उनका अतिथि-सत्कार किस प्रकार किया जाए। उन्हें एकाएक नरेंद्र का स्मरण हुआ। उन्होंने सोचा कि यदि वह अपने मधुर कंठ से भजन सुनाएगा तो संगीत-प्रेमी परमहंस प्रसन्न हो जाएँगे। उन्होंने तुरंत ही नरेंद्र को बुलवाया। वह आया और भक्ति से ओत-प्रोत सुरीली आवाज में उसने भजन सुनाए। परमहंस संगीत के स्वरों में डूब गए। उन्होंने नरेंद्र से दक्षिणेश्वर आने का पुनः-पुनः आग्रह किया। गुरु-शिष्य की यह पहली मुलाकात नंवबर 1881 में हुई। और एक दिन नरेंद्र अपने कुछ मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर गया। परमहंस ने उसके तथा उसके मित्रों को स्वागत किया। उन्हें अपने कक्ष में बिठाया। रामकृष्ण ने नरेंद्र से भजन गाने की विनती की। नरेन्द्र ने भजन की शुरूआत की। मुखड़ा था–'मन चलो निज निकेतन संसार-विदेशे विदेशीर वेश भ्रम केनो अकारणे।' (रे मन। चल, अपने घर चल। यह दुनिया परदेश है। यहाँ विदेशी वस्त्रों में क्यों बेकार भटक रहे हो?)

जब भजन समाप्त हुआ तो परमहंसजी के नेत्र बंद थे। अब क्या किया जाए? उसी समय एक दूसरे भक्त ने नरेंद्र से एक दूसरा भजन गाने के लिए कहा। उसकी प्रथम पंक्ति के गाते-गाते ही रामकृष्णजी की भावसमाधि भंग हो गई। वे उठे। उन्होंने नरेंद्र का हाथ पकड़कर उठाया और कमरे से बाहर ले गए। आगे जो हुआ, उसका वर्णन करते हुए विवेकानंद कहते हैं–

"वे मुझे कमरे से बाहर ले गए। दरवाजा खींच लिया। सामने गंगा थी। बरामदे के एक कोने में मुझे ले जाकर उन्होंने कहा, 'अरे, निष्ठुर आदमी! कितने विलंब से तुम मुझये मिले? जल्दी क्यों नहीं आए? मेरी अंतरात्मा में संचित आध्यात्मिक अनुभूति की संपत्ति मैं किसी योग्य उत्तराधिकारी को देने के लिए कब से छटपटा रहा हूँ। तुम पहले क्यों नहीं मिले?'

"मैं घबरा गया। मुझे लगा था, शायद यह साधु मुझे कोई मंत्रोपदेश देगा। कोई उपासना बताएगा, उसे सुनकर मैं चला जाऊँगा, पर वह तो कुछ और ही कहने लगे। बाद में वे एकाएक रोने लगे। आँखों से अवरिल अश्रुधाराएँ बहने लगीं। उन्होंने हाथ जोड़कर मुझसे कहा, 'प्रभु! मैं आपको पहचानता हूँ। मानव-जाति का उद्धार करने भूतल पर अवरित वेदकालीन ऋषि आप ही हैं, यह मुझे मालूम है।'

"मैं एक क्षण के लिए आश्चर्यचकित रह गया। मैं थोड़ा सहम गया। मैं तो विश्वनाथ बाबू का लड़का नरेंद्रनाथ हूँ। मुझे ये 'ऋषि' झूठी उपाधियाँ दे रहे हैं?

"मेरे किसी निषेध करने से पहले ही वे फिर बोलने लगे, 'बेटा! मुझे यह वचन दो कि तुम मुझसे मिलने के लिए जल्दी ही दक्षिणेश्वर आओगे। पर मित्रों के साथ नहीं, अकेले, एकदम अकेले।'

"मैंने तुरंत वचन दिया, इसलिए कि मैं उनसे पीछा छुड़ाकर मुक्त होना चाहता था। हम दोनों फिर कमरे में वापस आ गए। वे अपने आसन पर बैठ गए और मैं अपने मित्रों के साथ।

"और मुझे आज तक का मेरा अनुत्तरित प्रश्न याद आया। मैंने उनसे तुरंत पूछा, 'आपने ईश्वर को देखा है?'

"उन्होंने कहा, 'हाँ, मैंने एकदम समीप से देखा है। तुम

जहाँ बैठे हो, उससे भी अधिक समीप से। प्रत्यक्ष, एकदम सामने से। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अरे, तुम और अन्य कोई भी ईश्वर को देख सकते हो। उससे मिल भी सकते हो, पर उतनी तीव्र लगन होनी चाहिए। नहीं तो नाम जप भगवान् का और सारा ध्यान परिवार के कल्याण में, प्रसिद्धि प्राप्त करने में और धनार्जन करने में। ऐसे में ईश्वर का दर्शन कैसे हो सकता है? ईश्वर कैसे मिल सकता है? स्वार्थ के चक्कर में जिदंगी भर इधर-उधर न भटकते हुए अगर प्रभु-शक्ति पर मन केंद्रित किया जाए तो वह शक्ति भक्तों के सामने निश्चय ही प्रकट होगी, यह मैं स्वानुभाव से बता रहा हूँ, बेटा।'

"उनका उत्तर सुनकर मैं हतबुद्धि हो गया। मेरी मति कुंठित हो गई। मैं तुरंत उठा और कलकत्ता के लिए रवाना हो गया।" ऐसा उत्तर प्राचीन समय में भी किसी सद्गुरू ने नहीं दिया होगा।

यहाँ यह जानना जरूरी है कि रामकृष्ण परमहंस कौन थे? 'महायोगी महर्षि अरविंद ने लिख रखा है कि आगामी पाँच हजार वर्षों में परमहंस जैसा महापुरुष पैदा होनेवाला नहीं है।' जिसे दुनिया रामकृष्ण परमहंस के रूप में जानती है, वे हुगली जिले के एक गाँव कामारपुकुर में 18 फरवरी, 1836 को पैदा हुए थे। बचपन में उनका नाम था–गदाधर। उनके बड़े भाई रामकुमार संस्कृत के पंडित थे। वे कलकत्ते में एक पाठशाला चलाते थे। अपने अनुज गदाधर का जीवन सुधारने के लिए वे उन्हें कलकत्ता ले आए। उस समय गदाधर की उम्र 16 साल थी। वे अपने भाई की सलाह पर पुरोहिती करने लगे। इसमें तीन साल निकल गए। उसी दौरान एक घटना घटी। एक उदार महिला रासमणि तीर्थयात्रा पर बनारस पहुँचीं। वे विधवा थीं। उन्हें तीर्थयात्रा में काली माँ का सपना आया। उन्हें आदेश मिला कि मेरा मंदिर बनाओ। उसमें मेरी प्राण-प्रतिष्ठा करो और रोज नैवेद्य अर्पण करो। वे यात्रा स्थगित कर वापस आई। कलकत्ता के उत्तर में बीस एकड़ जमीन खरीद ली। मंदिर, मूर्ति, बगीचा, घर, गंगा के तट पर घाट आदि के निर्माण में दस वर्ष का समय लग गया। अंतंत: दक्षिणेश्वर नाम सुंदर परिसर का निर्माण संपन्न हुआं। वह मंदिर अनायास ही गदाधर को मिल गया, जो तब तक रामकृष्ण हो चुके थे। गदाधर रामकृष्ण कैसे बने? इसका भी एक रोचक किस्सा है।

स्वामी विवेकानंद ने बताया है कि जब मैं श्रीरामकृष्ण परमहंस से मिला तो मैंने समझा, हमारे जो श्रेष्ठ आदर्श हैं, उन्होंने उन्हें अपने जीवन में उतार लिया है। नतीजा यह हुआ कि श्रीरामकृष्ण जिस पथ के पथिक थे, मेरे अंदर भी वही पथ अवलंबन करने की प्रबल आकांक्षा जाग उठी। मैंने संन्यास ग्रहण करने का संकल्प लिया। वह प्रसंग इस प्रकार घटित हुआ–एक बार रामकृष्णजी ने नरेंद्र को अपने पास बुलाया। वात्सल्यपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर सतत निहारते हुए वे समाधिस्थ हो गए। नरेंद्र का अनुभव हुआ कि विद्युत-प्रवाह की तरह कोई शक्ति उसके शरीर में प्रवेश कर रही है।उसका बह्मज्ञान समाप्त हो गया और वह बेहोश हो गया। उसे जब होश आया तो उसने देखा कि ठाकुरजी सिसककर रो रहे हैं। यह कौन सी अजीब लीला हो रही है? यह प्रश्न वह ठाकुरजी से पूछने ही वाला था कि वह स्वयं पहले ही बोल पड़े, "नोरेन! आज तुम्हें अपना सर्वस्त्र देकर मैं फकीर हो गया। इस शक्ति से तुम संसार में अद्भुत काम कर सकोगे।"

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "आखिरकार एक दिन मेरे गुरुदेव का प्रयाणकाल उपस्थित हुआ।" वह तारीख थी–15 अगस्त, 1886, रविवार। उनके जाने के बाद गुरुतर दायित्व संन्यासी नरेंद्र पर आया। वे देश-भ्रमण पर निकल पड़े। परिव्राजक जीवन अपनाया। उसी दौर में 1891 में उनकी भेंट खेतड़ी नरेश अजीत सिंह से हुई। राजा अजीत सिंह के ही सुझाव पर उन्होंने अपना नाम स्वामी विवेकानन्द रखा। "खतेड़ी की प्रथम यात्रा में एक दिन स्वामी के पास राजाजी बैठे हुए थे। उन्होंने हँसत-हँसते कहा, 'महाराज! आपका नाम बड़ा कठिन है। बिना टीकाकार की सहायता से साधारण लोगों की समझ में इसका मतलब नहीं आ सकता। उच्चारण करना भी सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त अब तो आपका विविदिषाकाल (विविदिषा का अर्थ है–जानने की इच्छा) भी समाप्त हो चुका। स्वामीजी ने राजाजी के युक्ति परामर्श को सुनकर पूछा, आप किस नाम को पसंद करते हैं? राजाजी ने कहा–मेरी समझ से आपके योग्य नाम है–'विवेकानंद'। स्वामीजी ने परमानुरक्त राजाजी की इच्छा के अनुसार उस दिन से अपना नाम विवेकानन्द मानकर उसका ही व्यवहार आरंभ कर दिया।"

राजा अजीत सिंह ने ही उनकी अमेरिका यात्रा का प्रबंध किया। स्वामी विवेकानंद 31 मई 1893 को बंबई बदरगाह से अमेरिका के लिए रवाना हुए। उनकी एक सौ बीसवीं वर्षगाँठ बंबई में मनाई गई, जिसमें राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी और लालकृष्ण आडवाणी सहित अनेक गणमान्य जन शामिल हुए।

□□□

स्वामीजी और भारतीय नारी का आदर्श

-प्रव्राजिका आत्मप्राणा

(लेखिका श्री सारदा मठ की वरिष्ठ संन्यासिनी हैं और वर्तमान में रामकृष्ण सारदा मिशन, नयी दिल्ली, की सचिव हैं। उनके द्वारा अँगरेजी में लिखित 'सिस्टर निवेदिता' ग्रन्थ बहुप्रशंसित हुआ है तथा उस पर उन्हें 'रवीन्द्र मेमोरियल अवार्ड' मिला है। प्रस्तुत लेख रामकृष्ण मिशन इंस्टीटयूट ऑफ कल्चर, कोलकाता, की 'बुलेटिन' के मार्च 1963 अंक में छपा था, जहाँ से वह साभार गृहीत और अनुदित हुआ है।)

श्री सीता के प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था– "उन्होंने अविचलित भाव से ऐसे महादु:ख का जीवन व्यतीत किया, वही नित्य साध्वी, सदा शुद्धस्वभाव सीता, आदर्श पत्नी सीता, मनुष्य-लोक की आदर्श, देवलोक की भी आदर्श नारी पुण्य-चरित्र सीता सदा हमारी राष्ट्रीय देवी बनी रहेंगी। .... सीता का प्रवेश हमारी जाति की अस्थि-मज्जा में हो चुका है; प्रत्येक हिन्दू नर-नारी के रक्त में सीता विराजमान हैं; हम सभी सीता की सन्तान हैं।" भारतीय नारी ने चिरकाल से जिस आदर्श पर चलने का प्रयास किया है, स्वामी विवेकानन्द ने कई बार बड़ी उद्दीप्त भाषा में उसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। सच पूछिये तो सन्यास-जीवन के समान ही नारी-जीवन भी बाह्य अभिव्यक्ति की वस्तु नहीं है। इसका मूल लक्ष्य है– आन्तरिक जीवन को समृद्ध बनाना; और भारतीय नारी के त्याग, पवित्रता, धैर्य, दया, सन्तोष तथा सेवा आदि सद्गुणों का विकास करके राष्ट्र की सांस्कृतिक उदात्तता और आध्यात्मिकता के उच्च स्तर को अक्षुण्ण बनाए रखा है।

परन्तु वर्तमान युग में भारतीय नारी एक दोराहे पर खड़ी है। उसके सम्मुख आज दो विपरीत आदर्श उपस्थित हैं– एक तो परम्परागत आदर्श और दूसरा आधुनिक नागरिक आदर्श। प्रत्येक सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में स्थित आदर्श में ही उसका सक्रिय तत्त्व निहित है और प्रत्येक उद्यम उस आदर्श को ही सबल बनाता है। यदि भारतीय नारी को अन्य सभी देश की नारियों के साथ आगे बढ़ना है, एक अभिनव समाज गढ़ने के बारे में विचार करना है, तो उसे यह निर्णय लेना होगा कि इनमें से कौन-सा आदर्श अपनाया जाए।

स्वामी विवेकानन्द की विविध उक्तियाँ इन दो तरह के आदर्शों पर थोड़ा प्रकाश डालती हैं। भारतवर्ष में प्राचीन काल से परिवार-आदि का ही प्राबल्य रहा है। परिवार यद्यपि समाज की लघुतम इकाई है, परन्तु भारतीय जीवन-पद्धति में इसकी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही है, क्योंकि व्यक्ति के जीवन को गढ़ने वाली सभी मार्गदर्शक एवं नियामक प्रेरणाएँ परिवार से ही आती प्रतीत होती हैं। जाति की शुद्धता, विवाह-बन्धन की पवित्रता, मातृत्व, आदि सभी विचारों का लक्ष्य है परिवार के संघटन को सुरक्षित रखना। इन आदर्शों के क्रियान्वयन में जो महत्वपूर्ण भूलें हुईं, स्वामीजी ने कभी-कभी उनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, पर उन आदर्शों को उन्होंने पूरी तौर से उड़ा नहीं दिया। उदाहरणार्थ– जाति के पतन एवं नर-नारियों की शारीरिक दुर्बलता के लिए उन्होंने बालविवाह को दोषी ठहराया, पर साथ ही उन्होंने इस कुप्रथा का भी यह कहकर मान्य किया कि इसने हमारी जाति में पवित्रता का उच्च स्तर बनाए रखा है। उन्होंने हमारे विवाह व्रत और मातृत्व के आदर्शों की भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं अन्य जातियों एवं राष्ट्रों से अनुरोध किया कि इस क्षेत्र में वे भारत का अनुसरण करें, "मेरे विचार से पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए किसी भी जाति को मातृत्व के प्रति परम आदर की धारणा दृढ़ करनी चाहिए, और वह विवाह को अच्छेद्य एवं पवित्र धर्म संस्कार मानने से ही हो सकती है।" और पुन: वे अमेरिकी माताओं से कहते हैं– "माता के रूप में अमेरिकन स्त्री कहाँ है? उस तपस्विनी एवं ओजस्विनी माता का, जिसने हमें जन्म दिया, तुमने क्या सम्मान किया है? जिसने हमें अपने शरीर में नौ मास तक वहन किया, वह माता क्या है? जो हमारे जीवन के लिए यदि प्राणों की आहुति देने की आवश्यकता हो, तो बीस

बार भी देने को उद्यत है, वह माता कहाँ है? कहाँ है वह, जिसका प्रेम कभी नहीं मरता–मैं कितना ही दुष्ट और अधम क्यों नह हो जाऊँ? ... हे अमेरिका की स्त्रियों, वह माता कहाँ है? ... मेरे माता-पिता ने कितने दिनों तक भगवान से प्रार्थना की थी और व्रत रखा था कि उन्हें एक सन्तान प्राप्त हो। ... प्रत्येक बच्चे के लिए माता-पिता को प्रार्थना करनी चाहिए। ... अमेरिका की माताओ! इस पर जरा विचार कीजिए। हृदय के अन्त:स्थल में जरा सोचिए, क्या आप सचमुच नारी होना चाहती है? इसमें किसी जाति या किसी देश का प्रश्न नहीं, किसी प्रकार के राष्ट्रीय गौरव के मिथ्या गर्व का स्थान नहीं। ... आप सबसे आज रात मैं एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछना चाहता हूँ। क्या आप अपनी सन्तान की प्राप्ति के लिए ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना करती हैं? क्या आप माता होने के लिए कृतज्ञ हैं? क्या आप यह समझती हैं कि मातृत्व प्राप्त करके आप पावित्र्यपूर्ण गौरव को प्राप्त करती हैं? आप अपना हृदय टटोलें और पूछें। यदि नहीं, तो आपका विवाह मिथ्या है, आपका नारीत्व मिथ्या है, और आपकी शिक्षा एक ढकोसला है, और यदि आपके बच्चे प्रार्थना के बिना जन्म लेते हैं, तो वे संसार के लिए अभिशाप सिद्ध होंगे।"

जनसेवा को बढ़ावा देने वाले नागरिक आदर्शों की महिमा-गान में भी स्वामीजी पीछे नहीं रहे। नागरिक आदर्श में सामुदायिक एकता की तुलना में पारिवारिक स्वार्थ को नजर-अन्दाज किया जाता है। समुदाय के भीतर पुरुष और नारी दोनों को ही व्यष्टि का दर्जा मिलता है और वे नागरिक जीवन के आदर्श को रूपायित करने के लिए सचेत प्रयास करते हैं। सभी प्रकार के सामाजिक सामंजस्य इसी सामुदायिक विकास की ओर केन्द्रित हैं। पारिवारिक जीवन के स्थान पर सामुदायिक कल्याण की प्रतिष्ठा हो जाती है और इसके फलस्वरूप कभी-कभी परिवार का विघटन हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था की रक्षा में तत्पर हो जाता है। जब स्वामी विवेकानन्द अमेरिका में थे वे वहाँ की शिक्षित, साहसी और दयालु महिलाओं को 'पक्षियों के समान स्वाधीन' देखकर दंग रह गए थे। उन लोगों ने बड़े आत्मसम्मान के साथ अपने समुदाय के नागरिक जीवन को कायम रखा था। विस्मय एवं प्रशंसा के साथ उन्होंने अमेरिका से एक मित्र को लिखा– "मैंने जैसी शिष्ट और शिक्षित महिलाएँ यहाँ देखीं, वैसी कभी कहीं नहीं देखीं। हमारे देश में शिक्षित पुरुष हैं, परन्तु अमेरिका जैसी महिलाएँ मुश्किल से कहीं और दिखायी देंगी। ... मैंने यहाँ हजारों महिलाएँ देखीं, जिनके हृदय हिमालय के समान पवित्र और निर्मल हैं। अहा! वे कैसी स्वतंत्र होती हैं। सामाजिक और नागरिक कार्यों का नियंत्रण करती हैं। पाठशालाएँ और विद्यालय महिलाओं से भरे हैं और हमारे देश में महिलाओं के लिए राह चलना भी निरापद नहीं!" और इसके बाद ही वे लिखते हैं– "यहाँ लोग स्त्रियों को इसी रूप (शक्ति) में देखते हैं ... और इसीलिए ये इतने सुखी, विद्वान्, स्वतन्त्र और उद्योगी हैं। और हम लोग स्त्री-जाति को नीच, अधम, महा हेय एवं अपवित्र कहते हैं। फल हुआ– हम लोग पशु, दास, उद्यमहीन और दरिद्र हो गए।"

इस प्रकार हम देखते है। कि स्वामीजी ने एक-एक कर दोनों आदर्शों की ही प्रशंसा की है। परन्तु दोनों के प्रति उनकी समालोचना भी उतनी ही कठोर है। भारतीय महिलाओं की हालत के बारे में एक बार उन्होंने कहा था– "अब तक तो उन्होंने केवल असहाय अवस्था में दूसरों पर आश्रित हो जीवन-यापन करना, और थोड़ी-सी भी अनिष्ट या संकट की आशंका होने पर आँसू बहाना ही सीखा है।" दूसरी ओर उन्होंने न्यूयार्क में अमेरिकी महिलाओं को सुस्पष्ट और कठोरतापूर्वक कहा– "मैं बहुत चाहता हूँ कि हमारी स्त्रियों में तुम्हारी बौद्धिकता होती, परन्तु यदि वह चारित्रिक पवित्रता का मूल्य देकर ही आ सकती हो, तो मैं उसे नहीं चाहूँगा। तुमको जो कुछ आता है, उसके लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ, लेकिन जो बुरा है, उसे गुलाबों से ढँककर उसे अच्छा कहने का जो यत्न तुम करती हो, उससे मैं नफरत करता हूँ। बौद्धिकता ही परम श्रेय नहीं है। नैतिकता और आध्यात्मिकता के लिए हम प्रयत्न करते हैं। हमारी स्त्रियाँ इतनी विद्वान् नहीं, परन्तु वे अधिक पवित्र हैं।"

इस प्रकार अपने देश से बिल्कुल ही भिन्न आदर्श पर चलनेवाली महिलाओं के एक वर्ग के सम्पर्क में आने के बाद से इन दोनों आदर्शों तथा दोनों समाजों में महिलाओं की दशा का भेद उनके मनश्चक्षु के सामने उदित होने लगा। परवर्ती काल में जब उनके मन में अपने देश की महिलाओं के उत्थान के लिए कार्य करने की तीव्र आकांक्षा हुई, तो स्वाभाविक रूप से ही उनके मन में यह प्रश्न उठा कि भारतीय महिला किस हद तक अपने आदर्शों से समझौता करके अन्यदेशीय आदर्शों को अपना सकती है? इस विषय पर स्वामीजी ने जगत् को जो गहन और सर्वांगिण विचार दिए थे, उन्हें प्राय: सत्तर वर्ष होने को आए, पर वे अब भी यथावत् प्रेरणास्पद हैं।

शिक्षा को आध्यात्मिकता से जोड़ना

स्वामी विवेकानन्द कभी भी प्राचीन आदर्शों को तिलांजलि देकर नवीन आदर्शों को अपनाने के पक्ष में नहीं थे। बल्कि इसके विपरीत ही उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि हमारे राष्ट्रीय आदर्श जिन ठोस सिद्धान्तो की नींव पर खड़े हैं और प्रथा, परम्परा एवं विधि के द्वारा शताब्दी-पर-शताब्दी स्वीकृत हुए हैं, उनका कभी त्याग नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा– "यह सच है कि हम लोग इस समय इन भावों को पूर्ण रूप से कार्य में परिणत नहीं कर सकते; यह भी सम्पूर्ण सत्य है कि हम लोगों

ने इन सब महान् भावों में से कुछ को हास्यास्पद बना दिया है। ... किन्तु व्यावहारिक रूप में दोषों के आ जाने पर भी वह मूल तत्त्व बड़े ही महत्त्व का है और यदि उसका कार्यान्वित होना सदोष है, यदि इसके लिए कोई खास तरीका नाकामयाब हुआ है, तो उस मूल तत्त्व को लेकर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे वह अच्छी तरह काम में आ सके। मूल तत्त्व को नष्ट करने की चेष्टा क्यों? ... वह सनातन है, वह सदा ही रहेगा। ऐसा पुन: प्रयत्न करो जिससे वह तत्त्व ठीक-ठीक भाव से काम में लाया जा सके।" उनका ऐसा मत था कि यह संशोधित उपयोग दोनों ही आदर्शों के बीच एक महत्वपूर्ण सम्मिलन उत्पन्न करेगा। उनके इस विचार को और भी स्पष्ट करते हुए उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने लिखा है– "वे भविष्य की भारतीय नारी को ध्यान की प्राचीन शक्ति से अलग करके कल्पना तक नहीं कर पाते थे। महिलाएँ आधुनिक विज्ञान अवश्य सीखें, पर प्राचीन आध्यात्मिकता को त्याग कर नहीं। उन्होंने स्पष्ट रूप से समझा कि वही शिक्षा आदर्श होगी, जो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के प्रत्यक्ष परिवर्तन को कम-से-कम प्रभावित करेगी। इसके फलस्वरूप प्रत्येक महिला अतीत भारत की समस्त नारियों की महानता को अपने आप में पूर्णरूपेण भिदा लेने में समर्थ होगी।"

स्वामी विवेकानन्द जब कभी भारतीय नारी तथा उसकी समस्याओं के बारे में बोलते थे, तब वे एक तीसरे आदर्श के बारे में भी सचेत रहते थे, और वह था आध्यात्मिक आदर्श। भारतीय जीवन, चिन्तन एवं संस्कृति में आध्यात्मिकता इतनी ओतप्रोत है कि आध्यात्मिक आदर्श को एक अलग आदर्श के रूप में मान्य नहीं किया जा सकता। अत: हम अपने राष्ट्र के सामाजिक-धार्मिक इतिहास में संन्यासी एवं गृही दोनों ही प्रकार की अनेक महान् विभूतियों का उल्लेख पाते हैं।

राष्ट्र की आध्यात्मिकता के इस उच्च स्तर को बनाए रखने में महिलाओं का योगदान पुरुषों के समकक्ष ही रहा है। अतिप्राचीन वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक महिलाओं ने अपने ढंग से इस आदर्श को जीवन्त रखा है। मैत्रेयी से लेकर श्री सारदा देवी तक यह सांस्कृतिक विरासत पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती आयी है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने संसार त्यागकर वन में जाने से पूर्व (अपनी पत्नी) मैत्रेयी के जीवन निर्वाह हेतु अपनी सम्पत्ति का एक अंश उन्हें देने की इच्छा व्यक्त की थी। इस पर मैत्रेयी ने कहा था– "जो सम्पदा मुझे अमृतत्व नहीं प्रदान कर सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी?" इस पर याज्ञवल्क्य बड़े प्रसन्न हुए थे और उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया था। श्रीरामकृष्ण ने जब श्री सारदादेवी से पूछा कि क्या तुम पत्नी के रूप में अपने अधिकार का दावा करने आयी हो, तो उन्होंने उत्तर दिया था, "नहीं, मैं तुम्हें संसार में खींचने को नहीं, तुम्हारे धर्मपथ में सहायता करने आयी हूँ।" उसी समय से वे श्रीरामकृष्ण की प्रमुख शिष्या के रूप में स्वीकृत हुई।

मानव का वास्तविक स्वरूप दिव्य है और सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही अभिव्यक्ति है– वेदान्त की यह अनुभूति ही उपर्युक्त आदर्शवाद की पृष्ठभूमि है। स्वामी विवेकानन्द निर्भीक वेदान्ती थे और उन्होंने महिलाओं की स्वाधीनता एवं अधिकार का खुले तौर पर समर्थन किया, जिससे वेदान्त का यह तत्त्व पूर्ण रूप से व्यवहार में लाया जा सके।

उनका मन इन विचारों से इतना परिपूर्ण रहा करता था कि अपने काल की नारी-समस्याओं पर चर्चा के दौरान वे अचानक ही आविष्ट होकर कहने लगे– "परतत्त्व ब्रह्म में लिंगभेद नहीं। हमें 'मैं-तुम' की भूमि में लिंगभेद दिखायी देता है।" उन्होंने और भी कहा– "इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त-शास्त्र में तो कहा है, एक ही चित् सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है।"

इसी कारण उन्होंने महिलाओं के उच्चतर आध्यात्मिक प्रशिक्षण के विरोध में उठायी गयी आवाज को सुनने से इनकार कर दिया– "किस शास्त्र में ऐसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं होगी? ... इस सब आदर्श विदुषी स्त्रियों (यथा मैत्रेयी, गार्गी) को जब उस समय अध्यात्म ज्ञान का अधिकार था, तब फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा? एक बार जो हुआ है, वह फिर अवश्य ही हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है।" और इसलिए वे चाहते थे कि हमारे देश की महिलाएँ श्री सारदा देवी की प्रत्यक्ष प्रेरणा एवं देखरेख में, त्याग एवं सेवा के राष्ट्रीय आदर्शों के अनुसार जीवन गठन करें।

आधुनिक भारत की महिलाएँ, जो प्रगति के नाम पर वस्तुत: अपने रूपान्तरण पर चल पड़ी हैं, को चाहिए कि वे प्राचीन आदर्शों के आधार पर ही अपनी उन्नति एवं प्रगति करें और साथ ही नागरिक कार्यों के क्षेत्र में भी अपने प्रभाव का विस्तार करें। इसके फलस्वरूप उनका पारिवारिक जीवन सुखी होगा, नागरिक जीवन सहायक होगा और आध्यात्मिक जीवन समृद्ध होगा। साथ ही स्वामीजी का यह आदेश भी स्मरण रखना होगा– "इस देश की नारियों को ही क्यों, मैं उनसे भी वही बात कहूँगा, जो पुरुषों से कहता हूँ। भारत में विश्वास करो और भारतीय धर्म में विश्वास करो। शक्तिशाली बनो, आशावान् बनो और संकोच छोड़ो; और याद रखो कि यदि हम बाहर से कोई वस्तु लेते हैं, तो संसार की किसी अन्य जाति की तुलना में हिन्दू के पास उसके बदले में देने को अनन्त गुना अधिक है।"

किताबें

रचना भंडारी

याद है,
मुझे पहले-पहल देखा था तुमने
किताबों की उस दुकान में,
शेल्फ पर सजी, टकटकी बाँधें,
तुम्हें निहार रही थी।
तुम भी तो जैसे डोर से बँधे
मुझ तक आ गये थे,
मेरी रूखी-सी ज़िल्द को सहला
पहला सफ़ा पलटकर,
मेरा नाम उकेरा था उंगली से अपनी
और प्राक्कथन पढ़ने के बहाने,
गोद में लेकर बैठ गये थे;
कोने-वाली कुर्सी पर
ज़रूर प्रभावित हुए होगे,
तभी बिना दाम देखे
खरीदने को आमादा हो गये थे।
मैंने कहना चाहा था-
कि ज़रा एक-आध पन्ना पलट लो
सरसरी ही सही,
मुझे थोड़ा जान लो
जाने रास आऊँ या यूँ ही-सी लगूँ
और तब मेरे लिए चुकाए दाम
तुम्हें चुभने लगे।
मगर तुम पर था फ़ितूर सवार
मुझे कुछ यूँ सजाया, दर्शाया,
मानो मेरा तुम्हारे पास होना
गर्व की बात हो
जैसे रवि वर्मा का कोई प्रिन्ट,
सुच्चे बसरा मोतियों की लड़ी,
सत्यजित रे का ऑटोग्राफ,
या दादी के कंगनों की जोड़ी।
कितना अरसा बीत गया,
कि कहो एक युग रीत गया
शेल्फ़ पर टिके तुम्हें तकती रहती हूँ,
'गर सुन सको तो कहती रहती हूँ
तुम्हें पढ़ना आता कहाँ है?
सफ़े पलटना जानते हो बस
किताबें खरीदना, उनकी चर्चा करना
एक-आध लाइन याद कर लेना,
कि बहस होने पर रौब पड़ जाये
पढ़ना तुम्हारे लिए है सिर्फ एक शगल;
तभी तो मेरे दो-चार सफे पलट चुकने के बाद
मेरे हिस्से आई, सिर्फ तुम्हारी बेरुखी
बहुत संभाल लिया मुझे
अब ज़रा सहलाओ भी
हक़ से मोड़ दो मेरे पन्नों के सिर
रेखांकित कर दो न अपने पसंदीदा हिस्से
सहेज रखो कोई फूल
मेरे अंतर की परतों में
अक्षर-अक्षर लटें खोल दो;
पन्ना-पन्ना गिरह खोल दो।
औंधे लेटकर, घुटने टेककर,
या सिरहाना बनाकर
मन कहे सो करो,
पर, मुझे पढ़ो।

विश्व-सभ्यता और स्वामीजी

-स्वामी लोकेश्वरानन्द

(यह लेख डॉ॰ केदारनाथ लाभ द्वारा अनूदित होकर 'विवेक-शिखा' मासिक के जुलाई 1993 अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से यह साभार संकलित हुआ है।)

स्वामी विवेकानन्द का विश्व सभ्यता पर प्रभाव–हमारे सामने जो विषय है वह थोड़ा कठिन है। सबसे पहले हमें समझना होगा कि विश्व-सभ्यता का अर्थ क्या है? विश्व में अनेक सभ्यताएँ हैं। भारत में एक तरह की सभ्यता है और आप चीन जाएँ तो वहाँ एक अन्य प्रकार की सभ्यता पाएँगे। ये विभिन्न सभ्यताएँ ऊपरी तौर से तो भिन्न हैं, पर उनमें कई बातों की समानता है। सभी सभ्यताओं का एक ही लक्ष्य है–आनन्द, सभी व्यक्तियों की सुख-शान्ति। प्रत्येक सभ्यता हर व्यक्ति को सुख-शान्ति देने के लक्ष्य की ओर अग्रसर है।

अब हम 'सुख' को कैसे परिभाषित करें? क्या इसका तात्पर्य भौतिक सुख-सुविधाओं से है कि खाने के लिए अच्छा भोजन मिल जाय, पहनने को अच्छे वस्त्र मिल जाएँ, रहने को अच्छा घर मिल जाय? हाँ, यह भी एक प्रकार का सुख है। जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, हमें इन चीजों की जरूरत है, ये हमारे लिए अनिवार्य हैं। हमें निश्चित रूप से धन चाहिए, भौतिक सुख-सुविधाएँ चाहिए। पर यही सब कुछ नहीं हैं। मनुष्य को जीवित रहने के लिए केवल रोटी नहीं, मानसिक सुख-शान्ति भी चाहिए। भौतिक सुख-सुविधा तो जरूरी है, पर मन की सुख-शान्ति उससे भी ज्यादा जरूरी है। सच्चा सुख शरीर में नहीं बल्कि मन में है। भारत की दौड़ इसी मानसिक सुख-शान्ति की ओर रही है। ऐसा नहीं कि यहाँ भौतिक सुख निन्दनीय और उपेक्षित रहा है, परन्तु लक्ष्य हमेशा मन का सुख, हृदय की शान्ति रहा है।

जब हम पीछे मुड़कर हजारों साल पहले मोहनजोदारो के समय तक पहुँचते हैं, तो पाते हैं कि उस समय देश उन सभी सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण था, जो आज 'आधुनिक' कहलाने के लिए अनिवार्य मानी जाती है। नगर के मध्य सामान्य उपयोग के लिए अद्‌भुत अत्याधुनिक विशाल स्नानागार, चौड़ी सड़कें, भव्य भवन, बेहतरीन मल तथा जल की निकास-व्यवस्था और कुछ अन्य नागरिक सुविधाएँ थीं, जो आज भी अप्राप्त हैं।

लिहाजा भारत बुनियादी भौतिक सुख-सुविधा की आवश्यकता से विमुख नहीं रहा है। लेकिन यहाँ मन की शान्ति को इससे भी ज्यादा जरूरी माना गया है। क्योंकि सच्चा सुख इन्द्रिय-भोग में नहीं, मन की शुद्धि में है। इसी कारण भारत में मानसिक स्तर हमेशा उच्च और श्रेयस्कर रहा है। मैं किसी को प्यार करता हूँ यदि वह बुद्धिमान है, शिक्षित है, मुझे नयी रोशनी दे सकता है। मैं अँधेरे में भटक रहा हूँ, कुछ पाने के लिए टटोल रहा हूँ। आप मुझे रोशनी दिखा सकते हैं, आपसे मुझे रोशनी मिलती है और मैं आपको परम आदरणीय मानकर शिक्षक के रूप में स्वीकार कर लेता हूँ। मुझे ज्ञान का प्रकाश देनेवाले गुरु भले ही बड़ी मामूली-सी झोपड़ी में निवास करते हों; उनके पास मोटर, बँगला, ऐशो-आराम के सामान भले ही न हों, तथापि वे मेरे लिए ईश्वरतुल्य हैं। जो हमें ज्ञान की रोशनी देता है, वह हमारे लिए परम आदरणीय है। सचमुच मन:शक्ति, ज्ञानशक्ति, विचारशक्ति ही सच्ची शक्ति है। ब्रिटिश दार्शनिक जॉन रस्किन ने कहा है, "एक विचार में सम्पूर्ण सेना से कहीं अधिक शक्ति होती है।" भारत ने सर्वदा इसी मन की शक्ति में विश्वास किया और तदनुकूल यहाँ जो सभ्यता विकसित हुई, वह शताब्दियों ने भारत को कंगाल बना डाला, लेकिन भारत फिर से जिन्दा है। वह कौन-सी चीज है, जिसने इसे सजीव बनाए रखा है, जबकि अति-प्राचीन तथा सशक्त मानी जानेवाली यूनानी, रोमन तथा अन्य सभ्यताएँ धराशायी हो गयीं, काल के गाल में समा गयीं? इसका क्या कारण है? वह कारण हमें ढूँढना होगा। आधुनिक इतिहासकार इसका कारण बताते हैं कि भारत ने भौतिक समृद्धि को जितना महत्त्व दिया जाना चाहिए

था, उतना ही दिया; उसके पीछे पागल नहीं हुआ। परन्तु विचार की उदात्तता यहाँ सर्वोपरि मानी गयी। यहाँ कोई व्यक्ति भव्य भवन की जगह एक दीन-हीन कुटिया में ही क्यों न रहता हो, तथापि वह सुखी है। मेरे पास कुछ पुस्तकें हैं, मैं उन्हें पढ़कर आनन्दित होता हूँ। आपके पास कुछ अच्छे गीतों की रेकार्डिंग हैं, उन्हें बजाकर सुनने में ही आपको सुख मिलता है। बिल्कुल सादा भोजन पाकर ही हम मस्त हैं। बड़े साधारण घर में रहकर भी हम सुखी हैं, मामूली वस्त्र धारण कर भी हमारे मन में सुख-शान्ति विराजमान है, क्योंकि हमारा आदर्श रहा है—सादा जीवन उच्च विचार। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि आप किस तरह का भोजन ग्रहण कर रहे हैं, कैसे वस्त्र पहनते हैं; बस, हमारे विचार परिष्कृत होने चाहिए। क्या आपने नहीं देखा कि हमारे देवी-देवता भी अल्प-वस्त्रधारी हैं। उनके शरीर कोट से ढँके नहीं हैं और न ही वे कमीज पहने हुए दीखते—वे बिल्कुल ही सादे वस्त्र धारण किए हुए हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि यहाँ की जलवायु गर्म है। रूस में वर्ष भर काफी ठण्ड पड़ती है, इसलिए ओवरकोट की भी जरूरत होती है। पर हमें तो कोट की भी शायद ही जरूरती पड़ती है। कोई कह सकता है कि आप बहुत पिछड़े हैं, क्योंकि आपके पास कोट नहीं है, परन्तु जब भारत में उतने कपड़े की जरूरत ही नहीं, तो फिर हम फिजूल के कपड़े क्यों धारण करें? स्वयं जब जरूरत महसूस नहीं हुई, तो हमारे मूर्तिकारों को देवी-देवताओं की मूर्तियाँ से उनकी सौम्यता, उनका आन्तरिक तेज और ऐश्वर्य अवश्य प्रकट हो।

हमारे ऋषि कन्दराओं-गुफाओं में रहते थे, लेकिन वे थे प्रकाण्ड विद्वान, अत्यन्त प्रगतिशील; उनके मौलिक प्रबुद्ध विचार अक्षुण्ण हैं, शाश्वत हैं और हमारी अक्षय सम्पत्ति हैं। एक बार डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा था, "भारत एक विचार है, चिन्तन की एक दृष्टि है, एक जीवन-दर्शन है।" आधुनिक समय में इस विचार को, इस जीवन-दर्शन को स्वामी विवेकानन्द विदेशों में ले गए। स्वामीजी ने कहा था, "मैं घनीभूत भारत हूँ।" सचमुच आज से सौ वर्ष पूर्व जब वे अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित विश्वधर्म-महासभा में सारी दुनिया के कोने-कोने से आए प्रकाण्ड विद्वानों तथा धर्माचार्यों के बीच सनातन धर्म का सन्देश सुनाने खड़े हुए, तो वह कोई व्यक्ति नहीं, बल्कि भारत बोल रहा था। वे स्वामी विवेकानन्द नहीं थे, अपितु उनके माध्यम से सारी भौतिकवादी दुनिया को फिर एक बार आध्यात्मिक सन्देश सुनाने प्राचीन गौरवशाली भारत सिमट आया था। उन युवा संन्यासी के होठों से भारतमाता की वाणी मुखरित हुई थी, जिन्होंने कहा था, "भगवान बुद्ध ने प्राची को सन्देश दिया था और मैं पाश्चात्य देशों के लिए सन्देश लेकर आया हूँ।" उन्होंने कहा—"मैं तुम्हारे विज्ञान और टेकनोलॉजी का स्वागत करता हूँ मुझे खुशी है कि तुम्हारे देशों में भौतिक सुख-समृद्धि है; लेकिन यह मत सोचो कि मानव-जीवन के लिए इतना ही काफी है। खाओ, पीओ और मौज करो— क्या मानव जीवन का यही लक्ष्य है? कदापि नहीं। मनुष्य ने इन्द्रिय सुखों के लिए, सांसारिक वासनाओं के भोग हेतु जन्म नहीं लिया है, अपितु उसका जन्म तो ज्ञान-प्राप्ति के लिए, सत्य की खोज के लिए और सर्वोच्च सत्य प्राप्त होने तक निरन्तर सत्य से उच्चतर सत्य तक पहुँचने के लिए हुआ है।" सौ वर्ष पूर्व स्वामीजी ने पाश्चात्य देशों को आगाह किया था—मैं देख रहा हूँ कि तुम युद्ध की ज्वालामुखी के कगार पर खड़े हो। वह ज्वालामुखी अगले बीस वर्षों में फूट पड़ेगी। सम्भवत: उन्होंने यह बात 1894-95 में कही थी। बीस वर्ष होते-न-होते मानवता ने 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका देखी, फिर द्वितीय विश्वयुद्ध भी छिड़ा—जो पहले से भी ज्यादा विनाशकारी, अत्यन्त प्रलयकारी था।

लड़ाइयाँ क्यों होती हैं? इसलिए कि हम केवल सांसारिक सुख-सुविधा को ही मानव-जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं। अगर आप कहें कि मैं सांसारिक विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए जीना चाहता हूँ, तो स्वाभाविक रूप से ही मेरे और आपके बीच होड़ लगेगी, विभिन्न राष्ट्रों के बीच जंग छिड़ेगी। तब आपके पास घातक हथियार होंगे और हम उससे भी ज्यादा विनाशकारी हथियार हासिल करने की कोशिश में लगे रहेंगे। राष्ट्रसंघ का घोषणा-पत्र इन शब्दों के साथ शुरू होता है, "युद्ध का प्रारम्भ मनुष्य के हृदय में होता है।" युद्ध, मार-काट, खून-खराबा होता ही क्यों है? इसलिए कि युद्ध का बीज—ईर्ष्या, लोभ, घृणा, क्रोध, सन्देह, अविश्वास के रूप में हृदय में अंकुरित करता हूँ। पहले आपके मन में मुझे बर्बाद देखने की इच्छा पैदा होती है और फिर आप मेरा सर्वनाश करने पर तुल जाते हैं। पहले बक-झक और फिर हाथा-पाई होती है। मैं आपको मार देना चाहता हूँ, आप मुझे मिटा देना चाहते हैं। यह बड़ा सामान्य किस्सा है। सदियों से ऐसा ही होता आया है।

परन्तु भारत एक ऐसा देश है, जिसने युद्ध की समस्या का हल ढूँढ़ा है और सारी मानवता को 'जीओ और जीने दो' का पाठ पढ़ाया है। सामरिक दृष्टि से शक्तिशाली होने के बावजूद इसने कभी भी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया, क्योंकि इसकी दृष्टि समग्र रही है और इसने मानवता को एकत्व का बोध कराया है—आप और हम एक हैं, सारा विश्व एक ही मानव-परिवार है—**वसुधैव कुटुम्बकम्**। फिर किसकी जीत और किसकी हार? किससे द्वेष और किससे घृणा? भारत का सन्देश है—सुख-शान्ति चाहते हो, तो स्वयं पर विजय प्राप्त करो। भगवान बुद्ध ने कहा— "असली विजेता कौन है? —जिसने स्वयं को जीत लिया।" यही भारत है।

कितना सुन्दर विचार है! दूसरों को काबू में करने की चाहत क्यों हो? बस स्वयं को अपने अधीन कर लो। महिमा-मण्डित प्राचीन भारत का यह अमर सन्देश स्वामी विवेकानन्द ने सम्पूर्ण विश्व को सुनाया। स्वदेश वापस आने पर उन्होंने आह्वान किया, "हे भारत! तुम्हें जीवित रहना ही होगा, अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए, सारी मानवता, समस्त मानव-समाज और सभ्यता की रक्षा के लिए, मानवीय मूल्यों के संरक्षण के लिए।" स्वामीजी मात्र हिन्दू नहीं थे, मात्र भारतीय नहीं थे, समस्त मानव-समाज के मित्र थे, जो कोई भी सत्य की खोज कर रहा है, स्वामीजी उनके साथ हैं।

□□□

पुस्तक-मित्र पंचायत अभियान के लिए
ओमा-दि-अक् द्वारा रचित अभियान गीत

पुस्तक-मित्र बनेंगे हम-तुम
पुस्तक-मित्र बनाना है,
पुस्तक-मित्रों की पंचायत
हर चौपाल बिठाना है...

पुस्तक ऐसी मित्र
कि सुख के वृक्ष लगाना सिखलाती,
दु:ख का ताप बढ़े तो
हौले-हौले माथा सहलाती;
कभी सिरहाने,
कभी गोद में
कभी लगे जो सीने से;
ऐसी जीवन-साथी पुस्तक
का सम्मान बढ़ाना है।
पुस्तक-मित्रों की पंचायत
हर चौपाल बिठाना है....

पुस्तक ऐसी मित्र
कि जिसमें इतिहासों की थाती है,
संस्कृतियों के दीपक रखे
साहित्यों की बाती है;

कहीं भौतिकी, गणित, रसायन
कहीं नाचना-गाना है,
पुस्तक-मित्रों की पंचायत
हर चौपाल बिठाना है....

पुस्तक ऐसी मित्र
जो गीत भविष्यत् के गाती है,
वर्तमान की रचना करती
स्मृतियाँ दोहराती है;
ऐसी शक्ति, ऐसी ऊर्जा
जो नव-युग का सृजन करे,
उज्ज्वल-जग की रचना हित
हम सबको हाथ मिलाना है।
पुस्तक-मित्रों की पंचायत
हर चौपाल बिठाना है...!!

स्वामी विवेकानन्द : दलितोत्थान के प्रथम मसीहा

-कमल किशोर गोयनका

स्वामी विवेकानन्द जाति-भेद को तोड़ने एवं मनुष्य मात्र की समानता का संस्कार लेकर ही पैदा हुए थे। बालक नरेन्द्र (बाद में स्वामी विवेकानन्द) छह-सात वर्ष का ही था कि एक दिन पिता की अनुपस्थिति में उनके बैठकखाने में जाकर वह भिन्न-भिन्न जाति के मुवक्किलों के हुक्कों में मुँह लगाकर कश खींच रहा था कि पिता आ पहुँचे और पूछा कि यह क्या कर रहे हो तो बालक नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "देख रहा हूँ कि जाति नहीं मानने पर क्या होता है?" पुत्र की अद्‌भुत खोजपरकता तथा विकट समस्या का आश्चर्यजनक समाधान-कौशल देखकर पिता जोरों से हँसे और बोले, "बड़े दुष्ट हो रे।"

इसके उपरांत स्वामी विवेकानन्द के जीवन में जाति और धर्म के भेदभाव के विरुद्ध अनेक घटनाएँ घटित होती हैं, जिनसे उनका धार्मिक भेदभाव और अस्पृश्यता के विरुद्ध व्यक्तित्व पूर्णत: स्पष्ट दिखाई देता है। वे खान-पान में अस्पृश्यता के भी विरुद्ध थे। वे स्वयं मांसाहारी थे और तंबाकू पीते थे। उनके गुरु स्वामी परमहंस ने एक बार नरेन्द्र के जूठे तंबाकू को पीकर अस्पृश्यता के पाखंड का पर्दाफाश किया था और अभेद की शिक्षा दी थी। स्वामी विवेकानन्द के हिमालय-भ्रमण पर एक मुसलमान ने खीरा खिलाकर उनकी प्राण-रक्षा की थी और आबू में एक मुसलमान के यहाँ जब वे रहे तो उन्होंने खेतड़ी नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी मुंशी जगमोहन लाल से कहा था, "मैं संन्यासी हूँ। मैं आप लोगों के सारे सामाजिक विधि-निषेधों से परे हूँ। मैं भंगी (मेहतर) के साथ भी भोजन कर सकता हूँ। इससे भगवान् के अप्रसन्न होने का भय मुझे नहीं है, क्योंकि यह भगवान् द्वारा अनुमोदित है। शास्त्रों से भी मुझे भय नहीं है; क्योंकि यह शास्त्र द्वारा भी अनुमोदित है। फिर भी आप लोगों और आप लोगों के समाज का भय मुझे अवश्य है। आप लोग तो भगवान् और शास्त्र की भी परवाह नहीं करते। मैं तो देखता हूँ कि विश्व-प्रपंच में सर्वत्र ब्रह्म प्रकाशित है। मेरी दृष्टि में ऊँच-नीच नहीं है। शिव-शिव!" और उन्होंने खेतड़ी राज्य के किसी रेलवे स्टेशन पर एक दीन-हीन चमार के हाथ का बना भोजन ग्रहण किया। वे वहाँ तीन दिन तक धर्म-चर्चा करते रहे और किसी ने उनसे भोजन के लिए नहीं पूछा। इस पर इस दीन-हीन चमार ने डरते-डरते उन्हें भोजन कराया। विवेकानन्द ने उस भोजन से देवराज इंद्र द्वारा स्वर्ण पात्र में अमृत देने की तृप्ति से भी अधिक तृप्ति का अनुभव किया। उनकी आँखों में आँसू आ गए और सोचने लगे कि ऐसे हजारों उच्च चेतना संपन्न व्यक्ति पर्णकुटियों में निवास करते हैं, किन्तु हमारी नजरों में वे बराबर घृणा और हीन रहे हैं। कुछ उच्च जाति के लोगों के आपत्ति करने पर विवेकानन्द ने उस चमार की मनुष्यता की प्रशंसा और आपत्ति करनेवालों की नीचता की निंदा की। स्वामी विवेकानन्द इसके बाद भी खंडवा की यात्रा के बाद एक मेहतर के परिवार में कई दिन तक रहे और इस उपेक्षित नीच जाति के लोगों के हृदय की श्रेष्ठता देखकर वे आश्चर्यचकित रह गए। इस प्रकार ऐसी अनेक घटनाओं ने स्वामी विवेकानन्द के मन और विचारों ने देश की उपेक्षित, दलित एवं निर्धन जातियों का पक्षधर बना दिया, क्योंकि उन्होंने देखा और पाया कि नीची जातियों के व्यक्तियों में भी ऊँची मनुष्यता विद्यमान है।

स्वामी विवेकानन्द एक संन्यासी थे और उन्होंने विश्व के धर्मों का गंभीर अध्ययन किया था। वे हिंदू धर्म को संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते थे और आध्यात्मिकता को उसका केंद्रीय तत्त्व। देश की वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के दोषों के लिए उन्होंने धर्म और जाति को सर्वथा निर्दोष पाया। उनका कथन था कि धर्म का संबंध केवल आत्मा से है और सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करना उनका प्रयोजन नहीं है। इस पर भी इसका दोष हिंदू धर्म के मत्थे मढ़ते हैं और आलोचकों को सुधार का यही एक उपाय दिखाई देता है कि संसार के इस महत्तम हिन्दू धर्म को कुचल

दिया जाए, परन्तु दोष धर्म का नहीं है, क्योंकि हिन्दू धर्म तो तुम्हें सिखाता है कि प्रत्येक प्राणी स्वयं तुम्हारी आत्मा का ही नाना रूपों में विकास है। दोष यह है कि हमने इस ज्ञान को व्यावहारिक रूप नहीं दिया तथा सहानुभूति एवं हृदय का उपयोग नहीं किया। इस स्थिति को हम धर्म का नाश करके नहीं वरन् हिन्दू धर्म के महान् उपदेशों के अनुसार आचरण करके तथा उसके साथ बौद्ध-धर्म की 'अद्‌भुत सहानुभूति' को संयुक्त करके ही दूर कर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म की निर्दोषिता एवं सर्वश्रेष्ठता के प्रतिपादन के साथ, इसी कारण उसके क्रूर आघातों की भर्त्सना करते हुए कहते हैं, "पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान इतने ऊँचे स्वर में मानवात्मा की महिमा की घोषणा करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिंदू धर्म के समान गरीबों और नीची जाति वालों का गला नहीं क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का दोष नहीं, वरन् दोष उनका है, जो हिंदू धर्म के अंतर्भुक्त होते हुए भी ढोंगी और दंभी हैं, जो 'पारमार्थिक' और 'व्यावाहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते रहे हैं।"

स्वामी विवेकानन्द का वर्ण एवं जाति व्यवस्था के संबंध में भी यही विचार है कि 'वर्ण-व्यवस्था ने हमें हिंदू राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है' 'धर्म में जाति-भेद नहीं है' तथा 'जाति एक सामाजिक संस्था मात्र है'; 'भारतीय समाज का आधार जाति नियम है', 'आर्य-सभ्यता का साधन है—विभिन्न वर्ण-विभाग। भिन्न-भिन्न वर्णों में विभाजित करने का यह तरीका सभ्यता की सीढ़ी है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी-अपनी विद्वत्ता और संस्कृति के अनुसार उच्च से उच्चतर बन सकता है' तथा 'जाति एक सामाजिक नियम, एक सामाजिक रूढ़ि है और गुण-कर्म-भेद ही इसका आधार है।' इस प्रशंसा के बावजूद स्वामी विवेकानन्द जाति-व्यवस्था से समाज वर्गों में बँटकर भी एक जाति के सभी सदस्य एकता के सूत्र में बँधते हैं, व्यक्तिगत या सामाजिक प्रधानता के लिए संघर्ष नहीं होता और व्यवसाय वंशानुगत हो जाता है, परंतु इसकी बड़ी हानि यह है कि प्रतियोगिता नष्ट हो जाती है, जिसके कारण देश की राजनीतिक अवनति हुई और विदेशी जातियों से पराभूत होना पड़ा। वे मानते हैं कि यह 'ईश्वर प्रदत्त एक सबसे महान् सामाजिक संस्था' है, किन्तु विदेशियों के अत्याचार तथा घोर अज्ञानी एवं अभिमानी ब्राह्मणों के कारण इसमें अनेक दोष-बाधाएँ आईं, परंतु यह संस्था अतीत के साथ भविष्य में भी अपने उद्देश्य में सफल होगी।

स्वामी विवेकानन्द ने ब्राह्मण, ब्राह्मणत्व, पुरोहित तथा पुरोहिती पर नवीन दृष्टि से विचार किया और इनके गुणावगुणों एवं उपयुक्त-अनुपयुक्तता पर गंभीर आलोचनात्मक टिप्पणी करके नए युग के चिंतन को उद्‌घाटित किया। स्वामी विवेकानन्द का मत है कि आरंभ से सब ब्राह्मण थे तथा आर्यों में सर्वोच्च जाति ब्राह्मण थी। ये ब्राह्मण धार्मिक, नीतिवान, सदाचारी, सज्जन, उदार, नि:स्वार्थी, ज्ञान एवं प्रेम-प्रसूत शक्ति के संपादक-प्रचारक तथा भगवान् के भक्त होते थे तथा ऐसे 'आध्यात्मिक साधना-संपन्न महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं, क्योंकि वे 'ईश्वर के अंतरंग' 'मनुष्यता के चरम आदर्श' हैं। विवेकानन्द इसी 'ब्रह्मज्ञ पुरुष' तथा इसी 'आदर्श और सिद्ध पुरुष' की रक्षा करना चाहते हैं और कहते हैं कि इसका लोप कदापि नहीं होना चाहिए। विवेकानन्द कहते हैं कि सच्चा ब्राह्मणत्व सद्‌गुणों का खजाना है और ब्राह्मण को इन सद्‌गुणों को संसार को बाँटना चाहिए। ब्राह्मणों के जीवन के उच्चतर उद्देश्यों तथा संस्कृति के महत् तत्त्वों का खजाना जब से जनसाधारण के लिए बंद कर दिया, तभी भारत गुलाम हुआ और अवनति हुई। विवेकानन्द सबसे पहले ब्राह्मणों के धर्म पर एकाधिकार तथा उनके विशेषाधिकारों पर गहरी चोट करते हैं। वे यद्यपि यह मानते हैं कि ब्राह्मणों ने ही पहले भारत की सब जातियों में धर्म का प्रचार किया और सबसे पहले त्याग के भाव का उन्मेष किया तथा जीवन के सर्वोच्च सत्य के लिए सब कुछ छोड़ा। यह ब्राह्मणों का दोष नहीं था कि वे उन्नति के मार्ग पर अन्य जातियों से आगे बढ़े, परन्तु उनका दोष यह है कि उन्होंने संचित ज्ञान और संस्कार पर एकाधिकार करके अन्य जातियों को उससे वंचित कर दिया। यह अवसर, अग्रसरता एवं सुविधाओं का आसुरी दृष्टि से किया गया दुरुपयोग था।

विवेकानन्द कहते हैं कि ब्राह्मणों ने धर्म-शास्त्रों पर एकाधिकार जमाकर विधि-निषेधों को अपने ही हाथ में रखा था और भारत की दूसरी जातियों को नीच कहकर उनके मन में विश्वास जमा दिया था कि वे वास्तव में नीच हैं। यदि किसी व्यक्ति को खाते, सोते, उठते, बैठते हर समय कोई कहता रहे कि 'तू नीच है', 'तू नीच है' तो कुछ समय के पश्चात् उसकी यही धारणा हो जाती है कि मैं वास्तव में ही नीच हूँ। विवेकानन्द इस एकाधिकार को समूल नष्ट करने के लिए ब्राह्मणों का ही आह्वान करते हैं और उनका उद्‌बोधन करने के साथ उन्हें चेतावनी भी देते हैं। वे कहते हैं कि ब्राह्मणों ने धर्म पर एकाधिकार कर रखा है, पर वे अब काल-प्रवाह के विरुद्ध अपना एकाधिपत्य नहीं रख सकते। अत: प्रयत्न करो, सबको वह धर्म प्राप्त हो जाए और अब्राह्मणों के मन में यह बैठा दो कि ब्राह्मणों के समान उनका भी धर्म पर वही अधिकार है। सभी को, चांडाल तक को भी इन्हीं जाज्वल्यमान मंत्रों का उपदेश करो और अग्निमंत्र में दीक्षित करो। यदि तुम (ब्राह्मण)

ऐसा नहीं कर सकते तो धिक्कार है तुम्हारी शिक्षा और संस्कृति को, धिक्कार है तुम्हारे वेदों और वेदांत के अध्ययन को।

स्वामी विवेकानन्द मानते हैं कि ब्राह्मण की प्रभुता की शक्ति उनके महान् बौद्धिक एवं मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति पर आधारित है, लेकिन इन प्रवृत्तियों के नष्ट होने से वे अपने लिए प्रभुता और अधिकार बटोरने में लग गए। ब्राह्मण इतने शक्तिशाली हो गए कि किसी का वध करने पर भी उन्हें दंडित नहीं किया जा सकता था। ब्राह्मण जन्म से ही विश्व का स्वामी है तथा दुष्ट-से-दुष्ट ब्राह्मण की भी पूजा होनी चाहिए। ब्राह्मण ने 'महान् त्याग रूपी महँगा मूल्य' देकर जिस प्रभुत्व-शक्ति को प्राप्त किया, उसे वह दूसरों को देने के लिए तैयार नहीं। ब्राह्मण ने अपने मानसिक ज्ञान को गुप्त रखा और उससे अन्यों को वंचित किया तथा अपने पूर्वजों के गौरव, अधिकार, सम्मान, सत्ता एवं एकाधिकार को बचाए रखा, जिससे अन्य जातियों के साथ उसका घोर संघर्ष हुआ। ब्राह्मण का यह एकाधिक आनुवंशिक परंपरागत शक्ति-केन्द्र बन गया और ब्राह्मण 'अधिकार लिप्सा' एवं 'व्याघ्रवत् तृष्णा' के केन्द्र बन गए। विवेकानन्द इसी प्रकार ब्राह्मण के विशेषाधिकार का भजन करते हैं, क्योंकि वे इसे वेदांत, समानता एवं स्वतंत्रता के सिद्धांत के विपरीत पाते हैं। वे लिखते हैं कि वेदांती होना और साथ ही किसी के लिए किसी प्रकार का भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक विशेषाधिकार स्वीकार करना असंभव है। वेदांत में किसी के लिए किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार का स्थान नहीं है। प्रत्येक मुनष्य में एक ही शक्ति है–किसी में अधिक प्रकट हुई है, किसी में कम; वही सामर्थ्य सब में है। अत: वेदांत के अनुसार जन्मगत उच्च-नीच भेद का कोई अर्थ नहीं। वे अन्यत्र लिखते हैं कि मेरा अनुभव यही रहा है कि सभी दोषों की उत्पत्ति, जैसा कि हमारे शास्त्र कहते हैं, भेदभाव में विश्वास रखने के अंत: स्थित एकत्व में विश्वास करने से सर्वहितों की प्राप्ति होती है। यही वरन् वैदांतिक आदर्श है।

स्वामी विवेकानंद विभिन्नता के प्राकृतिक सत्य को स्वीकार करते हैं, लेकिन वे कहते हैं कि सारा विश्व विभिन्नता में एकता का खेल है। यह सत्य है कि विभिन्नता या भेद विद्यमान है और जब तक जीवन है विभिन्नता रहेगी, किन्तु इन भेदों में ही और उनके भीतर से ही एकता का अनुभव करना होगा। वे मानते हैं कि जीवन में कभी पूर्ण समानता नहीं आ सकती, किन्तु किसी विशेष जाति के विशेषाधिकारों को दूर किया जा सकता है। सारे संसार में इसी का संघर्ष चल रहा है। मनुष्य का एक दल यदि अधिक बुद्धिमान है तो क्या इसके कारण दूसरे कम बुद्धिवालों से उनके भौतिक सुखोपभोग को दूर किया जा सकता है। सारे संसार में इसी का संघर्ष चल रहा है। मनुष्य का एक दल यदि अधिक बुद्धिमान है तो क्या इसके कारण दूसरे कम बुद्धिमान से उनके भौतिक सुखोपभोग का भी अपहरण कर लिया जाए? इसी प्रकार कुछ मनुष्य अपनी विशिष्ट योग्यता द्वारा दूसरों की अपेक्षा अधिक धन एकत्र कर लें तो क्या यह उचित है कि वे इस शक्ति से अत्याचार करें तथा कम धन अर्जित करनेवालों को बेतरह रौंद दें? विवेकानंद इस पर निष्कर्ष में कहते हैं कि दूसरों को दबाकर लाभ उठाना ही विशेषाधिकार कहलाता है और इसी विशेषाधिकार को नष्ट करना सदा नैतिकता का उद्देश्य रहा है। यही एक कार्य है, जो विभिन्नता का नाश किए बिना हमें समानता और एकता की ओर ले जाएगा। वे चाहते हैं कि इन विशेषाधिकारों की कब्र स्वयं ब्राह्मण ही खोदें और यह जितनी जल्दी होगा, उतना ही बेहतर होगा, क्योंकि जितनी देर होगी, उतना ही वह सड़ेगा और उतनी ही बुरी मौत वह मरेगा।

ब्राह्मण के विशेषाधिकार एवं प्रभुता तथा श्रेष्ठता के अहंकार के कारण ही हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता एवं छुआछूत का भंयकर रोग उत्पन्न हुआ। विवेकानन्द का मत था कि अस्पृश्यता सनातनी हिन्दू समाज का एक 'अंधविश्वास' तथा 'कुसंस्कार' है और हम अपने आपको 'मत छुओवाद' में सम्मिलित नहीं करना चाहते। यह हिन्दू धर्म नहीं है तथा वह हमारे किसी ग्रंथ में नहीं है और इससे हमारी राष्ट्रीय क्षमता एवं योग्यता को बड़ी हानि पहुँची है। वे इसके लिए ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहते हैं, "ये हजारों ब्राह्मण भारतवर्ष के नीच, पददलित जनसाधारण के लिए क्या कर रहे हैं? उनके ओठों पर केवल 'छुओ मत' वाक्य खेल रहा है। हमारा सनातन धर्म उनके हाथों कितना नीच और पतित बन गया है। हमारा धर्म अब कहाँ है? केवल 'मत छुओवाद' में, अन्यत्र कहीं नहीं।"

हिन्दुओं का वर्तमान धर्म वेद, पुराण, भक्ति और मुक्ति में न होकर केवल रसोई के बरतनों में घुसा हुआ है और ज्ञान-मार्ग एवं बुद्धि-मार्ग सब 'मत छुओवाद' में बदल गया है। जो धर्म दूसरों के केवल श्वास तथा स्पर्श से ही अपवित्र हो जाए, वह दूसरों को पवित्र कैसे बनाएगा? अत: विवेकानन्द ऐसे छुआछूत पंथियों के मुँह पर झाड़ू मारने का आह्वान करते हुए कहते हैं, "देश में केवल छुआछूत पंथियों का दल रह गया है। ऐसे आचार के मुँह पर मार झाड़ू, मार लात। इच्छा होती है–तेरे छुआछूत के पंथ की सीमा तोड़कर अभी चला जाऊँ–जहाँ कहीं भी पतित, गरीब, हीन, दरिद्र हों, 'आ जाओ, यह कह-कहकर उन सभी को श्रीरामकृष्ण के नाम पर बुला लाऊँ, इन लोगों के बिना उठे माँ नहीं जागेगी। मैं दिव्य-दृष्टि से देख रहा हूँ, उनके और मेरे भीतर एक ही ब्रह्म एक ही शक्ति विद्यमान है, केवल विकास की न्यूनाधिकता है।" विवेकानंद कहते हैं कि प्रत्येक हिंदू दूसरे हिन्दू

का भाई है, वह चाहे मोची, मेहतर, मूर्ख, निर्धन, अपढ़ या निम्न जाति का कोई भी भारतवासी हो, वे सब तुम्हारे भाई हैं, लेकिन 'छुओ मत' की पुकार ने इन सबको नीचे गिरा दिया है और इस प्रकार सारा देश ही नीचता, कायरता तथा अज्ञान के गहरे गर्त में डूब गया है।

विवेकानंद ने 'पुरोहित' और 'पुरोहिती' की तीव्र भर्त्सना की है। वे पुरोहित को 'पाखंडी', 'बदमाश', 'कलियुगी राक्षस', 'निर्दय और हृदयहीन', 'छली', 'अधिकार लिप्सू' आदि शब्दों से पारिभाषित करते हैं। उन्होंने 'मानवता के आदर्श के रूप में ब्राह्मणत्व को स्वीकार किया है, परंतु वे ब्राह्मणों की पुरोहिती को 'आनुवांशिक परंपरागत व्यवसाय', 'भेदभाव पूर्ण असमानता' के जनक तथा 'भयानक अधिकार लिप्सा एवं व्याघ्रवत् तृष्णा' के केन्द्र मानते हैं। पुरोहित का आदर्श रूप वह था, जब वह देवताओं से संबंध स्थापित करता था और देवताओं के समान उसकी पूजा होती थी। वह अपने आध्यात्मिक शक्ति, ज्ञान, विद्या, प्रेम और त्याग-वैराग्य से सार्वजनिक हित एवं कल्याण की अपनी प्रवृत्ति को बढ़ाता था और उसे अपने जीवन-शोषित से उसके अंकुर को सींचता था, लेकिन अपनी प्रभुत्व शक्ति, विशेषाधिकार, अज्ञान, अकर्मण्यता, छल और पाखंड के कारण पुरोहित मकड़ी के समान अपने ही फैलाए हुए जाल में फँस गए हैं। उन्होंने जिस शृंखला से दूसरों के पैरों को बाँधा था, वह अब उन्हीं के पैरों को सहस्र गुना जकड़ रही है और उनकी गति का सैकड़ों प्रकार से अवरोध कर रही है। उस जाल को, शृंखला को तोड़-फोड़ दो तब तो पुरोहित की पुरोहिती जड़ तक हिल जाएगी। विवेकानन्द ने स्पष्ट कहा कि पुरोहिती छल भारतवर्ष के लिए अभिशापस्वरूप है। इस पुरोहिती छल को पुराने धर्म से उखाड़ फेंको तो तुम्हें इससे संसार का सर्वोत्तम धर्म प्राप्त हो जाएगा। अत: विवेकानन्द पुरोहित एंव पुरोहिती को जड़ से उखाड़ फेंकने का आह्वान करते हुए कहते हैं, "उन्नति के सदा विरोधी पुरोहितों को धक्का देकर दूर हटा दो, क्योंकि वे कभी सुधरेंगे नहीं। उनके हृदय कभी उदार नहीं होंगे। वे तो शताब्दियों के कुसंस्कार और अत्याचार से उत्पन्न हुए हैं। पहले पुरोहिती छल को जड़ से उखाड़ फेंको। आओ मनुष्य बनो।"

स्वामी विवेकानंद ने उच्च वर्ग अथवा अभिजात वर्ग एवं कुलीन वर्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य जाति को सम्मिलित किया है और निम्न वर्ग में सभी शूद्र जातियों, निर्धन एवं अशिक्षितों तथा ग्रामीणों की गणना की है। विवेकानन्द ने भारत की जनता को दो भागों में बाँटकर देखा है–एक तो यही अभिजात अथवा कुलीन वर्ग और दूसरा किसान, श्रमिक, मेहतर, माली, मोची आदि का शेष निम्न वर्ग। इसीलिए वे कहते हैं कि आदर्श के एक छोर पर तो ब्राह्मण है और दूसरे छोर पर चांडाल और सम्पूर्ण कार्य यही है कि इस निम्न वर्ग के चांडाल को उच्च वर्ग के ब्राह्मण तक ऊँचा उठा दिया जाए। विवेकानन्द इस कुलीन वर्ग के इतिहास का अवलोकन करते हैं और पाते हैं कि उच्च वर्ग के ब्राह्मण तक ऊँचा उठा दिया जाए। विवेकानन्द इस कुलीन वर्ग के इतिहास का अवलोकन करते हैं और पाते हैं कि उच्च वर्ग के ब्राह्मण, श्रत्रिय और वैश्य, सभी निम्न वर्ग के प्रति घोर अपराधी हैं और वे 'दस हजार वर्ष पीछे के ममी अर्थात् मृत शरीर' तथा 'सचल श्मशान' के समान हैं। वे इस उच्च वर्ग को अनेक रूपों में स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "हे भारत के उच्च वर्ण वालो, तुम तो माया के इस संसार में मानो इंद्रजाल हो, रहस्य हो, मरु-मरीचिका हो। तुम तो भविष्य के शून्याकार, सारहीन, अस्तित्व रहित पदार्थ हो। स्वप्न राज्य के नागरिक। तुम लोग और अधिक समय तक क्यों भटक रहे हो? तुम भूतकालीन भारत के मृत शरीर के मांसहीन, रक्तहीन अस्थि कंकाल जैसे हो–तुम शीघ्र ही अपने को मिट्टी में मिलाकर हवा में अदृश्य क्यों नहीं हो जाते?" विवेकानन्द मानते हैं कि उच्च वर्ग के लिए सजीव नहीं हैं, अत: वे उनके आर्यों की संतान होने के अहंकार तथा प्राचीन भारत के गौरव का अभिमान करने को निरर्थक एवं निष्प्राण मानते हैं। उच्च वर्ग के लोगों का क्या यही काम है कि वे निम्न जाति के लोगों की मनुष्यता नष्ट कर दें, उन्हें भिखारी बना दें, उन्हें ईसाई बनने पर विवश करें, उन्हें सदैव के लिए दास अथवा हिंसक पशु बना दें तथा उनमें मनुष्य होने का भाव ही खत्म कर दें। वे उच्च वर्ण के ऐसे शिक्षित लोगों को 'घृणा के पात्र' कहते हैं, जो निर्धनों एवं दलितों के खर्च पर शिक्षित हुए हैं अथवा गरीबों को कुचलकर धनी बने हैं और फिर भी देश के बीस करोड़ निवासियों को भूखा व असभ्य बना रहने देते हैं। इसलिए वे चाहते हैं कि देश का अभिजात वर्ग खुद ही अपनी कब्र अति शीघ्र खोदे, अन्यथा देरी होने पर वह सड़ेगी और मृत्यु भी उतनी भंयकर होगी।

विवेकानन्द बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि उच्च घराने में जन्म लेने वाले और विशेष अधिकार रखनेवाले प्रत्येक जाति के लोग अपने ही हाथों अपनी चिता तैयार करना अपना प्रमुख कर्तव्य बना लें, यही अच्छा और उपयुक्त है। इसका कारण यह है कि उच्च वर्ग के नाश के बिना नवभारत की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि नए भारत का उदय तो किसान, मछुआ, मोची, मेहतर, छोटे व्यापारी, श्रमिक आदि के हाथों से ही होगा। वे उच्च वर्ण के लोगों से इसी कारण कहते हैं, "तुम अपने को शून्य में लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान में 'नवभारत' का उदय होने दो। उसका उदय हल चलानेवाले

किसानों की कुटिया से, मछुए, मोचियों और मेहतरों की झोंपड़ियों से हो। बनियों की दुकान से, रोटी बेचनेवाले की भट्ठी के पास से हो। कारखानों, हाटों और बाजारों से वह निकले। वह 'नवभारत' अमाराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो। ये साधारण लोग सहस्त्रों वर्षों से अत्याचार सहते आए हैं और इन्होंने आश्चर्यजनक धैर्य-शक्ति प्राप्त कर ली है। वे सतत विपत्ति सहते रहे हैं, जिससे उन्हें अविरल जीवन-शक्ति प्राप्त हो गई है। मुट्ठी भर अन्न से पेट भरकर वे संसार को कँपा सकते हैं; उनको तुम केवल आधी रोटी दे दो और फिर देखोगे कि सारे संसार का विस्तार उनकी शक्ति के समावेश के लिए पर्याप्त न होगा। उनमें 'रक्तबीज' की अक्षय जीवन-शक्ति भरी है। इसके अतिरिक्त, उनमें पवित्र और नीतियुक्त जीवन से आनेवाला वह आश्चर्यजनक बल है, जो संसार में अन्यत्र नहीं मिलता। ऐसी शांति, ऐसा संतोष, ऐसा प्रेम और चुपचाप सतत कार्य करने की ऐसी शक्ति एवं कार्य के समय इस प्रकार सिंह-बल प्रकट करना—यह सब तुम्हें अन्यत्र कहाँ मिलेगा?"

स्वामी विवेकानन्द इसी कारण भविष्यवाणी करते हैं कि शूद्रों का समय आ गया है और अब शूद्रों का राज्य होगा। मानव समाज पर पुरोहित, योद्धा और व्यापारी शासन कर चुके हैं, अब शूद्र तथा निम्न वर्ण के लोग राज्य करेंगे। उन्हें अब कोई रोक नहीं सकता। जमाना बदल गया है निम्न जातियाँ जाग्रत् हो रही हैं और अपना यथोचित स्वत्व बलात् ग्रहण करने के लिए सामूहिक प्रयास कर रही हैं। अब उच्च जातिवाले नीच जातिवालों को और अधिक समय तक दबा नहीं सकते, अत: उनका कल्याण इसी में है कि निम्न जातियों की इस कार्य में सहायता करें। वे कहते हैं कि 'गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दु:खी' ईश्वर के रूप हैं, 'दरिद्र' तो 'नारायण' हैं तथा उनकी झोंपड़ियों में ही राष्ट्र बसता है। यही उच्च वर्ग के लोगों के उत्तराधिकारी हैं और यही भावी भारतवर्ष है। उच्च वर्ग के अदृश्य होते ही तत्काल पुनर्जात भारतवर्ष करोड़ों गर्जनाओं के साथ यह उद्घोष करेगा—'वाहे गुरु की फतह'। विवेकानन्द इस विजय-घोष के मूल में उच्च वर्ण के लोगों के वे अत्याचार देखते हैं, जो हजारों वर्षों से होते रहे हैं। वे कहते हैं कि हमारे देश में नीच जाति में जन्म लेने का अर्थ है कि वह मानो सदा के लिए नष्ट हो गया। यह कैसा अत्याचार है? देश के इन गरीबों का कोई विचार नहीं करता। वे ही तो देश के मेरुदंड हैं, जो अपने परिश्रम से अन्न उत्पन्न करते हैं। ये मेहतर और मजदूर, यदि ये लोग एक दिन काम बंद कर दें तो शहर भर में घबराहट फैल जाए, पर उनके साथ सहानुभूति रखनेवाला कौन है? इस देश में दस-बीस लाख साधु और दस-एक करोड़ ब्राह्मण इन गरीबों का रक्त चूसते हैं, पर उनके सुधार का रत्ती भर भी प्रयास नहीं करते, वह कोई देश है या नरक? वह धर्म है या शैतान का नग्न नृत्य? वास्तव में देश के नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर सभी उच्च वर्गीय समाज के भाई हैं और सभी का रक्त एक ही है। अत: ब्राह्मण तथा अन्य उच्च वर्ग का यह दायित्व है कि वे दूसरी जातियों के उद्धार की चेष्टा करें, प्रत्येक मनुष्य को ब्राह्मण बनाया जाए, निर्धनों-अशिक्षितों को भोजन एवं शिक्षा दी जाए, पददलितों को सहानुभूति दें और उनका दु:ख दूर किया जाए, निम्न जाति को धर्म-दान, विद्या-दान एवं ज्ञान-दान देकर उन्हें जागत् किया जाए, देशकाल के उपर्युक्त एक नवीन स्मृति की रचना करनी होगी, पुरोहिती के छल-प्रपंच-पाखंड को जड़मूल से उखाड़ फेंकना होगा, नीच जाति का धर्मांतरण रोकना होगा, उनके खोए मनुष्यत्व को जाग्रत् करना होगा तथा हम सभी को 'मनुष्य' बनना होगा। हमें ऐसे धर्म, सिद्धांत तथा शिक्षा की आवश्यकता है, जो हमें मनुष्य बना सके। हमें जो भी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाए, वह विष के समान त्याज्य है। मनुष्य केवल मनुष्य भर चाहिए। शेष सब कुछ अपने आप हो जाएगा।

स्वामी विवेकानन्द का विश्वास है कि ब्राह्मण और पुरोहित निर्दय, हृदयहीन, कुसंस्कारी, अत्याचारी, अहंकारी तथा उन्नति विरोधी हैं और वे कभी सुधरेंगे नहीं। उनकी प्रबल आकांक्षा थी कि बड़ी जातियों और छोटी जातियों में भाईचारे की भावना का विकास हो, पारस्परिक सहानुभूति और प्रेम हो तथा उच्च जाति के लोग गाँवों में जाकर वहाँ घुल-मिल जाएँ, क्योंकि देश के दारिद्रय और अज्ञता को देखकर उन्हें नींद नहीं आती थी। विवेकानन्द को ब्राह्मणों ने इन विचारों एवं कार्यों के कारण 'शूद्र' कहा तो वे इससे दु:खी नहीं हुए और इसे उन्होंने गरीबों पर अपने पूर्वजों द्वारा किए अत्याचारों का प्रतिकार माना। उन्हें निम्न जातियों की शक्ति और क्षमता पर अटूट विश्वास था। वे इस साधारण जनता को 'जाग्रत् देवता' कहते थे और इस विराट् जनसमूह की पूजा करने का उद्बोधन करते थे।

विवेकानन्द एक प्रकार से इन निर्बलों को सबलों से अधिक अवसर देने के पक्ष में हैं, जो आज की आरक्षण नीति से भी आगे बढ़ा हुआ कदम है। वे स्पष्ट कहते हैं कि सबल ब्राह्मण को शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्बल चांडाल के लड़के को। यदि ब्राह्मण के लड़के को एक शिक्षक चाहिए तो चांडाल के लड़के को दस, क्योंकि अधिकतम सहायता उसे मिलनी चाहिए, जिसे प्रकृति ने जन्म से कुशाग्र बुद्धि नहीं दी है। वह कोई पागल ही होगा, जो उलटे बाँस बरेली को ले जाए। यदि ब्राह्मण को शिक्षा के लिए व्यय करना बिल्कुल बंद कर दों; सारा खर्च परिया की शिक्षा के लिए लगाओ। दान दुर्बल को दो, क्योंकि सारे दान की आवश्यकता वहाँ है। यदि ब्राह्मण जन्म से बुद्धिमान है तो वह बिना सहायता के शिक्षित बन सकता है और यदि दूसरे लोग जन्म से बुद्धिमान नहीं हैं तो सारी शिक्षा और सभी शिक्षक, जितना उनको आवश्यक हो, उन्हीं के लिए रहें। यदि इसके बाद कुछ शेष रहा तो शिक्षित-सभ्य लोगों के लिए किया जाना चाहिए। विवेकानन्द शूद्र समाज को एक दृष्टि से सावधान भी करते हैं। वे कहते हैं कि शूद्र जाति के असाधारण बुद्धि और योग्यता वाले मनुष्यों को उच्च वर्ग वाले उन्हें पदवियों से सम्मानित करके अपने वर्ग में उठा लेते हैं और इस प्रकार शूद्र समाज उनकी बुद्धि और गुणों से वंचित हो जाता है। प्राचीन काल में वशिष्ठ, नारद, सत्यकाम, जाबाल, व्यास, कृप, द्रोण, कर्ण आदि विद्वान एवं पराक्रमी होने के कारण ब्राह्मण या क्षत्रिय पद पर प्रतिष्ठित कर दिए गए, पर इससे वेश्या, दासी, धीमर या सूत जाति को क्या लाभ हुआ? इसके विपरीत यह भी होता था कि उच्च वर्ग के पतित मनुष्य सदैव शूद्रों के पद पर नीचे उतार दिए जाते थे। इस कारण वे चाहते हैं कि शूद्र जाति की संपत्ति, विद्या या बुद्धि की शक्ति का उपयोग उसी समाज की भलाई के लिए ही होना चाहिए।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही देश की नए युग की नई दलित-चेतना को रूप देते हैं और उस काल-खंड में दलितों के सबसे बड़े मसीहा बनकर सामने आते हैं।

□□□

"किसी एक विचार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाओ। कुविचारों का त्याग कर केवल उसी विचार के बारे में सोचो। तुम पाओगे कि सफलता तुम्हारे कदम चूम रही है।"

-स्वामी विवेकानन्द

स्वाधीनता के बगैर किसी प्रकार की उन्नति संभव नहीं है

(आलासिंगा पेरुमल आदि मद्रासी शिष्यों को लिखा स्वामीजी का पत्र)

वीर हृदय युवको!

तुम्हारा 11 अक्टूबर का पत्र कल पाकर बड़ा ही आनन्द हुआ। यह बड़े संतोष की बात है कि अब तक हमारा कार्य बिना रोक-टोक के उन्नति ही करता चला आ रहा है। जैसे भी हो सके, हमें संघ को दृढ़प्रतिष्ठ और उन्नत बनाना होगा और इसमें हमें सफलता मिलेगी—अवश्य मिलेगी। 'नहीं' कहने से न बनेगा, और किसी बात की आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है केवल प्रेम, निश्छलता और धैर्य की। जीवन का अर्थ ही वृद्धि अर्थात् विस्तार यानी प्रेम है। इसलिए प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र नियम है और स्वार्थपरता ही मृत्यु है। इहलोक एवं परलोक में यही बात सत्य है। परोपकार ही जीवन है, परोपकार न करना ही मृत्यु है। जितने नरपशु तुम देखते हो, उनमें नब्बे प्रतिशत मृत हैं, वे प्रेत हैं; क्योंकि मेरे बच्चो, जिसमे प्रेम नहीं है, वह जी भी नहीं सकता।

मेरे बच्चो, सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो—गरीब, मूर्ख एवं पददलित मनुष्यों के दु:ख को तुम महसूस करो, जब तक महसूस करो, जब तक तुम्हारे हृदय की धड़कन न रुक जाए, मस्तिष्क चकराने न लगे और तुम्हें ऐसा प्रतीत होने लगे कि तुम पागल हो जाओगे—फिर ईश्वर के चरणों में अपना दिल खोलकर रख दो और तब तुम्हें शक्ति, सहायता और अदम्य उत्साह की प्राप्ति होगी। गत दस वर्षों से मैं कहता हूँ कि अविराम संघर्ष करते चलो। जब चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार दिखता था, तब मैं कहता था—संघर्ष करते रहो; अब जब थोड़ा-थोड़ा उजाला दिखाई दे रहा है, तब भी मैं कहता हूँ कि संघर्ष करते चलो। डरो मत मेरे बच्चो। अनंत नक्षत्रखचित आकाश की ओर भयभीत दृष्टि से ऐसे मत ताको, जैसे कि वह हमें कुचल ही डालेगा। धीरज करो। देखोगे कि कुछ ही घंटों में वह सब-का-सब तुम्हारे पैरों तले आ गया है। धीरज धरो, न धन से काम होता है, न नाम से, न यश काम आता है, न विद्या; प्रेम ही से सब कुछ होता है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें तोड़कर अपना रास्ता बना सकता है।

अब हमारे सामने समस्या यह है—कि स्वाधीनता के बिना किसी प्रकार की उन्नति संभव नहीं। हमारे पूर्वजों ने धार्मिक विचारों में स्वाधीनता दी थी और उसी से हमें एक आश्चर्यजनक धर्म मिला है। पर उन्होंने समाज के पैर बड़ी-बड़ी जंजीरों से जकड़ दिए और इसके फलस्वरूप हमार समाज, एक शब्द में, भंयकर और पैशाचिक हो गया है। पाश्चात्य देशों में समाज को सदैव स्वाधीनता मिलती रही, इसलिए उनके समाज को देखो। दूसरी तरफ उनके धर्म को भी देखो।

उन्नति की पहली शर्त है स्वाधीनता। जैसे मनुष्य को सोचने-विचारने और उसे व्यक्त करने की स्वाधीनता मिलनी चाहिए, वैसे ही उसे खान-पान, पोशाक-पहनावा, विवाह-शादी, हरेक बात में स्वाधीनता मिलनी चाहिए, जब तक कि वह दूसरों को हानि न पहुँचाए।

हम मूर्खों की तरह भौतिक सभ्यता की निंदा किया करते हैं। अंगूर खट्टे हैं न! उस मूर्खोचित बात को मान लेने पर भी यह कहना पड़ेगा कि सारे भारतवर्ष में लगभग एक लाख नर-नारी ही यथार्थ रूप से धार्मिक हैं। अब प्रश्न यह कि क्या इतने लोगों की धार्मिक उन्नति के लिए भारत के तीस करोड़ अधिवासियों को बर्बरों का सा जीवन व्यतीत करना और भूखों मरना होगा? क्यों कोई भूखों मरे? मुसलमानों के लिए हिंदुओं को जीत सकना कैसे संभव हुआ? यह हिंदुओं की भौतिक सभ्यता का निरादर करने के कारण ही हुआ। सिले हुए कपड़े तक पहनना मुसलमानों ने इन्हें सिखलाया। क्या अच्छा होता, यदि हिंदू मुसलमानों से साफ ढंग से खाने की तरकीब सीख लेते, जिसमें रास्ते की गर्द भोजन के साथ न मिलने पाती। भौतिक सभ्यता, यहाँ तक कि विलासता की भी जरूरत होती है—क्योंकि उससे गरीबों को गम मिलता है। रोटी! रोटी! मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि वह भगवान्, जो मुझे यहाँ पर रोटी नहीं दे सकता, वही स्वर्ग में मुझे अनंत सुख देगा! राम

कहो! भारत को उठाना होगा, गरीबों को भोजन देना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों का निराकरण करना होगा। पुरोहित प्रपंच की बुराईयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान न रहे। सबके लिए अधिक अन्न और सबको अधिकाधिक सुविधाएँ मिलती रहें। हमारे मूर्ख नौजवान अंग्रेजों से अधिक राजनीतिक अधिकार पाने के लिए सभाएँ आयोजित करते हैं। इस पर अंग्रेज केवल हँसते हैं। स्वाधीनता पाने का अधिकार उसे नहीं, जो औरों को स्वाधीनता देने को तैयार न हो। मान लो कि अंग्रेजों ने तुम्हें सब अधिकार दे दिए, पर उससे क्या फल होगा? कोई-न-कोई वर्ग प्रबल होकर सब लोगों से सारे अधिकार छीन लेगा और उन लोगों को दबाने की कोशिश करेगा; और गुलाम तो शक्ति चाहता है, दूसरों को गुलाम बनाने के लिए।

इसलिए हमें वह अवस्था धीरे-धीरे लानी पड़ेगी—अपने धर्म पर अधिक बल देते हुए और समाज को स्वाधीनता देते हुए। प्राचीन धर्म से पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को एक बार उखाड़ दो तो तुम्हें संसार का सबसे अच्छा धर्म उपलब्ध हो जाएगा। मेरी बात समझते हो न? भारत का धर्म लेकर एक यूरोपीय समाज का निर्माण कर सकते हो? मुझे विश्वास है कि यह संभव है और एक दिन ऐसा अवश्य होगा।

इसके लिए सबसे अच्छा उपाय मध्य भारत में एक उपनिवेश की स्थापना करना है, जहाँ तुम अपने विचारों का स्वतंत्रापूर्वक अनुसरण कर सको। फिर ये ही मुट्ठी भर लोग सारे संसार में अपने विचार फैला देंगे। इस बीच एक मुख्य केंद्र बनाओ और भारत भर में उसकी शाखाएँ खोलते जाओ। अभी केवल मचानेवाले सामाजिक सुधार का प्रचार मत करो। साथ ही इतना ध्यान रहे कि किन्हीं मूर्खताप्रसूत कुसंस्कारों को सहारा न देना। जैसे पूर्वकाल में शंकाराचार्य, रामानुज और चैतन्य आदि आचार्यों ने सबको समान समझकर मुक्ति में सबका समान अधिकार घोषित किया था, वैसे ही समाज को पुन: गठित करने की कोशिश करो।

उत्साह से हृदय भर लो और सब जगह फैल जाओ। काम करो, काम करो। नेतृत्व करते समय सबके दास हो जाओ, नि:स्वार्थी हो और कभी एक मित्र को पीठ पीछे दूसरे की निंदा करते मत सुनो। अनंत धैर्य रखो, तभी सफलता तुम्हारे हाथ आएगी। भारत का कोई अखबार या किसी के पते अब मुझे भेजने की आवश्यकता नहीं। मेरे पास उनके ढेर जमा हो गए; अब बस करो। अब इतना ही समझो कि जहाँ-जहाँ तुम कोई सार्वजनिक सभा बुला सके, वहीं काम करने का तुम्हें थोड़ा मौका मिल गया। उसी के सहारे काम करो। काम करो, काम करो, औरों के हित के लिए काम करना ही जीवन का लक्ष्य है। मैंने श्री अय्यर को अलग पत्र नहीं लिखा, पर अभिनंदन-पत्र का जो उत्तर मैंने दिया, शायद वही पर्याप्त हो। उनसे और मेरे अन्याय मित्रों से मेरा हार्दिक प्रेम, सहानुभूति और कृतज्ञता ज्ञापन करना। वे सभी महानुभाव हैं। हाँ, एक बात के लिए सतर्क रहना—दूसरों पर अपना रोब जमाने की कोशिश मत करना। मैं सदा तुम्हीं को पत्र भेजता हूँ, इसलिए तुम मेरे अन्य मित्रों से अपना महत्व प्रकट करने की फिक्र में न रहना। मैं जानता हूँ कि तुम इतने निर्बोध न होगे, पर तो भी तुम्हें सतर्क कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। सभी संगठनों का सत्यानाश इसी से होता है। काम करो, काम करो, दूसरों की भलाई के लिए काम करना ही जीवन है।

मैं चाहता हूँ कि हमसे किसी प्रकार की कपटता, कोई मक्कारी, कोई दुष्टता न रहे। मैं सदैव प्रभु पर निर्भर रहा हूँ, सत्य पर निर्भर रहा हूँ, जोकि दिन के प्रकाश की भाँति उज्ज्वल है। मरते समय मेरी विवेक-बुद्धि पर यह धब्बा न रहे कि मैंने नाम या यश पाने के लिए, यहाँ तक कि परोपकार करने के लिए दुरंगी चालों से काम लिया था। दुराचार की गंध या बदनीयती का नाम तक न रहने पाए।

किसी प्रकार की टालमटोल या छिपे तौर से बदमाशी या गुप्त शठता हममें न रहे—परदे की आड़ में कुछ न किया जाए। गुरु का विशेष कृपापात्र होने का कोई भी दावा न करे—यहाँ तक कि हममें कोई गुरु भी न रहे। मेरे साहसी बच्चो, आगे बढ़ो—चाहे धन आए या न आए, आदमी मिलें या न मिलें। क्या तुम्हारे पास प्रेम है? क्या तुम्हें ईश्वर पर भरोसा है? बस, आगे बढ़ो, तुम्हें कोई न रोक सकेगा।

भारत से प्रकाशित थियोसॉफिस्टों की पत्रिका में लिखा है कि थियोसॉफिस्टों ने ही मेरी सफलता की राह साफ कर दी थी। ऐसी! क्या बकवास है!—थियोसॉफिस्टों ने मेरी राह साफ की।

सतर्क रहो! जो कुछ असत्य है, उसे पास न फटकने दो। सत्य पर डटे रहो, बस, तभी हम सफल होंगे—शायद थोड़ा अधिक समय लगे, पर सफल हम अवश्य होंगे। इस तरह काम करते जाओ कि मानों मैं कभी था ही नहीं। इस तरह काम करो कि मानो तुममें से हर एक के ऊपर सारा काम आ पड़ा है। भविष्य की पचास सदियाँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं, भारत का भविष्य तुम पर ही निर्भर है। काम करते जाओ। पता नहीं, कब मैं स्वदेश लौटूँगा। यहाँ काम करने का बड़ा अच्छा क्षेत्र है। भारत के लोग अधिक-से-अधिक मेरी प्रशंसा भर कर सकते हैं, पर वे किसी काम के लिए एक पैसा भी न देंगे, और दें भी तो कहाँ से? वे स्वयं भिखारी हैं न? फिर गत दो हजार या उससे भी अधिक वर्षों से वे परोपकार करने की प्रवृत्ति ही खो बैठे हैं। 'राष्ट्र' 'जनसाधारण' आदि के विचार वे अभी-अभी सीख रहे हैं। इसलिए मुझे उनकी कोई शिकायत नहीं करनी है। आगे और भी विस्तार से लिखूँगा। तुम लोगों को सदैव मेरा आशीर्वाद।

मनीषियों एवं महापुरुषों की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द

मैंने उनके द्वारा सृजित साहित्य का आद्योपान्त अध्ययन किया है और तत्पश्चात् अपने देश के प्रति मुझे जो प्रेम था वह हजार गुना बढ़ गया है। नौजवानो! मैं तुमको आह्वान करता हूँ कि जहाँ स्वामी विवेकानन्द जिए और मृत्यु को प्राप्त हुए उस स्थान के कुछ प्रभाव को धारण किए बिना खाली मत चले जाना।

निश्चित रूप से, स्वामी विवेकानन्द के लेखों को किसी से भी किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है, वे स्वयं अपने आप को स्थापित करते हैं तथा निर्विरोध रूप से चित्त को आकर्षित करते हैं।

–महात्मा गाँधी

उनकी जड़ें अतीत में थीं तथा भारत के सम्मान के प्रति उनमें पर्याप्त अभिमान था, तथापि जीवन की समस्याओं के समाधान हेतु विवेकानन्द आधुनिक थे तथा अतीत एवं वर्तमान भारत के बीच एक सेतु थे ... स्वामीजी ने जो कुछ लिखा और कहा वह कल्याणकारी है, हितकारी है और वह आनेवाले लम्बे समय तक हमें प्रभावित करता रहेगा। साधारण शब्द के अर्थ में वे राजनीतिज्ञ नहीं थे, तथापि मेरे विचार से वे महान संस्थापकों में एक थे, आंशिक या सम्पूर्ण रूप से भारत के आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वालों ने स्वामीजी से प्रेरणा प्राप्त की थी। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से स्वामी विवेकानन्द ने भारत को सम्पूर्ण शक्ति से प्रभावित किया है। स्वामी विवेकानन्द द्वारा विवेक, उत्साह एवं अग्नि का जो उद्गम प्रवाहित किया गया है, मैं समझता हूँ युवा पीढ़ी उससे सम्पूर्ण लाभ प्राप्त करेगी।

–पंडित जवाहरलाल नेहरू

स्वामी विवेकानन्द की अमेरिका यात्रा और उनके द्वारा उत्तरोत्तर कार्यों ने भारत के लिए लंदन में आयोजित सौ कांग्रेसों से अधिक प्रभावशाली कार्य किया। ... हमारी अनुभूति है कि उनका प्रभाव अलौकिक रूप से अब भी कार्यरत है ... और हम कहते हैं "स्वामी विवेकानन्द को देखो जो अब भी अपनी भारत माँ और भारत माँ की सन्तति की आत्मा में विद्यमान हैं।"

–श्री अरविन्द

यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो विवेकानन्द को अध्ययन करें। उनमें सब कुछ सकारात्मक है, कुछ भी नकारात्मक नहीं ... राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि प्रत्येक के अन्दर ईश्वर की शक्ति है, दीन व दु:खी के अन्दर का ईश्वर तुमसे अपनी सेवा की अपेक्षा करता है। उनके इस सन्देश ने नवयुवकों के हृदय को पूर्ण व्यापकता के साथ झकझोरा। यही कारण है कि यह सन्देश राष्ट्र की सेवा में विविध प्रकार एवं बलिदान की विभिन्न शक्लों के रूप में फलदायी सिद्ध हुआ।

–रवीन्द्रनाथ टैगोर

स्वामी विवेकानन्द की बहुमुखी प्रतिभा का वर्णन करना कठिन है। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी कृतियों एवं व्याख्यानों से हमारे समय के छात्रों को जितना प्रभावित किया वह देश के किसी भी नेता को काफी पीछे छोड़ गया है। स्वामीजी ने इसकी आशाओं एवं आकांक्षाओं को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त किया है। (किन्तु) स्वामीजी का अध्ययन स्वामी रामकृष्ण परमहंस देव जी के साथ किए बिना, उन्हें यथोचित रूप से समझना कठिन है। वर्तमान स्वतन्त्रता आन्दोलन की आधारशिला अपने उद्भव के लिए स्वामीजी के सन्देश की ऋणि है। यदि भारत को स्वतंत्र होना है, तो वह मात्र हिन्दुवाद अथवा इस्लाम की एकल भूमि नहीं हो सकता–इसे राष्ट्रवादी आदर्शों से अभिप्रेरित विभिन्न धार्मिक समुदायों को संगठित भूमि होना चाहिए। (और उसके लिए) भारतवासियों को धर्मों की समता के उपदेश को पूर्ण हार्दिकता से स्वीकार करना चाहिए, यही रामकृष्ण विवेकानन्द का उपदेश है।

स्वामीजी ने पूर्व और पश्चिम को, धर्म और विज्ञान को, अतीत एवं वर्तमान को समन्वित किया और इसलिए वे महान हैं। हमारे देशवासियों ने उनकी शिक्षाओं से अभूतपूर्व आत्म-सम्मान, आत्म विश्वास एवं आत्माभिव्यक्ति को प्राप्त किया है।

–नेताजी सुभाष चन्द्र बोस

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दु धर्म और भारत की रक्षा की। उनके अवतरित न होने पर हम अपना धर्म खो चुके होते और अपनी स्वतन्त्रता को पाने में असफल हो गए होते। हम इसलिए हर प्रकार से स्वामी विवेकानन्द के ऋणी हैं। उनका साहस, उनका विश्वास एवं उनकी विद्वत्ता हमें सदैव प्रेरित करती रहे, ताकि जो विरासत हमें उनसे मिली है, हम उसे सुरक्षित रख सकें।

कुछ ही दिन पूर्व के इतिहास पर नजर डालने पर ज्ञात होता है कि हम स्वामी विवेकानन्द के कितना ऋणी हैं। उन्होंने भारत की यथार्थ महत्ता को हमारे समक्ष रख कर हमारी आँखें खोल दी। उन्होंने राजनीति का आध्यात्मिकीकरण किया। हम अन्धकार में थे, उन्होंने हमें राह दिखाई, वे भारत की राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता के जनक हैं।

–चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

स्वामी विवेकानन्द ने हमें मात्र अपने पौरुष के प्रति जागरूक ही नहीं बनाया वरन् हमारे दोषों और कमजोरियों को भी रेखांकित किया ... उन्होंने हमें सिखाया, "सभी में एक ही आत्मा का वास है, यदि तुम इससे आश्वस्त हो तो सभी को भाई की भाँति मानना एवं मानवता की सेवा करना।" अत: उन्होंने हमें 'दरिद्रानारायण' की सेवा में स्वयं को समर्पित करने का आह्वान किया। ईश्वर भूखों और असंख्य अनाथों में दृष्टिगोचर है एवं उनकी प्रगति एवं नैतिक उत्थान के लिए ईश्वर ने उनकी संरचना की है। स्वामी विवेकानन्द द्वारा 'दरिद्रनारायण' शब्द गढ़ा गया एवं गाँधी जी द्वारा उसे जन-जन तक पहुँचाया गया।

–आचार्य विनोबा भावे

सम्पूर्ण शरीर में बिजली के झटके की भाँति रोमांच पाए बिना मैं उनके इन वचनों को, जो तीस वर्ष पूर्व लिखी गई पुस्तकों के पृष्ठों पर बिखरे पड़े हैं, स्पर्श नहीं कर सकता। और कैसे झोंखे एवं तूफान उत्पन्न हुए होंगे, जब वे ज्वलन्त शब्द उस नायक के अधरों से प्रस्फुटित हुए होंगे।

–रोमाँ रोला

□□□

जूठी चिलम

-रामधारी सिंह 'दिनकर'

(परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते समय वृन्दावन के पास स्वामीजी के जीवन की एक बड़ी मार्मिक घटना हुई थी, जिसे राष्ट्रकवि ने सुन्दर काव्य में निबद्ध किया है।)

शिष्यों को कर शोकमग्न हो गए ब्रह्म में लीन
रामकृष्ण जो परम धर्म की मूर्ति, स्नेह के स्वर थे।
कुछ विषाद, कुछ बेचैनी, घबराहट से हो दीन
निकल पड़े सब शिष्य, साधना के निमित्त घर घर से।।

उन शिष्यों के मुकुट वीरवर सन्त विवेकानन्द
नगर, ग्राम, वन, विजन, सभी स्थानों में घूम रहे थे।
प्रथम देश-दर्शन से पा प्रेरणा और आनन्द
देशभक्ति के भावों से पूरित हो झूम रहे थे।

चलते चलते एक दिवस देखा कि खेत के पास
एक व्यक्ति ले चिलम मस्त होकर दम खींच रहा है,
फैलाता तम्बाकू का सब ओर महकता वास
घोंट रहा है धुआँ मग्न, कुछ आँखें मींच रहा है।

स्वामीजी ने कहा विरम कर – "भला करें भगवान।
जो सुख लूट रहे, वह क्या मुझको भी पाने दोगे?
तम्बाकू की खुशबू से मेरी भी है पहचान।
बन्धु, एक दम इस सुलफे में मुझे लगाने दोगे?"

तम्बाकू पीनेवाले ने कहा – "हाय, महाराज!
पाप कमाकर भला जगत् में हम किस भाँति जिएँगे?
आप साधु हैं, लेकिन मेहतर कहता हमें समाज।
किस प्रकार फिर आप हमारी जूठी चिलम पिएँगे?"

यह उत्तर सुनकर आगे बढ़ गए विवेकानन्द।
पर तुरन्त लौटे अन्तर में गाँस कहीं पर खाकर।
"मूढ़ अभी तक भी बाकी है जात-पाँत का द्वन्द्व?
तू कायथ ही रहा शिखा कटवाकर, सूत्र जलाकर?"

चिलम छीनकर पी ली स्वामीजी ने आँखे मूँद।
खड़ा देखता रहा ठगा-सा वह मेहतर बेचारा।
टपकी दृग से उमड़ मौन आनन्द-जलधि की बूँद।
स्वामीजी ने और जोर से सुलफे में दम मारा।।

बाल प्रश्न

-सुमित्रानन्दन पन्त

(सुविख्यात छायावादी कवि श्री पन्त ने 16-17 वर्ष की आयु में ही श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। 1918 ई॰ में वे 18 वर्ष की वय में अध्ययनार्थ वाराणसी के क्वीन्स कालेज में दाखिल हुए। प्रस्तुत कविता उसी वर्ष रची गयी और पहली बार उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'वीणा' में संकलित होकर 1920 ई॰ में प्रकाशित हुई। रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का प्रभाव परोक्ष रूप में उन पर आजीवन बना रहा। उन्होंने स्वामीजी की कई कविताओं का काव्यानुवाद भी किया है)

"माँ, अल्मोड़े में आए थे
जब राजर्षि विवेकानन्द,
तब मग में मखमल बिछवाया,
दीपावली की विपुल अमन्द;
बिना पाँवडे पथ में क्या वे
जननि, नहीं चल सकते हैं?
दीपावली क्यों की? क्या वे माँ,
मन्द दृष्टि कुछ रखते हैं?"
"कृष्णे, स्वामीजी तो दुर्गम
मग पर चलते हैं निर्भय,
दिव्य पर चलते हैं निर्भय,
पार कर चुके कंटकमय;
वह मखमल तो भक्तिभाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामीजी तो प्रभावान हैं,
वे प्रदीप थे पूजन के।"

चिन्मय भारत की आत्मा - स्वामी विवेकानन्द

-डॉ. आनन्द कुमार सिंह

स्वामी विवेकानन्द भारत की आत्मा हैं। भारत की सनातनता, उसकी कालजयिता और उसकी चिन्मयता के अद्वितीय साकार विग्रह। केवल चिन्मय ही नहीं बल्कि मृण्मय भारत भी उनके केन्द्र में थे। शक्ति तो उन्होंने चिन्मय भारत के स्रोतों से ही ग्रहण की थी जिसके अद्भुत प्रतीक रामकृष्ण परमहंस थे और उनकी प्रेरणा से उन्होंने मृण्मय भारत -उस दीन-हीन उपेक्षित और पददलित और सर्वहारा जन को बदलने के लिये अथक परिश्रम किया। रामकृष्ण मिशन की स्थापना का उद्देश्य एक और सम्प्रदाय खड़ा करना नहीं बल्कि स्वयं की मुक्ति के साथ-साथ उपेक्षित जगत् का उद्धार था - ''आत्मनो मोक्षार्थ जगद्धिताय च।''

वह केवल एक चिन्तक और विचारक भर ही नहीं बल्कि, देश से जीवन्त प्रेम करने वाले प्रेमी और भक्त हैं । बिना उनके हृदय को समझे हम उनके मस्तिष्क को नहीं समझ सकेंगे। यदि प्राचीन महापुरूषों से तुलना करनी हो तो उन्हें भगवान बुद्ध के जीवन दर्शन से ही जोड़ा जा सकेगा। भगवान बुद्ध की करूणा का सम्यक स्वरूप जिस महापुरूष में प्रतिबिम्बित होता है वह एकमात्र स्वामी विवेकानन्द ही हैं। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि युवा जनों के लिए बुद्ध का मार्ग निवृत्तिमार्गी और संसार त्यागी है -अपने लिये भी और दूसरों के लिये भी। वह गृहत्यागी संन्यासी हैं और संसार के दु:खों का समाधान भी उसी दृष्टि से करते हैं। लेकिन स्वामी विवेकानन्द का संन्यास प्रवृत्तिमार्गी है। वह इस जीवन को ज्ञानी की दृष्टि से कम भक्त की दृष्टि से अधिक देखते हैं। वह अद्वैतवादी संन्यासी होते हुए भी संसार को माया या मिथ्या नहीं समझते। यही कारण है कि वह सारी दुर्बलताओं को त्यागकर सबकुछ बदल देना चाहते हैं।

उनका चिन्तन अत्यन्त क्रान्तिकारी है। आज जिन समस्याओं से भारत परेशान है उसकी तह को उन्होंने पहले ही जान लिया था। वह उस जमाने के पश्चिमी समाजवादी दर्शन और मानवतावाद से प्रभावित हैं और इतनी दूर तक कि वह समाजवाद को पूर्ण दर्शन न मानते हुए भी अपने को समाजवादी कहते हैं। वह व्यावहारिक वेदान्त की बात करते हैं। भारत ने बहुत पहले ही दर्शन और अध्यात्म के धरातल पर मनुष्य मात्र की एकता को अनुभव कर लिया था। संसार के समक्ष भी वसुधैव कुटुम्बकम की उद्घोषणा भारत ने ही की थी। किन्तु, भारत की कमजोरी उसे व्यावहारिक रूप में लागू करने की समस्याओं से रही है। यह समस्या मध्यकालीन भारत में इस्लाम के आगमन के बाद और तीव्रता से बढ़ी। भारतीय परम्परा के प्रवाह में अनेक व्याघात आये। परिणामस्वरूप भारतीय समाज अनेक पंथों, समुदायों और सम्प्रदायों में विभक्त होता रहा। इससे पारस्परिक अलगाव और तटस्थता की प्रवृत्ति बढ़ती रही। इसीलिए उन्होंने व्यावहारिक वेदान्त के लिए वेदान्त की आत्मा के साथ इस्लाम के शरीर अर्थात् सामाजिक ढांचें को महत्वपूर्ण माना था।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन से युवकों को जितनी प्रेरणा मिल सकती है उतनी दूसरे महापुरूषों से नहीं। इसका कारण बताया गया है कि भारत ने अपनी हजारों वर्ष की परम्परा में जो गहन ज्ञान और मूल्य प्राप्त किया वह सब का सब ज्यों का त्यों स्वामी विवेकानन्द की साधना और अभिव्यक्ति में मिलता है । उनका व्यक्तित्व अत्यन्त विराट था। उन्हें ''कंडेन्स्ड इंडिया'' (Condensed India) अर्थात् संघनित भारत कहा गया है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि यदि स्वामी विवेकानन्द को व्याख्यायित किया जाए तो भारत की संस्कृति, ज्ञान और पररम्परा और उसके व्याघातों को ठीक से खोला जा सकता है। संस्कृति समीक्षा से जो समाधान हासिल होना चाहिए वह स्वामी जी के चिन्तन और विचारों में स्वाभाविक रूप से उपलब्ध है। इसी लिए उनका चिन्तन अत्यन्त प्रासंगिक भी है ।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म के केन्द्रीय चिन्तन और साररूप में प्रस्थानत्रयी से प्राप्त तत्व ''अद्वैत वेदान्त'' को

पश्चिमी सभ्यता में प्रचारित करने के लिये महत्वपूर्ण योगादान दिया। उन्होंने दार्शनिक स्तर पर द्वैतवाद, अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत में क्रमिकता देखी और इस प्रकार शंकर वेदान्त से प्रस्थान कर रामानुज की भक्ति को भी अंगीकार किया। इससे उनके दार्शनिक समन्वय का पता चलता है। उन्होंने शिवमहिम्न की पंक्तियों का विश्वधर्म सभा में उद्घोष किया था जिसके केन्द्र में अद्वैत है – ''जैसे टेढ़े-मेढ़े मार्गों से होकर बहने वाली सभी नदियां अन्ततः समुद्र का ही अनुगमन करती हैं उसी प्रकार विभिन्न पथों के उपासक भी अन्त में उसी एक परम शिव में मिल जाते हैं।''

विवेकानन्द बड़े स्वप्नद्रष्टा थे। उन्होंने एक ऐसे समाज का स्वरूप खड़ा करने का प्रयत्न किया जिसमें धर्म या जाति के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में कोई विभेद न रहे। उन्होंने व्यावहारिक वेदान्त का चिन्तन प्रस्तुत किया जिसमें वेदान्त का मस्तिष्क और इस्लाम का शरीर हो।

विवेकानन्द को युवकों से बड़ी आशाएं थीं। आज के युवकों के लिये इस ओजस्वी सन्यासी का जीवन एक आदर्श है। यही नहीं भारतीय विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों को अपने गुरूजनों के प्रति कैसा आदर्श और भाव रखना चाहिए यह भी स्वतः स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि स्वामी जी को जो कुछ महत्वपूर्ण मिला वह तो महान संत परमहंस रामकृष्ण देव के चरणों में मिला किन्तु उसकी तैयारी स्वामी जी ने जिस प्रकार से की है वह भी अत्यन्त महत्वचपूर्ण है। स्वामी जी प्रारंभ में संदेहवादी बौद्धिक थे किन्तु उन्होंने अपने गुरूदेव के सान्निध्य में सन्देह को श्रद्धा में बदलते देखा। गुरु के प्रति अनन्य भक्ति और निष्ठा के प्रताप से ही वे अपने गुरु के शरीर और उनके दिव्यतम आदर्शों की उत्तम सेवा कर सके। गुरुदेव को समझ सके और स्वयं के अस्तित्व को गुरुदेव के स्वरूप में विलीन कर सके। और आगे चलकर समग्र विश्व में भारत के अमूल्य आध्यात्मिक भंडार की महक फैला सके।

केवल 25 वर्ष की अवस्था में सन्यास लेकर नरेन्द्रनाथ दत्त से स्वामी विवेकानन्द हुए थे। तत्पश्चात उन्होंने पैदल ही पूरे भारतवर्ष का भ्रमण किया। सन् 1893 में शिकागो (अमरीका) में विश्व धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द ने सनातन भारत का प्रतिनिधित्व किया। उस समय यूरोप-अमरीका के सामान्य जन ही नहीं बल्कि, बुद्धिजीवी भी पराधीन भारत को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखते थे। पश्चिम की दृष्टि में 'ओरिएण्ट' हेय और गर्हित था। बल्कि, स्त्रैण और दोयम दर्जे का। वहाँ से प्रतिनिधि के रूप में आने वाले अज्ञात कुल-शील स्वामी विवेकानन्द का अपमान ही हुआ। कोशिश तो यहां तक की गयी स्वामी विवेकानन्द को सर्वधर्म सभा में बोलने का अवसर ही न मिले। लेकिन उस धर्म महासभा में उनके विचार सुनकर सभी विद्वान चकित हो गये। विश्वधर्म सम्मेलन में स्वामी जी ने श्रोताओं को ''अमेरिका वासियो भाइयों और बहनो'' कहकर संबोधित किया तो श्रोता विस्मित होकर तालियां बजाने लगे और सारी सभा उनके सम्मान में उठकर खड़ी हो गयी थी। उन्होंने अपने पहले ही दिन के भाषण में कहा था- ''भाइयो मैं आप लोगों को एक स्तोत्र की कुछ पंक्तियाँ सुनाता हूँ जिसकी आवृति मैं बचपन से कर रहा हूँ और जिसकी आवृति प्रतिदिन लाखों मनुष्य किया करते हैं –

रुचीनां वैचिया जुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको ग्म्यस्त्वमसि पयसामर्णवमिव॥

अर्थात् जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।

स्वामी जी ने जो बातें कहीं वे आज भी युवकों के लिये अत्यन्त प्रेरणास्पद हैं – ''साम्प्रदायिकता, हठधर्मिता और उनकी वीभत्स वंशधार धर्मान्धता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुकी हैं। वे पृथ्वी को हिंसा से भरती रही हैं व उसको बारम्बार मानवता के रक्त से नहलाती रही हैं, सभ्यताओं को ध्वस्त करती हुई पूरे के पूरे देशों को निराशा के गर्त में डालती रही हैं। यदि ये वीभत्स दानवी शक्तियाँ न होतीं तो मानव समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका समय आ गया हैं और मैं आन्तरिक रूप से आशा करता हूँ कि आज सुबह इस सभा के सम्मान में जो हर्ष ध्वनि हुई है वह समस्त धर्मान्धता का, तलवार या लेखनी के द्वारा होनेवाले सभी उत्पीड़नों का तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानवों की पारस्परिक कटुता का मृत्यु निनाद सिद्ध हो।'' वह किसी भी प्रकार की धर्मान्धता के खिलाफ़ थे। उन्होंने विश्व का आदर्श संघर्ष को नहीं बल्कि सामंजस्य को घोषित किया। हम जानते हैं कि हमारे देश को ही नहीं बल्कि विश्व को भी इसी सामंजस्य की जरूरत है।

स्वामी जी दो वर्ष अमरीका में रहे और उन्होंने वहाँ के लोगों के समक्ष भारतीय ज्ञान और दर्शन के गुह्य तत्वों को खोलकर रख दिया। उनकी वक्तृत्व-शैली तथा ज्ञान को देखते हुए वहाँ के मीडिया ने उन्हें साइक्लनिक हिन्दू का नाम दिया।

तीस वर्ष की आयु में स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो, अमेरिका के विश्व धर्म सम्मेलन में हिंदू धर्म का प्रतिनिधित्व किया और उसे सार्वभौमिक पहचान दिलवायी। उन्होंने हिन्दू धर्म को सभी धर्मों की माता कहा और एक विशिष्ट पर्चा भी पढ़ा जो आज भी धर्म के संबंध में आंख खोल देने वाला है।

उन्होंने विदेशों में अपने धर्म को गौरव दिलाने के लिये कार्य किया किन्तु जब वह भारत में संबोधन करते थे तो अपने देश की दुर्दशा से व्यथित हो जाते थे। तब वह केवल शुद्ध हृदय होते थे। उन्होंने आत्मलोचना का विकास किया जिससे हम अपनी कमजोरियों को पहचान कर उसका निराकरण कर सकें। उनकी दृष्टि में भारत की राजनीति नहीं बल्कि धर्मनीति महत्वपूर्ण है। ''अध्यात्म-विद्या और भारतीय दर्शन के बिना विश्व अनाथ हो जायेगा''-- यह स्वामी विवेकानन्द का दृढ़ विश्वास था। भारत के गौरव के लिये उन्होंने सब कुछ किया और हमारे युवकों का आदर्श भी यही होना चाहिए।

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था- यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो विवेकानन्द को पढ़िये। उनमें आप सब कुछ सकारात्मक ही पायेंगे, नकारात्मक कुछ भी नहीं।

रोमां रोलां ने उनके बारे में कहा था- उनके द्वितीय होने की कल्पना करना भी असम्भव है वे जहाँ भी गये, सर्वप्रथम ही रहे। हर कोई उनमें अपने नेता का दिग्दर्शन करता था। वे ईश्वर के प्रतिनिधि थे और सब पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेना ही उनकी विशिष्टता थी। हिमालय प्रदेश में एक बार एक अनजान यात्री उन्हें देख ठिठक कर रुक गया और आश्चर्यपूर्वक चिल्ला उठा-'शिव!' यह ऐसा हुआ मानो उस व्यक्ति के आराध्य देव ने अपना नाम उनके माथे पर लिख दिया हो।

वे केवल सन्त ही नहीं, एक महान देशभक्त, वक्ता, विचारक, लेखक और मानव-प्रेमी भी थे। अमेरिका से लौटकर उन्होंने देशवासियों का आह्वान करते हुए कहा था- ''नया भारत निकल पड़े मोची की दुकान से, भड़भूँजे के भाड़ से, कारखाने से, हाट से, बाजार से निकल पडे झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों, पर्वतों से।'' और जनता ने स्वामीजी की पुकार का उत्तर दिया। वह गर्व के साथ निकल पड़ी। विशेषज्ञों ने कहा है कि गान्धीजी को आजादी की लड़ाई में जो जन-समर्थन मिला, वह विवेकानन्द के आह्वान का ही फल था। इस प्रकार वे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के भी एक प्रमुख प्रेरणा-स्रोत बने। उनका विश्वास था कि पवित्र भारतवर्ष धर्म एवं दर्शन की पुण्यभूमि है। यहीं बड़े-बड़े महात्माओं व ऋषियों का जन्म हुआ, यही सन्यास एवं त्याग की भूमि है तथा यहीं-केवल यहीं पर-प्राचीनकाल से लेकर आज तक मनुष्य के लिये जीवन के सर्वोच्च आदर्श एवं मुक्ति का द्वार खुला हुआ है। उनके कथन- ''उठो, जागो, स्वयं जागकर औरों को जगाओ। अपने नर-जन्म को सफल करो और तब तक नहीं रुको जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाये।''

उन्होंने कहा था कि मुझे बहुत से युवा संन्यासी चाहिये जो भारत के ग्रामों में फैलकर देशवासियों की सेवा में विलीन हो जाएं। उनके जीवन में यह सपना पूरा नहीं हुआ। स्वामी जी पुरोहितवाद, धार्मिक आडम्बरों, कठमुल्लापन और रूढ़ियों के सख्त खिलाफ थे। उन्होंने सामान्य मनुष्य की सेवा के केन्द्र में रखकर ही आध्यात्मिक चिंतन किया था। उन्होंने कहा था कि मैं उस भगवान की सेवा करता हूं जिसे लोग अज्ञानता वश मनुष्य कहते हैं। उनका हिन्दू धर्म अतार्किक, आधारहीन और वायवीय नहीं था। उन्होंने यह विद्रोही बयान दिया था कि इस देश के तैंतीस करोड़ भूखे, दरिद्र और कुपोषण के शिकार लोगों को देवी देवताओं की तरह मन्दिरों में स्थापित कर दिया जाये। आज इस प्रकार के साहस का नितान्त अभाव है। उन्होंने कहा था ''दरिद्र देवो भव।'' उनके सन्देशों का कालजयी आह्वान हमारे समय में एक बड़ा प्रश्नवाचक चिन्ह खड़ा करता है। आज इस वक्तव्य को हम सामाजिक विमर्शों और उनकी परिवर्तनकामी चेतना के उदय से जोड़कर देख सकते हैं। उनमें दयानन्द और महात्मा गांधी तथा डॉ॰ लोहिया और अम्बेदकर का चिन्तनबीज पहले से ही विद्यमान हैं। वे मानव आत्मा की स्वतंत्रता के प्रबल गायक और उन्नायक हैं । वह मनुष्य की स्वतंत्रता, बन्धुत्व और समता के हिमायती हैं। उनके आध्यात्मिक चिन्तन को इससे काट कर नहीं देखा जा सकता। यही कारण है कि वे युवकों को प्रभावित करने में सर्वाधिक समर्थ और कालजयी हैं। आज की प्रमुख समस्याओं के समाधान के केन्द्र में खासतौर से पीड़ित मानवता की कराह को सुनने और उनके आंसू पोंछने में तथा नारियों की वेदना को हृदय की गहराइयों से अनुभव करने के कारण ही वह सम्पूर्ण युवाओं के लिये अत्यन्त प्रेरणादायक हैं।

चिन्मय भारत उनकी चिन्ता के केन्द्र में था। वे उसकी आध्यात्मिक सम्पदा के प्रति आश्वस्त थे । वह इसी बल पर कह सके कि अध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की दृढ़ भित्ति है। उसी आधार पर खड़ा रहकर भारत दुनिया का नेतृत्व कर सकेगा।

उन्होंने पुरोहितवाद, ब्राह्मणवाद, धार्मिक कर्मकांड और रूढ़ियों पर गहरा प्रहार किया। उनकी आलोचनात्मक वाणी की समता केवल कबीर की साखियों से ही की जा सकती है। उनमें सूर का वात्सल्य, तुलसी का समन्वय और जायसी तथा रसखान की प्रेमभावना है। उनकी दृष्टि में हिन्दू धर्म के सर्वश्रेष्ठ चिन्तकों के विचारों का निचोड़ पूरी दुनिया के लिए अब भी ईर्ष्या का विषय है। स्वामीजी ने संकेत दिया था कि विदेशों में भौतिक समृद्धि तो है और उसकी भारत को जरूरत भी है लेकिन हमें याचक नहीं बनना चाहिये। हमारे पास उससे ज्यादा बहुत कुछ है जो हम पश्चिम को दे सकते हैं और पश्चिम को उसकी जरूरत है।

यह स्वामी जी की अपने देश की धारोहर के लिये

अतिश्योक्ति नहीं थी। यह एक वेदान्ती संन्यासी की भारतीय सभ्यता और संस्कृति की तटस्थ, वस्तुपरक और मूल्यगत आलोचना थी। आने वाले समय में उनकी बातें सत्य सिद्ध हुई। अंतिम दिन उन्होंने स्वमूल्यांकन करते हुए कहा था-एक और विवेकानन्द चाहिये, यह समझने के लिये कि इस विवेकानन्द ने अब तक क्या किया है।

उन्होंने युवकों का आवाहन करते हुए कहा था- ''हमें कर्म करना होगा और इसके लिये हमें युवक चाहिए । ..मैं कहता हूं कि अभी इस भरी जवानी में इस नये जोश के जमाने में ही काम करो, जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर काम नहीं होगा। काम करो क्योंकि काम करने का यही समय है । सबसे अधिक ताजे बिना स्पर्श किये हुए और बिना सूंघे फूल ही भगवान के चरणों में चढ़ाये जाते हैं और वे उसे ही ग्रहण करते हैं। अपने पैरों आप खड़े हो जाओ, देर न करो क्योंकि जीवन क्षणस्थायी है।...आत्मा अमर और अनन्त है और मृत्यु अनिवार्य है। इसलिये आओ, हम अपने आगे एक महान आदर्श खड़ा करें और उसके लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर दें ।''

स्वामी जी ने जो चिन्तन और दर्शन का स्वरूप खड़ा किया उससे भारत का आत्म गौरव प्रबल हुआ । नवजागरण की लहर में हमारे देश में जो अनेक विशिष्ट स्वर सुने गये और जिन्होंने भारत की महामानवता के समुद्र का प्रतीकात्मक संगीत खड़ा किया उसमें सबसे वैदुष्यपूर्ण, परम्परा से संगत करने वाला उद्दीपक गन्धर्व सुर स्वामी जी का ही था ।

□□□

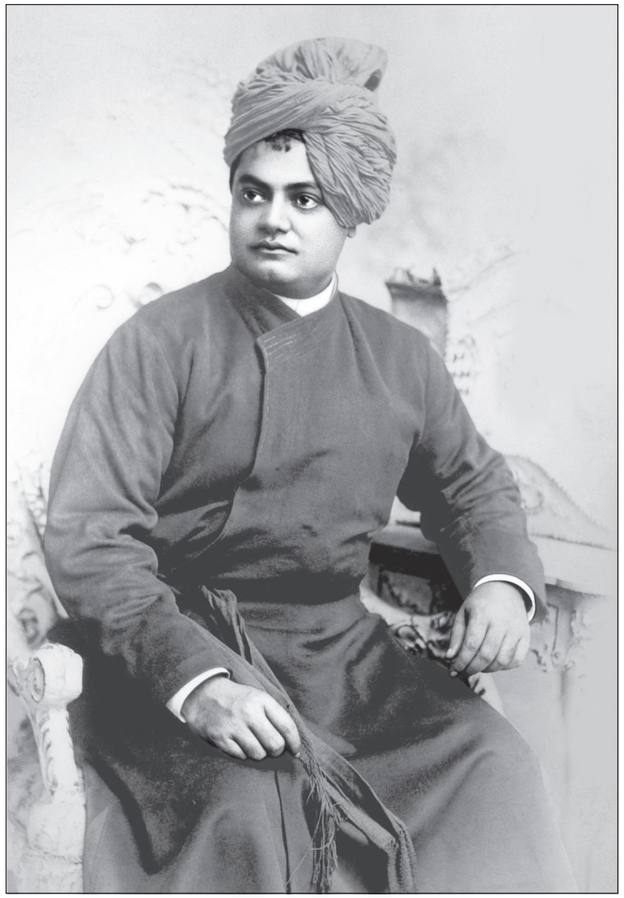

कर्मठ वेदान्त : स्वामी विवेकानन्द

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'

राष्ट्रकवि दिनकर ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रन्थ में भारतीय परम्परा तथा इतिहास की एक अत्यन्त सुललित झाँकी प्रस्तुत की है। प्रस्तुत लेख जनवरी १९६३ ई॰ में प्रकाशित 'विवेक-ज्योति' के प्रवेशांक से लिया गया है। अब तक स्वामी जी पर जो कुछ लिखा गया है, उन सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से इसे एक कहा जा सकता है। स्वामी विवेकानंद की 150वीं जयंती के अवसर पर इस लेख को विशेष तौर पर प्रकाशित किया जा रहा है।

परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धान्त निकाले। रामकृष्ण आध्यात्मिकता के अद्‌भुत यंत्र थे। वे आत्मानन्द की खोज में थे एवं आनन्द का सबसे सुगम मार्ग उन्हें यह दिखाई पड़ा कि अपने आप को वे काली की कृपा के भरोसे छोड़ दें। उनका सारा जीवन प्रकृति के निश्छल पुत्र का जीवन था। वे अदृश्य सत्ता के हाथ में एक ऐसा यंत्र बन गए थे, जिसमें कालिमा नहीं थी, मैल नहीं था, अतएव, जिसके भीतर से अदृश्य अपनी लीला का चमत्कार अनायास दिखा रहा था। बहुत दिनों से हिन्दुओं का विश्वास रहा है, कि हृदय के पूर्ण रूप से निर्मल हो जाने पर, मन से स्वार्थ की सारी गन्ध निकल जाने पर एवं चित्त में छल की छाया भी नहीं रहने पर मनुष्य की सहज वृत्ति पूर्ण रूप से जागृत हो जाती है एवं तब धर्म की अनुभूतियाँ उसके भीतर आप से आप जगने लगती हैं। रामकृष्ण के जीवन में यह सत्य साकार हो उठा था। अतएव, धर्म की सारी उपलब्धियाँ उन्हें आप-से-आप प्राप्त हो गईं। उन उपलब्धियों के प्रकाश में विवेकानन्द ने भारत और समग्र विश्व की समस्याओं पर विचार किया एवं उनके जो समाधान उन्होंने उपस्थित किये वे, असल में, रामकृष्ण के ही दिए हुए समाधान हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द ये दोनो एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उसकी व्याख्या बनकर आए। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को हिन्दू धर्म की गंगा कहा है, जो वैयक्तिक समाधि के कमण्डल में बन्द थी। विवेकानन्द इस गंगा के भगीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमण्डल से निकालकर सारे विश्व में फैला दिया।

स्वामी विवेकानन्द का बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे सन् १८६३ ई॰ की १२ जनवरी को कोलकाता में एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने कॉलेज में शिक्षा पायी थी और बड़ी योग्यता के साथ बी॰ए॰ पास किया था। अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू युवकों के साथी थे, जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तकों की विचारधारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एवं धर्म को शंका से देखते थे। विवेकानन्द का आदर्श उस समय यूरोप था एवं यूरोपीय उद्दामता को वे पुरुष का सबसे तेजस्वी लक्षण मानते थे।

नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल और मांसपेशियाँ सुपुष्ट थीं। वे कुश्ती, बाक्सिंग, दौड़, घुडदौड़ और तैराकी– सभी के प्रेमी और सबमें भली-भाँति दक्ष थे। वे संगीत के भी प्रेमी और तबला बजाने में उस्ताद थे। रामकृष्ण का शरीर कोमल था एवं आरम्भ से ही उनमें सात्त्विकता बहुत उच्च कोटि की थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द का शरीर पुष्ट तथा स्वभाव पौरुष के वेगों से उच्छल एवं उद्दाम था तथा आरम्भ से ही उनके भीतर राजसिकता के भाव थे। विद्या की दृष्टि से भी देखें तो रामकृष्ण, करीब-करीब, अनपढ़ व्यक्ति थे तथा उनकी सारी पूँजी उनकी सहज वृत्ति थी, जबकि नरेन्द्रनाथ संस्कृत और अँग्रेजी के उद्‌भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे। उनमें सहज-वृत्ति के बदले तार्किकता और विवेकशीलता की ज्वाला प्रचण्ड रूप से जल रही थी। उनमें यूरोपीय सभ्यता की वह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रखर थी, जो निरन्तर खोज और सतत् अनुसन्धान में लगी रहती है; जो किसी भी कथन को प्रमाण नहीं

मानकर प्रत्येक विषय का विश्लेषण स्वयमेव करना चाहती है, तथा जो सत्य की खोज में विवेक और बुद्धि को छोड़कर और किसी वस्तु का सहारा नहीं लेती।

नरेन्द्रनाथ हर्बट स्पेंसर और जोन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे। वे शेली के सर्वात्मवाद और वर्ड्सवर्थ की दार्शनिकता के प्रेमी एवं हेगेल के वस्तुनिष्ठात्मक आदर्शवाद पर अनुरक्त थे। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का प्रभाव, उस समय, साहित्य के माध्यम से भारत में जोरों से फैल रहा था एवं नरेन्द्रनाथ इसमें विश्वास करते थे। यूरोपीय संस्कारों का उनमें पूरा जोर था और कहते हैं, अपने छात्र जीवन में वे केवल शंकावादी ही नहीं, प्रचण्ड नास्तिक के समान बातें करते थे। किन्तु, बौद्धिकता के इन समस्त उद्वेगों के बीच उनके भीतर वह जिज्ञासा काम कर रही थी, जो पैगम्बरों में उठा करती थी, अवतारों और धर्म-संस्थापकों में जगा करती है, जो सभी प्रश्नों से ऊपर उठकर, यह समझना चाहती है कि सृष्टि है क्या? जीव सान्त है या अनन्त? जन्म के पूर्व हम कहाँ थे? मृत्यु के पश्चात् हम कहाँ जाएँगे? सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है या इसके भीतर कोई नियम काम कर रहा है? यदि हाँ, तो उस नियम का निर्माता कौन है? यही जिज्ञासा आरम्भ में उन्हें ब्रह्म-समाज की ओर ले गई और वहाँ से निराश होने पर यही जिज्ञासा उन्हें दक्षिणेश्वर ले आई, जहाँ रामकृष्ण अपनी वैयक्तिक साधना में लीन थे। किन्तु, जहाँ से यह संवाद सारे बंगाल में फैल रहा था कि भारत में धर्म फिर से जीता-जागता रूप लेकर अवतरित हुआ है, जिसके प्रमाण रामकृष्ण हैं।

रामकृष्ण हिन्दू-धर्म की समग्रता के प्रतिनिधि थे। हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ईसाइयों और बुद्धिवादियों ने कसकर निन्दा की थी। राममोहन राय और दयानन्द जब हिन्दुत्व की ओर से बोलने को खड़े हुए, तब उन्हें भी हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ओर से बोलने का साहस नहीं हुआ। क्योंकि धर्म के इन रूपों की ओर से ऐसा तर्क ही नहीं दिया जा सकता था जो बुद्धिवादियों को मान्य हो। निदान हिन्दुत्व ने रामकृष्ण में अपना जीवित रूप प्रकट किया और आलोचकों से यह कहा कि जिसे तुम बुद्धि से नहीं समझ सकते, उसे आँखों से देख लो। अतएव, रामकृष्ण धर्म के उन रूपों के प्रतिनिधि हुए, जिन पर ईसाई प्रचारकों का कोप था तथा जो बुद्धिवादी हिन्दुओं की भी समझ में नहीं आते थे। किन्तु, नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे। वे यूरोपीय विचारधाराओं के मूर्तिमान रूप थे एवं उनके भीतर वे सारे संस्कार वर्तमान थे, जिनके कारण अँग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू भी हिन्दू-धर्म की आलोचना करने लगे थे। वस्तुतः नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का मिलन था। इन दो मूर्तियों में से एक तो पुराणों के सत्यों में लिपटी हुई थी, धर्म के बाह्याचारों को भी सत्य मानकर उन्हें कायम रखना चाहती थी तथा प्राचीन भारत की सभी साधनाओं को सत्य बतलाना चाहती थी और दूसरी तर्क के उच्छल एवं धर्म के बाह्य बन्धनों को तोड़कर प्राचीनता से बाहर निकल जाने को बेचैन थी। रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से कुछ भी नहीं लिया, हाँ, अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्य-दर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ में उतारकर उन्होंने उन्हें विवेकानन्द अवश्य बना दिया। कदाचित्, रामकृष्ण और विवेकानन्द के मिलन में पूर्वी और पश्चिमी जगतों का ही मिलन सम्पन्न हुआ है और, शायद, जिस दिन पश्चिमी जगत् के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक संस्कारों को आत्मसात् करेंगे, भूमण्डल का कल्याण उसी दिन होगा और उसी दिन विश्व भर के शान्ति-साधकों के सपने साकार होंगे। किपलिंग ने जो यह बात कही है कि पूर्व, पूर्व और पश्चिम, पश्चिम है तथा दोनों का मिलन नहीं होगा, वह असत्य है। सत्य तो यही दीखता है कि पश्चिम, पूर्व से मिलेगा और और ठीक उसी प्रकार मिलेगा, जैसे नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिले थे।

उपनिषदों के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियों का देश रहा था। एक दृष्टि से देखिए तो निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म के भीतर की राजनीति है, जैसे साहित्य की राजनीति क्लासिक और रोमांटिक का विवाद है। किन्तु, राजनीति यह केवल पण्डितों की है। पण्डित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं, बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को निःसार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मानकर उसका उपभोग करते हैं। किन्तु इस दगाबाजी से जनसाधारण मारा जाता है। जनता के पास छल-प्रपंच और दाँव-पेंच इतने नहीं होते, जितने पण्डितों के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पण्डित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते हैं, जनता के कर्म बहुत-कम उसी के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दू प्रवृत्तिमार्गी थे। उनके ऋषि भी गृहस्थ और धर्माचार्य भी बाल-बच्चों वाले होते थे। जो लोग वैदिक मंत्रों के द्रश थे, ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता और व्याख्याता थे, वे भी खेतों में काम करते थे तथा गऊओं का पालन-पोषण करके परिवार का पालन एवं अतिथियों की सेवा करते थे। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नहीं होता। उस समय हलवाहे और विद्वान—दोनों एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे ही कर्मठ लोगों का समाज था, जब हाथ और मस्तिष्क में कोई बैर नहीं था। बाद में पण्डितों ने सिद्धान्त निकाला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष पाने के लिए कामिनी और कंचन का त्याग आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दरुस्त नौजवान संन्यासी होने लगे और नारियों की मर्यादा समाज में घटने लगी। फिर भी, वैदिक संस्कार अभी निःशेष नहीं हुआ था, इसीलिए उपनिषदों में कहीं-कहीं हम यह उपदेश भी देखते हैं कि भोग निरे अनादर की वस्तु नहीं है,

यदि वह त्याग के साथ किया जाए (तेन त्यक्तेन भुंजीथाः)। कबीर, नानक और उधर वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसा कर संसार को सम्मान अवश्य दिया, किन्तु, जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमें भी नहीं था। कण्ठी, माला, आरती और घण्टे में मग्न हिन्दुओं को यह बात अखरी ही नहीं कि उनका देश पराधीन है। अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं।

जब स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ, उन्हें अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखाई पड़े। सबसे बड़ा काम धर्म की पुनःस्थापना का काम था। बुद्धिवादी मनुष्यों की धर्म पर से श्रद्धा, केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत, सभी देशों में हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाए, जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो मनुष्य की इहलौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले। दूसरा काम हिन्दू-धर्म पर कम-से-कम हिन्दुओं की श्रद्धा को जमाये रखना था। किन्तु, हिन्दू यूरोप के प्रभाव में आ चुके थे तथा अपने धर्म और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार नहीं थे, जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशंसा नहीं करें। और तीसरा काम भारतवासियों में आत्मगौरव की भावना को प्रेरित करना था, उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।

स्वामी विवेकानन्द का देहान्त केवल ३९ वर्ष की आयु में हो गया, किन्तु, इस छोटी-सी अवधि में ही उन्होंने उपर्युक्त तीनों कार्य सम्पन्न कर दिए। राममोहन राय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशवसेन, दयानन्द, रानाडे, एनीबेसेन्ट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें से अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पर्श संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिस में धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब के सब समाहित होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, यदि कोई भारत को समझना चाहता है, तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।" अरविन्द के वचन हैं, पश्चिमी जगत् में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह विश्व-विजय करके दम लेगा।" और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा है कि स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था। नई पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्गारों से लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामी जी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु, जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता, आप-से-आप उत्पन्न हो गयी।"

ये सारी प्रशंसाएँ सही हैं। इनमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामी जी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। पर राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है। उसका एक लघु अंग मात्र है। स्वामी जी ने अपनी वाणी व कर्तव्य से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। हमारे धार्मिक ग्रंथ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् है; हमारी संस्कृत विश्व की सबसे प्राचीन भाषा और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत, हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे कुछ अधिक है। स्वामी जी की वाणी से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने या लज्जित होने की जरूरत नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।

सन् १८९३ ई॰ में शिकागो (अमरीका) में अखिल विश्व के धर्मों का एक महासम्मेलन हुआ था। स्वामी विवेकानन्द के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे इस सम्मेलन में अवश्य जाएँगे और अनेक प्रचण्ड बाधाओं के होते हुए भी वे इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। और हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिए यह अच्छा हुआ कि स्वामी जी इस सम्मेलन में जा सके क्योंकि इस सम्मेलन में हिन्दुत्व के पक्ष में ऐसा ऊँचा प्रचार हुआ, जैसा न तो कभी पहले हुआ था और न उनके बाद से आज तक हो पाया है।...

स्वामी जी के विदेश-गमन के कई उद्देश्य थे। एक तो वे भारतवासियों के इस अन्धविश्वास को तोड़ना चाहते थे कि समुद्र-यात्रा पाप है तथा विदेशियों के हाथ का अन्न और जल ग्रहण करने से जाति चली जाती है। दूसरे, भारत के अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर आप भले ही नहीं करें, किन्तु, उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। उनका यह अटल विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों का प्रचार यदि पश्चिम के उन्नत देशों में किया जाय, तो इससे वहाँ के लोग अवश्य प्रभावित होंगे तथा पृथ्वी पर एक नई

कल्पना, एक नये जीवन का सूत्रपात होगा। स्वामी रामकृष्ण ने साधनापूर्वक यह जान लिया था कि विश्व के सभी धर्म, एक ही धर्म के विभिन्न अंग है एवं सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगना ही चाहिए। अजब नहीं कि स्वामी जी इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी शिकागो के धार्मिक सम्मेलन में जाने को आतुर हो उठे हों।

शिकागो-सम्मेलन में स्वामी जी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और जिस वाग्मिता का परिचय दिया, उससे वहाँ के सभी लोग मंत्रमुग्ध और पहले ही दिन से उनके भक्त हो गए। प्रथम दिन तो स्वामी जी को सबसे अन्त में बोलने का अवसर इसलिए दिया गया था कि उनका कोई समर्थक नहीं था, उन्हें कोई जानता या पहचानता नहीं था। किंतु, उसके बाद सम्मेलन में जो उनके दस-बारह भाषण हुए, वे भाषण भी उन्होंने सभा के अन्त में ही दिए, क्योंकि सारी जनता उन्हीं का भाषण सुनने को अन्त तक बैठी रहती थी। उनके भाषणों पर टिप्पणी करते हुए 'द न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा कि धर्मों की पार्लियामेंट में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म-प्रचारक भेजना कितनी बेवकूफी की बात है।"

शिकागो-सम्मेलन से उत्साहित होकर स्वामी जी अमेरिका और इंग्लैंड में तीन साल तक रह गए और इस अवधि में भाषणों, वार्तालापों, लेखों, कविताओं, विवादों और वक्तव्यों के द्वारा उन्होंने हिन्दू धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। प्राय: डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक संसार में हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उस पर अकेले स्वामी जी के कर्तृत्व ने रोक लगा दी और जब भारतवासियों ने यह सुना कि सारा पश्चिमी जगत् स्वामी जी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुनकर गद्‌गद हो रहा है तब हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के गौरव का अनुभव कुछ तीव्रता से करने लगे। अँग्रेजी पढ़कर बहके हुए हिन्दू बुद्धिवादियों को समझाना बहुत कठिन कार्य था। किन्तु, जब उन्होंने देखा कि स्वयं यूरोप और अमेरिका के नर-नारी स्वामी जी के शिष्य बनकर हिन्दुत्व की सेवा में लगते जा रहे हैं, तब उनके भीतर भी ग्लानि की भावना जगी और बकवास छोड़कर वे भी स्थिर हो गए। इस प्रकार हिन्दुत्व को लीलने के लिए, अँग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया। हिन्दू-जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय, जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।

स्वामी जी की व्यावहारिकता यह थी कि यूरोप तथा अमेरिका को उन्होंने संयम और त्याग का महत्व समझाया था, किन्तु, भारतवासियों का ध्यान उन्होंने भारतीय समाज की आर्थिक दुरावस्था की ओर आकृष्ट किया एवं धर्म को उनके सामने ऐसा बनाकर रखा जिससे मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़े। अमेरिका की उच्छल जीवन-शक्ति, वहाँ की स्वच्छता, वहाँ का संगठन, वहाँ की सौंदर्य-भावना और वहाँ के वैज्ञानिक साधनों का उपयोग, ये बातें स्वामी जी को बहुत पसन्द आई थीं, किन्तु यूरोपीय सभ्यता के जो दोष हैं, वे भी उनकी आँखों से ओझल नहीं रहे। बोस्टन में दिए गए अपने एक भाषण में स्वामी जी ने इन दोषों का ऐसा पर्दाफाश किया कि वहाँ की जनता उनसे रुष्ट हो गयी। फिर भी स्वामी जी ने अमेरिकी और यूरोपीय लोगों को उनकी सभ्यता का दोष दिखाना बन्द नहीं किया। यूरोप और अमेरिका में जो जातीय अहंकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड़ है, धर्म और संस्कृति के मामले में वहाँ जो भयानक असहिष्णुता है, गरीबों के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनीतिक चालबाजियाँ और हिंसा के जो उद्वेग हैं, उन्हें स्वामी जी यूरोपीय सभ्यता के पाप कहते थे और पश्चिमी देशों के श्रोताओं के सामने वे इनका खुलकर उल्लेख करते थे। व्यक्ति और समाज, दोनों की रक्षा व शान्ति के लिए स्वामी जी धर्म को जरूरी मानते थे, अत: यूरोप को धर्म से विमुख होते देख कर उन्हें चिन्ता हुई। उनका विचार था कि धर्महीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश वैसे ही अवश्यम्भावी है, जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं। उन्होंने कई बार चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है, जिसमें किसी भी क्षण विस्फोट हो सकता है।

रूढ़ियों, आडम्बरों और बाह्याचारों से ऊपर उठकर स्वामी जी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की। धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में। वह केवल अनुभूति में निवास करता है।" धर्म अन्धविश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्त्व है।" मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, उन्नत जीवन की कामना है, ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की चाह है। पूर्णता, ज्ञान और आनन्द है, ये निचले स्तर पर नहीं हैं; उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिए। जहाँ ऊँचा स्तर आता है, वहीं धर्म का आरम्भ होता है। जीवन का स्तर जहाँ हीन है, इन्द्रियों का आनन्द वहीं अत्यन्त प्रखर होता है। खाने में जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह मनुष्य के भोजन के समय नहीं दिखायी

देता। कुत्तों और भेड़ियों का सारा आनन्द उनकी इन्द्रियों में केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशों के निचले स्तर के मनुष्य इन्द्रियों के आनन्द में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं। किन्तु, जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है। किन्तु आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, अतएव, इस स्तर का आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रचुर होता है।" यूरोप और अमेरिका के निवासियों पर स्वामी जी ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की सफलता उसकी आधिभौतिक समृद्धि अथवा भौतिक उपलब्धियों पर निर्भर नहीं करके, आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतएव, मनुष्य को चाहिए कि पहले वह पवित्रता, भक्ति, विनयशीलता, सच्चाई, नि:स्वार्थता और प्रेम का विकास करे, तथा बाद को अन्य गुणों का।

यूरोप और अमेरिका में भोग प्रचुर परिमाण में उपलब्ध था। इसीलिए स्वामी जी ने वहाँ के निवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु, भारत में दरिद्रता का साम्राज्य था, निर्धनता का नग्न वास था एवं यहाँ के लोग धनाभाव के कारण भी जीवन के ऊँचे गुणों से वियुक्त हो गए थे। अत: भारतवासियों को उन्होंने जो उपदेश दिया वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत, उन्होंने यहाँ के लोगों में असन्तोष जगाना चाहा और उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की। शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में भी स्वामी जी ने ईसाईयों के समक्ष निर्भीक गर्जना की थी, तुम ईसाई लोग मूर्तिपूजकों को आत्मा के बचाव के लिए भारत में धर्म-प्रचारक भेजने को बहुत ही आतुर दिखते हो, किन्तु, इन मूर्तिपूजकों के शरीर को क्षुधा की ज्वाला से बचाने के लिए तुम क्या कर रहे हो? भयानक दुर्भिक्षों के समय लाखों भारतवासी निराहार मर रहे थे, किन्तु, तुम ईसाइयों से कुछ भी नहीं बन पड़ा। भारत की भूमि पर तुम गिरजे बनवाते जा रहे हो, किन्तु, तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि पूर्वी जगत् की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। धर्म एशिया वालों के पास अब भी बहुत है। वे दूसरों से धर्म का पाठ नहीं पढ़ना चाहते। जो जाति भूख से तड़प रही है, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ में दर्शन और धर्म-ग्रंथ रखना उसका मजाक उड़ाना है।"

कहते हैं, एक बार कोई नवयुवक स्वामी जी के पास गया और उनसे बोला, स्वामी जी! मुझे गीता समझा दीजिये।" स्वामी जी ने सच्चे मन से कहा, गीता समझने का वास्तविक स्थान फुटबाल का मैदान है। जाओ, घण्टे भर खेल-कूद लो। गीता तुम स्वयं समझ जाओगे।"

स्वामी जी संसार घूम कर देख चुके थे कि नई मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखाई दिए। अत: भारत में उनके अधिकांश उपदेश शारीरिक उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिए गए। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमल-वपु सन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे। न उनका यही उद्देश्य था कि यहाँ के लोग अनिवार्यत: शाकभोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का दंश सहते हुए मौन रहें। अपने एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि मांस-मछली खाना चाहिए या नहीं, स्वामी जी ने कहा, हाँ, निन्दा का भय माने बिना मांस-मछली तुम जी भर खा सकते हो। शाक-पात खाकर जीने वाले आमाशय के रोगी साधुओं से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्त्व के नहीं, भयानक तमस् के हैं और तमस् मृत्यु की कालिमा का नाम है। आकृति में दमकती हुई कान्ति, हृदय में अदम्य उत्साह, कर्म-चेष्टा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्त्व की पहचान है। इसके विपरीत तमस् का लक्षण आलस्य और शैथिल्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है।... कौन सा भोजन शुद्ध और कौन सा अशुद्ध है, क्या इसी विचिकित्सा में जीवन बिता दोगे या इन्द्रिय-निग्रह का भी कुछ ध्यान है? हमारा लक्ष्य इन्द्रियों का निग्रह है, मन को वश में लाना है। अच्छे और बुरे का भेद, शुद्ध और अशुद्ध का विचार इन्द्रिय-निग्रह नहीं, उस ध्येय के सहायक मात्र हैं।"

स्वामी जी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और विवेक प्रच्छन्न है, हमें उसे बाहर लाना है। मैं भारत में लोहे की मांस-पेशियाँ और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शंपाओं एवं वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज-इनके समन्वय से भारत की नई मानवता का निर्माण होना चाहिए।" मृत्यु का ध्यान करो, प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय बस में आएगा।... सम्भव हो तो जीवन को छोड़कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र शिव से एकाकार हो जाओ।"

संस्कृति का ध्यान करते-करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा सोपान उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जागृत करना था। स्वामी जी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी धर्म से निकालीं एवं रुद्र-शिव तथा महाकाली को लोगों का आराध्य बना दिया।

स्वामी जी की अहिंसा और वैराग्य-भावना में भी क्षात्र-धर्म का स्पर्श था। जिन विचारों, जिन धर्मों और आचारों से कायरता की बुद्धि एवं पौरुष का दलन होता है, स्वामी जी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। इसीलिए, बुद्ध की अहिंसा की स्वामी जी ने कभी भी खुलकर प्रशंसा नहीं की, बल्कि एक बार तो उन्होंने कह भी दिया कि बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे 'भयानक दुर्बलता की छाया विद्यमान है।' स्वामी जी न तो धर्मयुद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति थी कि क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौड़ना ही चाहिए। किन्तु, हिंसा को, कदाचित् वे सभी स्थितियों में त्याज्य नहीं मानते थे। एक बार उनसे किसी भक्त ने पूछा—महाराज! कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि किसी दुर्बल का गला टीप रहा हो, तो हमें क्या करना चाहिए?" स्वामी जी ने तड़ाक से उत्तर दिया, क्यों? बदले में उस शक्तिशाली की गर्दन टीप दो। क्षमा भी कमजोर होने पर अक्षम्य है, असत्य है, अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम धर्म है। क्षमा तभी करनी चाहिए, जब तुम्हारी भुजा में विजय-शक्ति वर्तमान हो।"

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन उत्तर विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और सन्त थे, जिनकी अनुभूति में पुराने धर्म नवीन रूप ग्रहण करते हैं, प्राचीन दर्शन की परतें छूटकर गिर जाती हैं और जंग लगे विचार धुलकर चमकने लगते हैं। वे इस बात को कब बर्दाश्त कर सकते थे कि परम्पराएँ भारतवासियों की उन्नति का मार्ग रोकें, अथवा धर्म उन्हें निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे? उपनिषदों का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक हैं, क्योंकि वे सब की सब एक ही परब्रह्म के असंख्य प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इस सिद्धान्त से स्वामी जी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते हैं वह सभी जीवों के योग से अधिक नहीं है। अतएव, सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें। जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो, तब हवन में घृत जलाना अमानुषिक कर्म है। संसार के अगणित नर-नारियों में परमात्मा भासमान है।" तथा मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है, जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं के आँसू पोंछने में असमर्थ है, जो माँ-बाप से हीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता।" केश नामक संथाल को भोजन कराके उन्होंने कहा था, तुम भगवान हो। आज मुझे सन्तोष है कि भगवान ने मेरे समक्ष भोजन किया।" वे कहते थे, वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।" निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखाने वाले दर्शनों के स्वामी जी प्रचण्ड विरोधी थे। इसी प्रकार, धनियों के प्रति भी उनमें आदर का भाव नहीं था। भारत की एक मात्र आशा उसकी जनता है। ऊँची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता, दोनों ही दृष्टियों से मर चुके हैं।"

स्वामी जी स्वयं संन्यासी थे। संन्यासियों का एक महत् मठ भी उन्होंने ही खड़ा किया एवं समाजसेवी युवकों को वे अविवाहित रहने का उपदेश देते थे। किन्तु, गृहस्थों को वे हीन नहीं मानते थे। उलटे, उनका विचार था कि गृहस्थ भी ऊँचा और संन्यासी भी नीचा हो सकता है। मैं संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नहीं करता। संन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमें भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता और चरित्र की पवित्रता के दर्शन होते हैं, मेरा मस्तक उसी के सामने झुक जाता है।"

नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। वे कहते थे, ईसा अपूर्ण थे क्योंकि जिन बातों में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नहीं उतार सके। उनकी अपूर्णता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने नारियों को नरों के समकक्ष नहीं माना। असल में उन्हें यहूदी संस्कार जकड़े हुए था, इसीलिए, वे किसी भी नारी को अपनी शिष्या नहीं बना सके। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे, क्योंकि उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया।" एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, महाराज! बौद्ध मठों में भिक्षुणियाँ बहुत रहती थीं। इसी लिए तो देश में अनाचार फैल गया।" स्वामी जी ने इस आलोचना का उत्तर नहीं दिया, किन्तु, वे बोले, पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सब में एक ही आत्मा का वास है। तुम लोग नारियों की सदैव निन्दा ही करते रहते हो, किन्तु कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है? स्मृतियाँ रचकर तथा गुलामी की कड़ियाँ गढ़कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बना रख छोड़ दिया। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने इन्हें और नहीं उठाया तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है।... संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

जहाँ तक स्त्री-जाति की वेदनाओं और पीड़ाओं का प्रश्न है, स्वामी जी को भारत और यूरोप, दोनों ही महादेश आँसुओं से सिक्त दिखाई पड़े थे। स्वामी जी ने कहा था, विपत्तियाँ भारत में भी हैं और पश्चिमी देशों में भी। यहाँ विधवाएँ रोती हैं, वहाँ कुमारियाँ।"

स्वामी जी हिन्दुत्व की शुद्धि के लिए उठे थे तथा उनका प्रधान क्षेत्र धर्म था। किन्तु, धर्म और संस्कृति, ये दोनों परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते चलते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय पतन के कई कारण आर्थिक और राजनीतिक थे। किन्तु, बहुत से

कारण ऐसे भी थे जिनका धर्म से सम्बन्ध था। अतः स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार भारतीय समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर करना आरम्भ किया और इस प्रक्रिया में उन्होंने कड़ी-से-कड़ी बातें भी बड़ी ही निर्भीकता से कह दीं। शक्ति का उपयोग केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिए। जब उससे पाप का समर्थन किया जाता है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगों से ब्राह्मण भारतीय संस्कृति का थातीदार रहा है। अब उसे इस संस्कृति को सब के पास विकीर्ण कर देना चाहिए। उसने इस संस्कृति को जनता में जाने से रोक रखा, इसीलिए, भारत पर मुसलमानों का आक्रमण संभाव्य हो सका। ब्राह्मण ने संस्कृति के भंडार पर ताला लगा रखा, जन-साधारण को उसमें से कुछ भी लेने नहीं दिया, इसीलिए हजारों साल तक जो भी जातियाँ भारत आ पड़ीं, हम उनके गुलाम होते गए। हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है, उसे जन-साधारण के कब्जे में जाने दो। और चूँकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसीलिए प्रायश्चित भी सबसे पहले उसी को करना है। साँप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही साँप आकर फिर से अपना जहर चूस ले। भारतीय समाज को ब्राह्मण-रूपी सर्प ने डसा है। यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले, तो यह समाज अवश्य जी उठेगा।"

ऊँची और तथाकथित नीची जातियों के बीच सामाजिक पद-प्रतिष्ठा को लेकर जो संघर्ष है, स्वामी जी ने उससे पैदा होने वाले खतरों पर भी विचार किया था। इस संबंध में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियों को संतोष होता है, तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओं में यह घोषणा कर दें कि हम ब्राह्मण हैं। इससे भारत को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी। एक तो इस देश में जातियों का भेद आप-से-आप समाप्त हो जाएगा, दूसरे, सभी वर्ण के लोग ब्राह्मण संस्कृति को स्वीकार करके आज के सांस्कृतिक धरातल से स्वयमेव ऊपर उठ जाएँगे। हाँ, स्वामी जी का यह भी विचार था कि रुपये चाहे जिस विद्या से भी प्राप्त हो जाएँ, किन्तु, सामाजिक प्रतिष्ठा भारतवर्ष में अब भी संस्कृत भाषा के ज्ञान से मिलती है। अतएव, जो भी भारतवासी ब्राह्मण की प्रतिष्ठा वाला पद प्राप्त करना चाहता है, उसे संस्कृत में दक्षता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय एकता का महत्व स्वामी जी ने जनता के समक्ष अत्यन्त सुस्पश रूप में रखा। अथर्ववेद में एक मंत्र है, जिसका अर्थ होता है कि मन से एक बनो, विचार से एक बनो। प्राचीन काल में देवताओं का मन एक हुआ, तभी से वे नैवेद्य के अधिकारी रहे हैं। मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिए करते हैं कि देवताओं का मन एक है। मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है। किन्तु, द्रविड़ और आर्य, ब्राह्मण और अब्राह्मण—इन तुच्छ विवादों में पड़कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे, तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जाएगी। तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर पड़ता जाएगा। स्मरण रखो कि शक्ति संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। जब तक महान् कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियों का संचय नहीं करते, जब तक एक मन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य में नहीं लगते, तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं है। प्रत्येक चीनी अपने ही ढंग पर सोचता है, किन्तु मुट्ठी भर जापानियों का मन एक है। इसके जो परिणाम निकले हैं, उन्हें तुम भली-भाँति जानते हो। विश्व के समग्र इतिहास में यही होता आया है।"

व्यावहारिक नेता के समान स्वामी जी ने भारतीयों के चरित्र के एक भीषण दोष पर अपनी उँगली रखी और काफी जोर देकर कहा, हमारे देशवासियों में से कोई व्यक्ति जब ऊपर उठने की चेष्टा करता है, तब हम सब लोग उसे नीचे घसीटना चाहते हैं, किन्तु यदि कोई विदेशी आकर हमें ठोकर मारता है, तो हम समझते हैं, यह ठीक है। हमें इन तुच्छताओं की आदत पड़ गई है। लेकिन, अब गुलामों को अपना मालिक आप बनना है। इसलिए, दास-भावना को छोड़ दो। अगले पचास वर्षों तक भारतमाता को छोड़कर हमें और किसी का ध्यान नहीं करना है। भारतमाता को छोड़कर और सभी देवता झूठे हैं। उन्हें अपने मन से निकालकर फेंक दो। यही देवी, यही हमारी जाति वास्तविक देवी है। सर्वत्र उसके हाथ दिखायी पड़ते हैं, सर्वत्र उसके पाँव विराजमान हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिबिम्ब छाया हुआ है। बाकी जितने देवता हैं, नींद में है। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसे छोड़कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे?"

धर्म-साधना के लोभ में जीवन से भागकर गुफा में नाक-कान दबाकर प्राणायाम करने की परम्परा की भारत में बड़ी महिमा थी। स्वामी विवेकानन्द ने इस परम्परा की महिमा एक झटके में उड़ा दी। आधा मील की खाई तो हम से पार नहीं की जाती, मगर, हनुमान के समान हम समग्र सिन्धु को लाँघ जाना चाहते हैं। यह होने वाली बात नहीं है। हर आदमी योगी बने, हर आदमी समाधि में चला जाए, यह गलत बात है। यह असंभव है, यह अकरणीय है। दिन भर कर्मसंकुल विश्व के साथ मिलन और संघर्ष तथा संध्या समय बैठकर प्राणायाम! क्या यह इतना सरल कार्य है? तुमने तीन बार नाक बजायी है, तीन बार नासिका से भीतर की वायु को बाहर किया है, तो क्या इतने से ही ऋषिगण आकाश से होकर तुम्हारे पास चले आएँगे? क्या यह भी कोई मजाक है? ये सारी बेवकूफी की बातें हैं। जिस चीज की जरूरत है वह है चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धि कैसे होगी? सबसे पहले पूजा विराट् की होनी

चाहिए, उन असंख्य मानवों की जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं। संसार में जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु हैं, सभी परमात्मा हैं, सभी परब्रह्म के रूप हैं और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिए। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा और विवाद करने के बदले तुम परस्पर एक-दूसरे की अर्चना करो, एक-दूसरे से प्रेम रखो। हम जानते हैं कि किन कर्मों ने हमारा सर्वनाश किया, किन्तु फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं।"

गांधी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन् और जवाहरलाल में हम इस आशा को गतिशील पाते हैं कि भारत के पास जो सन्देश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव है, उससे सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। एशिया साधनहीन और दु:खी, किन्तु यूरोप समृद्ध एवं असन्तुष्ट है। एशिया उच्च जीवन की कामना लिए अनेक दुर्गतियों को झेलता आ रहा है। यूरोप ने दुर्गतियों पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु उच्च जीवन की राह उसे मानो मिली ही नहीं। विश्व का कल्याण इसमें है कि एशिया यूरोप की आधिभौतिकता को ग्रहण करे और इस प्रकार ग्रहण करे कि उसकी मानसिकता को आँच नहीं आए। इसी प्रकार यूरोप के दुर्दान्त शरीर के भीतर जो आत्मा सोती जा रही है, उसे जगकर सचेष्ट होना चाहिए। यूरोप का यह आत्मिक जागरण एशिया की संगति से आएगा। स्वामी जी की दृष्टि इस आवश्यकता पर भी पड़ी थी और जब सारा भारतवर्ष यूरोप के चाकचिक्य से मोहित हो रहा था, तब उन्होंने घोषणा की, जीवन का धर्म आदान-प्रदान है। क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिमवालों के चरणों के पास बैठकर सब कुछ, यहाँ तक कि धर्म भी, सीखते रहें! क्या हम केवल लेते ही रहेंगे? देना हमें भी नहीं है? पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किन्तु हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व-सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख रही है। वह भारत की उस आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्रतीक्षा में है, जो पतन, गन्दगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है।... इसलिए संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं होती और समानता वहाँ आएगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य?"

औसत हिन्दू धीर और अनुग्र होता है। इस धीरज और अनुग्रता को स्वामी जी भावी सभ्यता के लिए वरदान समझते थे। उनका विचार था कि संसार पर धीर और अनुग्र हिन्दू-जाति का जितना आभार है, उतना और किसी जाति का नहीं। हिन्दू-जाति की महिमा राजनैतिक महत्ता अथवा सामरिक शक्ति के कारण नहीं है। राजनैतिक महत्ता और सामरिक शक्ति का अर्जन हमारी जाति का ध्येय न तो पहले था, न कभी आगे होने वाला है।" हिन्दू का मस्तिष्क शीतल और शान्त होता है। मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति में हिन्दुओं को अपना अंशदान इस शीतल-शान्त मस्तिष्क के द्वारा ही प्रदान करना होगा।

स्वामी जी के समय से ही यह प्रत्यक्ष हो गया था कि भारत यूरोप के समान राजनैतिक शक्ति का अगार होना चाहता है। इसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी स्वामी जी ने यह चेतावनी दी थी कि भारत की रीढ़ धर्म है। वह दिन बुरा होगा, जब यह देश अपनी आध्यात्मिक रीढ़ को हटाकर उसकी जगह पर एक राजनैतिक रीढ़ बैठा लेगा।

भारत को स्वामी जी ने यह भी सुझाया था कि भारत यूरोप में गरीबी और पाप सहभागी माने जाते हैं। किंतु, अपने देश में गरीबी पाप नहीं है। उलटे, इस देश के सबसे बड़े लोग गरीबी की पोशाक में रहते थे।

हिन्दुत्व का प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनके गुरु परमहंस रामकृष्ण ने तो छ: महीनों तक विधिवत् मुसलमान होकर इस्लाम की साधना भी की थी। इस संस्कार के कारण इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है, यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु भारत ने भी अपने विजेताओं में से प्रत्येक पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नहीं हैं। शिक्षित मुसलमान, प्राय: सूफी होते हैं जिनके विश्वास हिन्दुओं से भिन्न नहीं होते। इस्लामी संस्कृति के भीतर भी हिन्दू विचार प्रविष्ट हो गए हैं। विख्यात मुगल सम्राट् अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत, काल-क्रम में इंग्लैंड पर भी भारत का प्रभाव पड़ेगा।"

सिस्टर निवेदिता की (स्वामी जी विषयक अँग्रेजी) पुस्तक में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामी जी तीन-चार दिनों की एकान्त समाधि से लौटकर निवेदिता से बोले, मेरे मन में यह सोचकर बराबर क्षोभ उठता था कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को क्यों तोड़ा, उनके देवी-देवताओं की मूर्तियों को क्यों भ्रष्ट किया। किन्तु आज माता (काली) ने मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, 'अपनी मूर्तियों को मैं कायम रखूँ या तुड़वा दूँ, यह मेरी इच्छा है। इन बातों पर सोच-सोचकर तू क्यों दु:खी होता है?' "

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामी जी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यत: वेदान्त ज्ञान का

विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप से आ जाती है; किन्तु इस्लाम मुख्यत: भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मुहम्मद का पंथ देह-दंडन, संन्यास और वैराग्य को महत्व नहीं देता। किन्तु स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त इस्लाम से कोई विरोध नहीं रखता था। इसलिए स्वामी जी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किए बिना वेदान्त के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। सन् १८९८ ई॰ में उन्होंने एक चिट्ठी में यह भी लिखा था—हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम मिलकर एक हो जाएँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"

भारत के विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरम्भ राममोहन राय की अनुभूतियों में हुआ था एवं उन्होंने हिन्दू धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की, वह विश्वधर्म की भूमिका से तनिक भी कम नहीं थी। मुक्त चिन्तन, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रखकर भी धर्मच्युत नहीं होने की योग्यता—हिन्दू धर्म के ये पुराने लक्षण रहे हैं। हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, साकारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है और बुद्ध का भी, उसने वेदों को अपौरुषेय भी माना है और सादि भी। विश्वासों में यह जो प्रचंड भिन्नता है, उससे हिन्दू का हिन्दुत्व दूषित नहीं होता। हिन्दू जन्म से ही उदार होता है एवं किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हाँककर पहुँचाने में वह विश्वास नहीं करता। जब थियोसोफिस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे, तब हिन्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया। और रामकृष्ण ने तो बारी-बारी से मुसलमान और क्रिस्तान होकर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर लगा दी कि संसार के सभी धर्म एक हैं। उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव मानना नितान्त अज्ञानता की बात है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं। भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हैं उनके विषय में स्वामी जी का कहना था कि हमें इन धर्मों को केवल बर्दाश्त ही नहीं करना है, ये सभी धर्म हमारे अपने धर्म हैं—इस भाव से उन सबको हमें अपना लेना है।

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाए, इसका समाधान नहीं मिलता। प्राचीन काल में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, संसार भर के मनुष्यों को उसी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म के लोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे, जिनमें से इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकों ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। शिकागो में जो विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसका भी एक आशय यह था कि संसार में सर्वोत्तम धर्म कौन-सा है, इसका निर्णय कर लिया जाए। किन्तु उस सम्मेलन में स्वामी जी ने अपना जो विचार रखा, उससे सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे। उन्होंने कहा, धार्मिक एकता कैसे हो, इस बात की यहाँ काफी विचिकित्सा हुई है। इस सम्बन्ध में मेरा जो अपना मतवाद है, उसे प्रस्तुत करने का साहस मैं नहीं करूँगा। किन्तु इतना कहना आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और बाकी का विनाश है, तो मैं उससे निवेदन करूँगा—'बन्धु! तम्हारी आशा पूरी नहीं होगी।' क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू हो जाएँ? भगवान करे कि ऐसा नहीं हो। क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी हिन्दू और बौद्ध ईसाई हो जाएँ? ईश्वर न करे कि ऐसा हो।... ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू और बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। किन्तु इनमें से प्रत्येक का कर्तवय है कि वह अन्य धर्मों के सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिता की पूर्ण रूप से रक्षा करते हुए उन नियमों के अनुसार अपना विकास खोजें, जो उसके अपने नियम रहे हैं।" अन्यत्र उन्होंने कहा है, आत्मा की भाषा एक है, किन्तु जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है।"

धर्म को स्वामी जी व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध संसार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है, उसका निदान वे यह देते थे कि दोष धर्म का नहीं, धर्म के गलत प्रयोग का है। ठीक वैसे ही जैसे विज्ञान से उठने वाली भीषणताओं का दायित्व विज्ञान पर न होकर, उन लोगों पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते हैं। स्वामी जी का विचार था, धर्म को समाज पर जिस ढंग से लागू किया जाना चाहिए था, उस ढंग से वह लागू नहीं किया गया। हिन्दू अपनी सारी धार्मिक योजनाओं को कार्य के रूप में परिणत करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु यदि कभी भी कोई विश्वधर्म जैसा धर्म उत्पन्न होने वाला है, तो वह हिन्दुत्व के ही समान होगा जो देश और काल में कहीं भी सीमित या आबद्ध नहीं होगा, जो परमात्मा के समान ही अनन्त और निर्बाध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, सन्तों और अपराधियों पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई, न मुसलमानी, प्रत्युत, वह इन सब के योग और सामंजस्य से उत्पन्न होगा।"

विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और भारतीय संकृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतवासियों ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्ज्वल और महान् है कि उसके प्रति गौरव तथा अभिमान होना ही चाहिए। उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करने वाली है। अँग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानन्द के उपदेशों और कर्तृत्व से ही अन्तिम बार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानन्द के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रिया-विमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके और विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्ज्वल आशा संचरित हुई। साहस का सूर्य उदित हो चुका है, भारत का उत्थान अवश्य होगा। किसी में यह दम नहीं कि वह अब भारत को रोक सके। भारत अब फिर से निद्रा में नहीं पड़ेगा। यह भीमाकार देश फिर से अपने पाँव पर खड़ा हो रहा है।"

जब नरेन्द्रनाथ, परमहंस रामकृष्ण की संगति में आए, तो रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा को फौरन पहचान लिया। एक बार परमहंस जी ने कहा था, जिस एक शक्ति के उत्कर्ष के कारण केशवचन्द्र सेन (ब्रह्म-समाज के प्रसिद्ध नेता) जगद्विख्यात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियों का नरेन्द्र में पूर्ण उत्कर्ष है।" स्वयं नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा में रामकृष्ण ने कहा था, प्रभो! मुझे लगता है कि तू पुरातन नारायण ऋषि है और जीवों की दुर्गति का निवारण करने के लिए पुनः शरीर धारण करके आया है।" यह भक्त की परम्परागत भाषा है। किन्तु विवेकानन्द की प्रतिभा लोकोत्तर थी, यह हम भी कह सकते हैं। वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कर चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गांधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए हैं।

□□□

न्यास के सुनहरे पल...

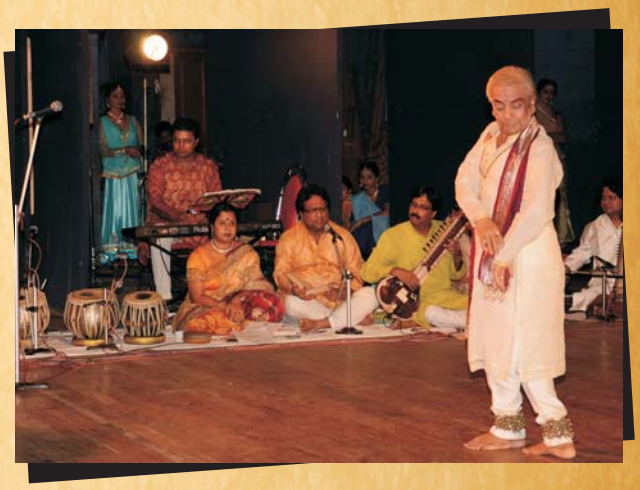

न्यास के सुनहरे पल...

स्वामी विवेकानंद की 150 वां जयंती
के सुअवसर पर
पुस्तक संस्कृति महोत्सव

पुस्तक संस्कृति को जन-जन तक पहुँचाने हेतु
स्वामी विवेकानंद की 150 वीं जयंती
के सुअवसर पर
पुस्तक संस्कृति महोत्सव
09 जून 2013 (रविवार), अपराह्न 4:00 बजे

स्वामी विवेकानन्द के प्रखर विचार...

महात्मा वह है, जिसका हृदय
गरीबों के लिए रोता है,
बाकी सब दुरात्मा है।

हम उस प्रभु के सेवक हैं,
जिसे अज्ञानी लोग
'मनुष्य कहते हैं।

किसी दिन, जब आपके सामने
कोई समस्या ना आये –
तो आप सुनिश्चित हो सकते हैं कि,
आप गलत मार्ग पर चल रहे हैं।

वेदांती मस्तिष्क और
इस्लामी शरीर के संयोग से
जो धर्म खड़ा होगा, वही
भारत की आशा है।

'स्वतंत्रता आत्मा का संगीत है।"

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास
प्रधान कार्यालयः 206, द्वितीय तल, विराट भवन, कॅमर्शियल कम्पलेक्स
मुखर्जी नगर, दिल्ली–110009, टेलीफैक्सः 011–47027661, 65029239
ईमेलः dinkarsmriti@yahoo.co.in